संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांश का मूल्याङ्कन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल्० उपाधि के लिये स्वीकृत तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत अनुदान के अन्तर्गत मुद्रित शोध-प्रबन्ध]

डॉ० (श्रीमती) ज्ञान देवी श्रीवास्तव
एम० ए० (गोल्ड मेडलिस्ट), डी० फिल्०
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शिव निलय
५ जो अलोपीबाग, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७६

मूल्य : ३० रुपये

श्री कमला प्रसाद, शिवनिलय, इलाहाबाद द्वारा प्रक.शित तथा
एकेडमी प्रेस, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

शुभाशंसा

डॉ० श्रीमती ज्ञान देवी श्रीवास्तव का 'संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांशों का मूल्याङ्कन' नामक ग्रन्थ उनके डी० फिल्० शोध-प्रबन्ध का ही मुद्रित रूप है। यत्र-तत्र अपेक्षित परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य किया गया है। श्रीमती ज्ञान देवी के शोध-प्रबन्ध की उनके परीक्षकों द्वारा प्रभूत प्रशंसा एवं उत्कृष्ट संस्तुति की गयी थी। एक परीक्षक ने तो इस अभिप्राय की बात लिखी थी कि जिस गहन ग्रन्थ के विषय में शास्त्रीय चर्चा का प्रसङ्ग उठने पर काशी की पण्डित मण्डली में कँपकपी छूटती थी उस पर ज्ञान देवी श्रीवास्तव ने बड़े अधिकार पूर्ण ढङ्ग से अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म समीक्षात्मक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

डॉ० ज्ञान देवी के शोध-प्रबन्ध के पूर्व ही डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी को इसी विषय पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी और आज तो उनका वह शोध-प्रबन्ध पं० बल्देव उपाध्याय की संस्तुति एवं प्रशंसा से पूर्ण भूमिका के साथ छप भी चुका है। डॉ० चतुर्वेदी का उक्त शोध-प्रबन्ध सामान्यतः प्रशंसनीय होने पर भी सूक्ष्म आलोचना की दृष्टि से अनेक दोषों से परिपूर्ण है। इसीलिये हमने श्रीमती ज्ञान देवी को महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक पर फिर से शोध-कार्य करने के लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप डॉ० ज्ञान देवी ने अपने इस ग्रन्थ में डॉ० चतुर्वेदी के ग्रन्थ के सारे दोषों का परिहार सप्रयास किया है। डॉ० चतुर्वेदी कहीं तो महिमभट्ट तथा उनकी काव्यानुमिति का अनुचित पक्षपात करते दिखाई देते हैं तो कहीं उनकी व्यवस्था तथा शैली को हृदयङ्गम न कर पाने के कारण उन पर अव्यवस्था का दोष मढ़ते दीख पड़ते हैं। इस ग्रन्थ में शोध-कर्त्री ने सम्यक् दृष्टि रखते हुए तटस्थ व्यक्ति की दृष्टि से यथार्थ का आकलन किया है, महिमा द्वारा प्रतिपादित तथा समीक्षकों द्वारा कथित हर तथ्य का स्वयं परीक्षण एवं मनन करके अपने विचार व्यक्त किये हैं। साथ ही डॉ० चतुर्वेदी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति विषयक अनेक भ्रान्त धारणाओं का युक्तिसंगत निराकरण ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

महिमभट्ट के 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' से सम्बद्ध योगदान के मूल्याङ्कन के प्रसङ्ग में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित तथा अन्य आधुनिक विद्वानों द्वारा उसी रूप में गृहीत इस भ्रान्त धारणा का कि 'वस्तु का विशिष्ट रूप ही स्वभावोक्ति अलङ्कार है' युक्तिपूर्वक खण्डन प्रस्तुत किया गया है। महिमा द्वारा व्याख्यात पाँच शब्द-अनौचित्यों (दोषों) के विशद विवेचन के साथ मम्मट के ऊपर उनके प्रभाव तथा ऋण का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। साथ ही जहाँ एक ओर ध्वनिकारिका में महिमा द्वारा उद्भावित दस दोषों के विशद विवेचन के साथ ही उन दोषों का भी परीक्षण किया गया है वहीं काव्यशास्त्र में अनुमितिवाद की असफलता भी ठोस आधारों पर प्रतिपादित की गयी है।

इस प्रकार उक्त वैशिष्ट्यों को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० ज्ञान देवी का यह ग्रन्थ कितना मूल्यवान् है। इसको विद्वज्जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये वह बधाई की पात्र हैं। हमें दृढ़ विश्वास है कि विवित्सु एवं विद्वान् सभी इस मूल्यवान् ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करेंगे।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा डीन कला संकाय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय/

आद्या प्रसाद मिश्र

भूमिका

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज उपलब्ध सामग्री के आधार पर भरतमुनि से आरम्भ होने वाली इस परम्परा के अन्तिम जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं पण्डितराज जगन्नाथ। लगभग दो हजार वर्षों के बीच पल्लवित और विकसित इस परम्परा में प्रत्येक काव्यशास्त्री तथा प्रत्येक चिन्तक का, चाहे वह भामह एवं दण्डी जैसा अलङ्कारवादी आचार्य रहा हो अथवा वामन और कुन्तक जैसा रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी आचार्य रहा हो अथवा आनन्दवर्धन और महिमभट्ट जैसा ध्वनिवादी तथा अनुमितिवादी आचार्य रहा हो, सभी का योगदान है भले ही उस योगदान की विधा भिन्न हो क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' न्यायेन कोई विधिमुखेन योगदान करता है तो कोई निषेधमुखेन। आचार्य महिमभट्ट की गणना द्वितीय कोटि के आचार्यों के अन्तर्गत की जा सकती है। इसलिये कि प्रवृत्त तो वे खण्डनात्मक विधि से ही होते हैं तथापि प्रसङ्गतः (परोक्ष रूप से) संस्कृत काव्यशास्त्र को अपने देयांशों से समृद्ध वे बनाते ही हैं। यह बात और है कि उनके रचनात्मक ढङ्ग से प्रवृत्त होने पर संस्कृत काव्यशास्त्र उनके देयांशों से आज कहीं अधिक समृद्ध हुआ होता।

आचार्य महिमभट्ट संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनिवाद के प्रबल विरोधी तथा अनुमितिवाद के वरिष्ठ संस्थापक के रूप में विख्यात हैं। 'अत्यन्त गहन' ध्वनि-प्रस्थान के खण्डन में प्राप्त होने वाली अपनी असफलता से आचार्य अभिज्ञ न थे ऐसी बात नहीं थी तथापि 'गौरव' के लोभ से प्रेरित होकर उन्होंने इस दुष्कर कार्य का बीणा उठाया और अपने इस उद्देश्य में वे पूर्ण सफल हुये इसलिये कि ध्वनिवादी कोई भी परवर्ती आलोचक या काव्यशास्त्री महिमभट्ट की उपेक्षा न कर सका और बिना किसी अपवाद के सभी ने काव्य में व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता सिद्ध करने के अवसर पर महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन किया। इस प्रकार ध्वनिकार के ध्वनि-सिद्धान्त के साथ ही महिमभट्ट भी काव्यशास्त्रीय जगत में अमर हो गये।

सम्पूर्ण ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के उद्देश्य से महिमभट्ट ने व्यक्ति-विवेक की रचना की। इनसे पूर्व शङ्कुक भरत के रस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में रसानुमितिवाद की प्रस्थापना कर चुके थे तथापि महिमभट्ट का यह प्रयास सर्वथा मौलिक कहा जायगा इसलिये कि इन्होंने न केवल रस की अनुमेयता की सिद्धि के लिये प्रयास किया अपितु सम्पूर्ण काव्य (जिसमें वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि भी आ जाते हैं) को अनुमितिग्राह्य सिद्ध करने का प्रयास किया। सम्भव है कि इसकी प्रेरणा कुछ सीमा तक उन्हें शङ्कुक से मिली हो। यद्यपि अपने इस प्रयास में वे पूर्णतया असफल रहे पर इसका यह आशय कदापि नहीं कि संस्कृत काव्यशास्त्र उनका ऋणी नहीं है। परवर्ती आलोचकों ने उनकी काव्यानुमिति सम्बन्धी धारणा की जमकर आलोचना की है किन्तु उनके ठोस देयांशों को अपने ग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन और परि

बाद भी उसका श्रेय उन्हें नहीं दिया है। आधुनिक आलोचकों की सूक्ष्म दृष्टि से महिमा-के प्रति यह अन्याय छिपा न रह सका और महामहोपाध्याय पी० वी० काणे, डॉ० के० कृष्णमूर्ति तथा डॉ० वी० राघवन् जैसे विद्वानों ने इस ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में जहाँ एक ओर उनकी काव्यानुमिति की उपादेयता तथा अनुपा-देयता का परीक्षण किया गया है वहीं दूसरी ओर उनके ठोस देयांशों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अपने इस प्रयास में मुझे कितनी सफलता मिली है इसक निर्णायक तो नीरक्षीरविवेकी सुधीजन ही हैं।

उन समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन मनीषियों के प्रति, जिनकी कृतियों का साहाय्य प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्माण में लिया गया है, आभार-प्रदर्शन मेरा परम पवित्र एवं सुखद कर्तव्य है। पूज्यपाद, विद्वद्वरेण्य, गुरुवर्य डा० आद्या प्रसाद मिश्र, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की मैं बहुत ऋणी हूँ जिनके अमूल्य समय को साधिकार नष्ट करके मैंने अपनी गुत्थियों को सुलझाया है। यह उनकी शिष्य-वत्सलता ही है जो कि विभागीय प्रशासन तथा कला सङ्काय के डीन होने के कारण कला-सङ्काय के गुरुतर उत्तरदायित्यों को वहन करते हुये भी उन्होंने अपने अत्यन्त अमूल्य समय से कुछ क्षण निकालकर इस समय शुभाशंसा लिखने का कष्ट किया।

मैं अपने विद्वान् परीक्षकों डॉ० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे तथा पं० बल्देव उपाध्याय की बहुत अधिक आभारी हूँ जिनकी प्रशस्ति से प्रेरित होकर ही मैं इस शोध-प्रबन्ध को मुद्रित रूप देने का साहस कर सकी। उनके द्वारा निर्दिष्ट त्रुटियों के परिहार का यथा सम्भव प्रयास किया गया है। अन्ततः मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की परम आभारी-हूँ जिसने पाँच हजार रुपये का अनुदान स्वीकार करके न केवल हमें अनुगृहीत किया है अपितु शोध-प्रबन्ध के गुरुतर मुद्रण-कार्य को सुगम बनाया है।

शिव निलय के व्यवस्थापक श्री के० प्रसाद के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने धैर्य एवं लगन के साथ इस कृति को सम्पन्न किया। अन्ततः मैं एकेडमी प्रेस के व्यवस्थापक श्री सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी जी की भी बहुत ऋणी हूँ जिन्होंने अत्यन्त ही तन्मयता के साथ इसके मुद्रण के दुरूह कार्य को सम्पन्न किया।

ज्ञान देवी श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
दीपावली, १९७६

अनुक्रमणिका



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	१९	पद्या	पद्यों
१५	८	स्वातन्त्रययुक्त	स्वातन्त्र्ययुक्त
१७	१३	इत्यादि	रत्यादि
१८	१८	तर्कसङ्कत	तर्कसङ्गत
२१	८	या त्	यावत्
२२	१२	आर्या	अनुष्टुभ
३५	१४	अग्नयादि	अग्न्यादि
३८	२२	शक्तिवादी	व्यक्तिवादी
४७	५	प्रतीमान	प्रतीयमान
७४	१२	भुङक्था	भुङक्था:
७६	११	रसवद्लङ्कार	रसवदलङ्कार
८५	२३	साध्यसाधनाभाव	साध्यसाधनभाव
९१	१४	द्यातित	द्योतित
९३	६	लोक की स्थिति	×
९८	१६	अनुमेयता	अननुमेयता
१०१	१३	द्वारा	द्वारा उदाहृत
१०८	३३	ध्वन्यनुपलम्भेन	ध्वन्युपलम्भेन
१११	२	उदिता	उदित:
११५	८	भारतीय	भरत के
११६	१३	जिनका	जिनके
११६	१९	होता	होती
११७	३३	लोस्लट	लोल्लट
१२२	२	रत्नादिक	रत्यादिक
१२७	८	भावात्मक	भावकत्व
१३०	१	आदन	ओदनं
१३८	११	रसाभिव्यक्तिभाव	रसाभिव्यक्तिवाद
१४५	७	परोक्षानुमिति	परोक्षानुभूति
१४८	१३	चिन्ह	चिह्न
१५३	३१	ध्व० १/	ध्व० १/८
१५४	५	साथ	सात
१६१	३	कष्टप्रद	कष्टपद
१६२	७	यतिमभ्रष्ट	यतिभ्रष्ट
१६५	३२	क्रमावेत	क्रमापेत
१७१	१०	जगोप	जुगोप
१८०	१७	पुत्रै	पुत्र
१९०	२०	विन्ध्यस्थ	विन्ध्यस्य
१९५	१९	वाक्य	वाक्यं
२०३	७	गा	गां
२०७	१५	प्रतिभानजन्य	प्रतिभाजन्य

———

संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांश का मूल्याङ्कन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल्० उपाधि के लिये स्वीकृत तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत अनुदान के अन्तर्गत मुद्रित शोध-प्रबन्ध]

डॉ० (श्रीमती) ज्ञान देवी श्रीवास्तव

एम० ए० (गोल्ड मेडलिस्ट), डी० फिल्०
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शि व नि ल य
५ जी अलोपीबाग, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७६

मूल्य : ३० रुपये

श्री कमला प्रसाद, शिवनिलय, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित तथा
एकेडमी प्रेस, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

शुभाशंसा

डॉ० श्रीमती ज्ञान देवी श्रीवास्तव का 'संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांशों का मूल्याङ्कन' नामक ग्रन्थ उनके डी० फिल्० शोध-प्रबन्ध का ही मुद्रित रूप है। यत्र-तत्र अपेक्षित परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य किया गया है। श्रीमती ज्ञान देवी के शोध-प्रबन्ध की उनके परीक्षकों द्वारा प्रभूत प्रशंसा एवं उत्कृष्ट संस्तुति की गयी थी। एक परीक्षक ने तो इस अभिप्राय की बात लिखी थी कि जिस गहन ग्रन्थ के विषय में शास्त्रीय चर्चा का प्रसङ्ग उठने पर काशी की पण्डित मण्डली में कँपकपी छूटती थी उस पर ज्ञान देवी श्रीवास्तव ने बड़े अधिकार पूर्ण ढङ्ग से अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म समीक्षात्मक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

डॉ० ज्ञान देवी के शोध-प्रबन्ध के पूर्व ही डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी को इसी विषय पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी और आज तो उनका वह शोध-प्रबन्ध पं० बलदेव उपाध्याय की संस्तुति एवं प्रशंसा से पूर्ण भूमिका के साथ छप भी चुका है। डॉ० चतुर्वेदी का उक्त शोध-प्रबन्ध सामान्यत: प्रशंसनीय होने पर भी सूक्ष्म आलोचना की दृष्टि से अनेक दोषों से परिपूर्ण है। इसीलिये हमने श्रीमती ज्ञान देवी को महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक पर फिर से शोध-कार्य करने के लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप डॉ० ज्ञान देवी ने अपने इस ग्रन्थ में डॉ० चतुर्वेदी के ग्रन्थ के सारे दोषों का परिहार सप्रयास किया है। डॉ० चतुर्वेदी कहीं तो महिमभट्ट तथा उनकी काव्यानुमिति का अनुचित पक्षपात करते दिखाई देते हैं तो कहीं उनकी व्यवस्था तथा शैली को हृदयङ्गम न कर पाने के कारण उन पर अव्यवस्था का दोष मढ़ते दीख पड़ते हैं। इस ग्रन्थ में शोध-कर्त्री ने सम्यक् दृष्टि रखते हुए तटस्थ व्यक्ति की दृष्टि से यथार्थ का आकलन किया है, महिमा द्वारा प्रतिपादित तथा समीक्षकों द्वारा कथित हर तथ्य का स्वयं परीक्षण एवं मनन करके अपने विचार व्यक्त किये हैं। साथ ही डॉ० चतुर्वेदी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति विषयक अनेक भ्रान्त धारणाओं का युक्तिसंगत निराकरण ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

महिमभट्ट के 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' से सम्बद्ध योगदान के मूल्याङ्कन के प्रसङ्ग में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित तथा अन्य आधुनिक विद्वानों द्वारा उसी रूप में गृहीत इस भ्रान्त धारणा का कि 'वस्तु का विशिष्ट रूप ही स्वभावोक्ति अलङ्कार है' युक्तिपूर्वक खण्डन प्रस्तुत किया गया है। महिमा द्वारा व्याख्यात पाँच शब्द-अनौचित्यों (दोषों) के विशद विवेचन के साथ मम्मट के ऊपर उनके प्रभाव तथा ऋण का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। साथ ही जहाँ एक ओर ध्वनिकारिका में महिमा द्वारा उद्भावित दस दोषों के विशद विवेचन के साथ ही उन दोषों का भी परीक्षण किया गया है वहीं काव्यशास्त्र में अनुमितिवाद की असफलता भी ठोस आधारों पर प्रतिपादित की गयी है।

इस प्रकार उक्त वैशिष्ट्यों को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० ज्ञान देवी का यह ग्रन्थ कितना मूल्यवान् है। इसको विद्वज्जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये वह बधाई की पात्र हैं। हमें दृढ़ विश्वास है कि विवित्सु एवं विद्वान् सभी इस मूल्यवान् ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करेंगे।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा डीन कला संकाय आद्या प्रसाद मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय/

भूमिका

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज उपलब्ध सामग्री के आधार पर भरतमुनि से आरम्भ होने वाली इस परम्परा के अन्तिम जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं पण्डितराज जगन्नाथ। लगभग दो हजार वर्षों के बीच पल्लवित और विकसित इस परम्परा में प्रत्येक काव्यशास्त्री तथा प्रत्येक चिन्तक का, चाहे वह भामह एवं दण्डी जैसा अलङ्कारवादी आचार्य रहा हो अथवा वामन और कुन्तक जैसा रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी आचार्य रहा हो अथवा आनन्दवर्धन और महिमभट्ट जैसा ध्वनिवादी तथा अनुमितिवादी आचार्य रहा हो, सभी का योगदान है भले ही उस योगदान की विधा भिन्न हो क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' न्यायेन कोई विधिमुखेन योगदान करता है तो कोई निषेधमुखेन। आचार्य महिमभट्ट की गणना द्वितीय कोटि के आचार्यों के अन्तर्गत की जा सकती है। इसलिये कि प्रवृत्त तो वे खण्डनात्मक विधि से ही होते हैं तथापि प्रसङ्गतः (परोक्ष रूप से) संस्कृत काव्यशास्त्र को अपने देयांशों से समृद्ध वे बनाते ही हैं। यह बात और है कि उनके रचनात्मक ढङ्ग से प्रवृत्त होने पर संस्कृत काव्यशास्त्र उनके देयांशों से आज कहीं अधिक समृद्ध हुआ होता।

आचार्य महिमभट्ट संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनिवाद के प्रबल विरोधी तथा अनुमितिवाद के वरिष्ठ संस्थापक के रूप में विख्यात हैं। 'अत्यन्त गहन' ध्वनि-प्रस्थान के खण्डन में प्राप्त होने वाली अपनी असफलता से आचार्य अभिज्ञ न थे ऐसी बात नहीं थी तथापि 'गौरव' के लोभ से प्रेरित होकर उन्होंने इस दुष्कर कार्य का बीणा उठाया और अपने इस उद्देश्य में वे पूर्ण सफल हुये इसलिये कि ध्वनिवादी कोई भी परवर्ती आलोचक या काव्यशास्त्री महिमभट्ट की उपेक्षा न कर सका और बिना किसी अपवाद के सभी ने काव्य में व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता सिद्ध करने के अवसर पर महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन किया। इस प्रकार ध्वनिकार के ध्वनि-सिद्धान्त के साथ ही महिमभट्ट भी काव्यशास्त्रीय जगत में अमर हो गये।

सम्पूर्ण ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के उद्देश्य से महिमभट्ट ने व्यक्ति-विवेक की रचना की। इनसे पूर्व शङ्कुक भरत के रस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में रसानुमितिवाद की प्रस्थापना कर चुके थे तथापि महिमभट्ट का यह प्रयास सर्वथा मौलिक कहा जायगा इसलिये कि इन्होंने न केवल रस की अनुमेयता की सिद्धि के लिये प्रयास किया अपितु सम्पूर्ण काव्य (जिसमें वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि भी आ जाते हैं) को अनुमितिग्राह्य सिद्ध करने का प्रयास किया। सम्भव है कि इसकी प्रेरणा कुछ सीमा तक उन्हें शङ्कुक से मिली हो। यद्यपि बाने इस प्रयास में वे पूर्णतया असफल रहे पर इसका यह आशय कदापि नहीं कि संस्कृत काव्यशास्त्र उनका ऋणी नहीं है। परवर्ती आलोचकों ने उनकी काव्यानुमिति सम्बन्धी धारणा की जमकर आलोचना की है किन्तु उनके ठोस देयांशों को अपने ग्रन्थों म बिना किसी परिवर्तन और परिवर्धन के ले लेने के

बाद भी उसका श्रेय उन्हें नहीं दिया है। आधुनिक आलोचकों की सूक्ष्म दृष्टि से महिमा-के प्रति यह अन्याय छिपा न रह सका और महामहोपाध्याय पी० वी० काणे, डॉ० के० कृष्णमूर्ति तथा डॉ० वी० राघवन् जैसे विद्वानों ने इस ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में जहाँ एक ओर उनकी काव्यानुमिति की उपादेयता तथा अनुपादेयता का परीक्षण किया गया है वहीं दूसरी ओर उनके ठोस देयांशों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अपने इस प्रयास में मुझे कितनी सफलता मिली है इसक निर्णायक तो नीरक्षीरविवेकी सुधीजन ही हैं।

उन समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन मनीषियों के प्रति, जिनकी कृतियों का साहाय्य प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्माण में लिया गया है, आभार-प्रदर्शन मेरा परम पवित्र एवं सुखद कर्तव्य है। पूज्यपाद, विद्वद्वरेण्य, गुरुवर्य डा० आद्या प्रसाद मिश्र, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की मैं बहुत ऋणी हूँ जिनके अमूल्य समय को साधिकार नष्ट करके मैंने अपनी गुत्थियों को सुलझाया है। यह उनकी शिष्य-वत्सलता ही है जो कि विभागीय प्रशासन तथा कला सङ्काय के डीन होने के कारण कला-सङ्काय के गुरुतर उत्तरदायित्वों को वहन करते हुये भी उन्होंने अपने अत्यन्त अमूल्य समय से कुछ क्षण निकालकर इस समय शुभाशंसा लिखने का कष्ट किया।

मैं अपने विद्वान् परीक्षकों डॉ० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे तथा पं० बल्देव उपाध्याय की बहुत अधिक आभारी हूँ जिनकी प्रशस्ति से प्रेरित होकर ही मैं इस शोध-प्रबन्ध को मुद्रित रूप देने का साहस कर सकी। उनके द्वारा निर्दिष्ट त्रुटियों के परिहार का यथा सम्भव प्रयास किया गया है। अन्ततः मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की परम आभारी-हूँ जिसने पाँच हजार रुपये का अनुदान स्वीकार करके न केवल हमें अनुगृहीत किया है अपितु शोध-प्रबन्ध के गुरुतर मुद्रण-कार्य को सुगम बनाया है।

शिव निलय के व्यवस्थापक श्री के० प्रसाद के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने धैर्य एवं लगन के साथ इस कृति को सम्पन्न किया। अन्ततः मैं एकेडमी प्रेस के व्यवस्थापक श्री सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी जी की भी बहुत ऋणी हूँ जिन्होंने अत्यन्त ही तन्मयता के साथ इसके मुद्रण के दुरूह कार्य को सम्पन्न किया।

ज्ञान देवी श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

दीपावली, १९७९

अनुक्रमणिका

—०—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	१९	पद्या	पद्यों
१५	८	स्वातन्त्रययुक्त	स्वातन्त्र्ययुक्त
१७	१३	इत्यादि	रत्यादि
१८	१८	तर्कसङ्कत	तर्कसङ्गत
२१	८	या त्	यावत्
२२	१२	आर्या	अनुष्टुभ
३५	१४	अग्नयादि	अग्न्यादि
३८	२२	शक्तिवादी	व्यक्तिवादी
४७	५	प्रतीमान	प्रतीयमान
७४	१२	भुङक्था	भुङक्था:
७६	११	रसवद्लङ्कार	रसवदलङ्कार
८५	२३	साध्यसाधनाभाव	साध्यसाधनभाव
९१	१४	द्यातित	द्योतित
९३	६	लोक की स्थिति	×
९८	१६	अनुमेयता	अननुमेयता
१०१	१३	द्वारा	द्वारा उदाहृत
१०८	३३	ध्वन्यनुपलम्भेन	ध्वन्युपलम्भेन
१११	२	उदिता	उदित:
११५	८	भारतीय	भरत के
११६	१३	जिनका	जिनके
११६	१९	होता	होती
११७	३३	लोस्लट	लोल्लट
१२२	२	रत्नादिक	रत्यादिक
१२७	८	भावात्मक	भावकत्व
१३०	१	आदन	ओदनं
१३८	११	रसाभिव्यक्तिभाव	रसाभिव्यक्तिवाद
१४५	७	परोक्षानुमिति	परोक्षानुभूति
१४८	१३	चिन्ह	चिह्न
१५३	३१	ध्व० १/	ध्व० १/८
१५४	५	साथ	सात
१६१	३	कष्टप्रद	कष्टपद
१६२	७	यतिमभ्रष्ट	यतिभ्रष्ट
१६५	३२	क्रमावेत	क्रमापेत
१७१	१०	जगोप	जुगोप
१८०	१७	पुत्रै	पुत्र
१९०	२०	विन्ध्यस्थ	विन्ध्यस्य
१९५	१९	वाक्य	वाक्यं
२०३	७	गा	गां
२०७	१५	प्रतिभानजन्य	प्रतिभाजन्य

———

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

महिमभट्ट का परिचय

काव्यशास्त्र में अनुमितिवाद के वरिष्ठ संस्थापक राजानक महिमभट्ट का उल्लेख समस्त परवर्ती साहित्य में तथा साहित्य-समीक्षा-शास्त्र में दो रूपों में मिलता है— प्रथमतः, 'व्यक्तिविवेककार', नाम से और द्वितीयतः नाम्ना अर्थात् 'महिमा' शब्द के द्वारा। 'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता ने इनका उल्लेख व्यक्तिविवेककार के रूप में किया है।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज भी इनका उल्लेख 'व्यक्तिविवेककृत्' के ही रूप में करते हैं।[2] 'अलङ्कारसर्वस्व की जयरथकृत विमर्शिनी[3] टीका में एवं किरातार्जुनीयम् के तृतीय सर्ग के २१ वें पद्य की मल्लिनाथकृत व्याख्या[4] में भी इनके लिए 'व्यक्तिविवेककार' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। दूसरी ओर 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार[5] समुद्रबन्ध तथा 'नैषधीयचरितम्' के रचयिता श्रीहर्ष अपने खण्डनखण्डखाद्य में[6] इनके लिए 'महिमा' शब्द का प्रयोग करते हैं। इन विविध उल्लेखों से जहाँ एक ओर आचार्य महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के साथ अटूट सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है वहीं दूसरी ओर उस ग्रन्थ की लोकप्रियता किंवा अनुपेक्षणीयता दृष्टिपथ में आती है।

'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की अन्त की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि आचार्य महिमभट्ट का नाम राजानक महिमभट्ट था तथा यह श्री धैर्य के पुत्र थे। राजानक उपाधि से यह सुस्पष्ट है कि यह काश्मीरी थे। भट्ट इनके ब्राह्मण होने का प्रतीक

---

१. 'यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भाव-माख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेनसह तादात्म्यतदुत्पत्यभावादविचरिताभिधानम्।'
अलङ्कारसर्वस्व, निर्णय सागर प्रेस, पृ० १५

२. 'व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तं—काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः इति—सा० द० पृ० १९ १।२ की वृत्ति

३. 'ध्वनिकारानन्तरभावी व्यक्तिविवेककार इति' विमर्शिनी, पृ० १५

४. 'प्रधानोपसर्जनभावस्त्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः किराता० पृ० ४२

५. 'ननु महिमनि जीवति व्यञ्जनाव्यापारस्य कथमनपह्नुतत्वमित्याशंक्य परिहरति' पृ० ११।

६. 'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुंकविलोकविलोचने। काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽद्भुतं। खण्डन०, पृ० १३२७

है। ग्रन्थ की पुष्पिका से ही यह भी ज्ञात होता है कि 'व्यक्तिविवेक' की रचना इन्होंने अमित गुणशाली भीम के क्षेम योग और भाज नामक पुत्रों के लिए की थी। इन क्षेम योग और भाज नामक भीमपुत्रों का महिमा के साथ क्या सम्बन्ध था, इस प्रश्न पर विद्वानों में वैमत्य है। इस वैमत्य का कारण उनके लिए प्रयुक्त नप्तृणां शब्द है। अमरकोष के अनुसार 'नप्त्री' शब्द का अर्थ है—पुत्र की पुत्री।[1] अतः नप्तृ का अर्थ आलोचकों ने पौत्र किया है और अपने इस निर्णय के समर्थन में कि क्षेम योग एवं भाज महिमा के पौत्र थे दौहित्र नहीं वे यह युक्ति देते हैं कि ये सब नाम स्वरूपतः भी एक ही वंश से सम्बद्ध होने के परिचायक हैं।[2] किन्तु द्विवेदी जी का यह तर्क बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि यदि नामों के स्वरूप-साम्य को ही हम उनके एक कुल से सम्बद्ध होने का आधार मान लें तो धैर्य और महिमा में तो कोई भी ऐसा साम्य परिलक्षित नहीं होता और तब हमें यही स्वीकार करना होगा कि महिमा धैर्य के पुत्र नहीं थे जो कि 'धैर्यस्याङ्गभुवा' शब्द को देखते हुए असम्भव है।

अन्य कोषों के अनुसार 'नप्तृ' शब्द का अर्थ पौत्र तथा दौहित्र दोनों ही होता है।[3] अतः नप्तृणां शब्द के दौहित्र अर्थवाचक होने की उतनी ही सम्भावना है जितनी पौत्रवाचक होने की। ऐसी दशा में यदि वे महिमा के पौत्र होते तो महिमा निश्चित ही इस द्व्यर्थक शब्द को छोड़कर 'पौत्राणां' शब्द का प्रयोग करते। यहाँ अवधेय तो यह है कि 'पौत्राणां' शब्द के प्रयोग से उनके वृत्त में भी कोई अन्तर नहीं आता है।[4] इस प्रकार 'पौत्राणां' शब्द के प्रयोग का स्वातन्त्र्य रहते हुए भी महिमा ने जो नप्तृणां को ग्रहण किया, उससे यही सिद्ध होता है कि वे लोग उनके दौहित्र थे पौत्र नहीं। इस विषय में यह भी विचारणीय है कि हिन्दी में 'नप्तृ' से विकसित 'नाती' शब्द आज जनसाधारण में दौहित्र अर्थ में ही रूढ़ हो गया है। हो सकता है इस अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति का आरम्भ ग्यारहवीं शताब्दी में ही हो गया हो। इस पर यह तर्क कि 'दौहित्र' शब्द का 'क्षेमयोगभाजानाम्' के साथ समास करने पर भी छन्दोभङ्ग नहीं होता और दौहित्रत्व में कोई विधेयता विवक्षित नहीं है जिससे उन्हें विधेयाविमर्श का भय होता[5] बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता, इसलिए कि महिमा को निश्चित ही दौहित्रत्व की विधेयता विवक्षित थी जो कि इन नातियों के लिए प्रयुक्त 'प्रथितनयानाम्' विशेषण से भी सुस्पष्ट है। प्रथितनीति वाले नातियों के मातामहत्व में उनका भी गौरव है।

पुष्पिका से ही यह भी ज्ञात होता है कि महिमा महाकवि श्यामल के शिष्य थे पर आज तक हमें कोई ऐसा महाकाव्य प्राप्त नहीं हो सका है जिसके रचयिता श्यामल

---

१. नप्त्री पौत्री सुतात्मजा—अमरकोष

२. हिन्दी व्यक्तिविवेक लेखक रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०

३. 'नप्ता कन्यापुत्रयोः पुत्रः' हलायुध कोष

४. If they were his son's sons he could have used the word पौत्राणां without spoiling the metre.
—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पी० वी० काणे, २४३

५. हिन्दी व्यक्तिविवेक—भूमिका, पृ० १०

हों। श्यामल के नाम से क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा[1] तथा सुवृत्ततिलक[2] में उद्धरण दिए हैं। अभिनवगुप्त ने श्यामलिक का नाम-निर्देश किया है, जो कि पादताडितक नामक भाण के रचियता थे।[3] क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्यविचारचर्चा में उद्धृत श्यामल का उद्धरण भी इस भाण में मिलता है। इस प्रकार अभिनव द्वारा उद्धृत पादताडितक भाण के रचयिता श्यामलिक तथा क्षेमेन्द्र द्वारा श्यामलभट्ट नाम से निर्दिष्ट श्यामल एक ही व्यक्ति हो सकते हैं किन्तु यही श्यामल या श्यामलिक महिमभट्ट के गुरु भी रहे हों यह आवश्यक नहीं।[4] इसलिए कि डॉ० मोतीचन्द्र ने डॉ० बरो की सरणि पर स्वसम्पादित चतुर्भाणी की भूमिका में पादताडितक को ४१०-४१५ ई० के बीच की रचना माना है।[5] घटनाओं, उल्लेख, चित्रण, सामाजिक स्तर तथा भाषा के आधार पर विद्वज्जन इसे बाणभट्ट से पहले तथा कालिदास से बाद की रचना स्वीकार करने के पक्ष में हैं। अतः महिमा के गुरु महाकवि श्यामल इनसे सर्वथा भिन्न व्यक्ति रहे होंगे।

ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में आचार्य महिमभट्ट 'महिमा' शब्द अपने लिए प्रयुक्त करते हैं, किन्तु अन्त की पुष्पिका में उन्होंने 'महिमकेन' शब्द का प्रयोग किया है जो सुस्पष्ट है कि छन्दोभंग के निवारणार्थ अपनाया गया है।

महिमभट्ट की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी—ऐसी प्रतीति उनके व्यक्ति-विवेक के अनुशीलन से होती है। उनका अधिकार न केवल साहित्यशास्त्र पर था अपितु दर्शन एवं व्याकरण शास्त्रों पर भी उन्हें समान अधिकार था। उनमें शास्त्रार्थ की अद्‌भुत क्षमता थी जिसका आभास व्यक्तिविवेक में पद-पद पर होता है। उनके सिद्धान्तों के कट्टर विरोधी होते हुए भी रुय्यक जैसे मेधावी आचार्य उनकी गहन समीक्षा-शक्ति के सम्मुख हार मानते हैं तथा उनके तर्कों को कुशाग्र बुद्धि का ही विषय बताते है।[6] समालोचक तो वे उच्चकोटि के थे ही, साथ ही सहृदय एवं काव्यमर्मज्ञ भी थे। दोष-विवेचन के प्रसङ्ग में बड़े-बड़े महाकवियों तक के पद्यों में दोषों की उद्भावना तथा उन दोषों के सुधारविषयक महिमा के सुझाव उनके सूक्ष्म सूझ-बूझ के परिचायक हैं, तो वृत्तों के दुःश्रवत्व विषयक विवेचन उनके सहृदयत्व एवं उच्चकोटिक कवित्व का।

---

१. 'न तु यथा श्यामलस्य'—औचित्यविचारचर्चा, पृ० २१
२. 'विपरीता यथा भट्टश्यामलस्य'—सुवृत्ततिलक,
३. अभिनवभारती, प्रथम अंक, पृ० १७८ (रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित)
४. संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन—प्रथम परिच्छेद का चतुर्थ विमर्श, लेखक—ब्रजमोहन चतुर्वेदी।
५. डॉ० मोतीचन्द्र द्वारा सम्पादित चतुर्भाणी की भूमिका
६. 'यत्तु व्यक्तिविवेकविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम्। तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते।'—अलंकारसर्वस्वम् (विमर्शिनी टीकोपेतम्) पृ० १५-१६

महिमभट्ट का काल-निर्धारण

संस्कृत आचार्यों का यह वैशिष्ट्य रहा है कि अपना समय देने के प्रति वे विशेषरूप से उदासीन रहे हैं—चाहे वे कालिदास एवं भवभूति जैसे उच्चकोटि के कवि एवं नाटककार हों चाहे भरत और आनन्दवर्धन जैसे मूर्धन्य समालोचक हों। ऐसी दशा में आचार्य विशेष के काल-निर्णय के लिए हम अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग प्रमाणों का आश्रयण करते हैं। अस्तु।

अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर महिमभट्ट के काल की ऊपरी सीमा १०५० के आस पास निश्चित होती है। 'व्यक्तिविवेक' में कालिदास,[१] भरत,[२] भारवि,[३] माघ[४] तथा भट्टनारायण[५] की कृतियों से उद्धरण दिए हुए हैं। इनके अतिरिक्त हर्षकृत रत्नावली[६], बाणभट्टकृत हर्षचरित[७] तथा राजशेखरकृत बालरामायण[८] के भी उद्धरण 'व्यक्तिविवेक' में मिलते हैं। ध्वन्यालोक का तो खण्डन ही किया गया है। उनकी चन्द्रिका टीका तथा भट्टनायक के हृदयदर्पण का नाम्ना उल्लेख भी ग्रन्थकार ने किया है।[९] उपर्युक्त ये सारे ही ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार दशम शताब्दी या उसके पूर्व के हैं। अतः उक्त उल्लेखों के आधार पर निश्चित है कि महिमभट्ट १०वीं शताब्दी के बाद हुए हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्तिविवेककारकृत लोचनकार तथा वक्रोक्तिजीवितकार की आलोचना व्यक्तिविवेक के निर्माण की सीमा को और भी अधिक सुनिश्चित बना देती है। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में एक स्थल पर महिमभट्ट ने लोचनकार को 'केचिद्विद्वन्मानिनः' उपाधि से विभूषित करते हुए लोचन के एक अंश को अक्षरशः उद्धृत किया है पर उनका नाम्ना उल्लेख नहीं किया है।[१०] प्रथम विमर्श में ही ध्वनि का खण्डन समाप्त करने के बाद महिमाचार्य ने आचार्य कुन्तक का 'सहृदयमानिनः केचिद्' शब्दों के द्वारा उल्लेख करते हुए उनके काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।' को असमीचीन घोषित किया है।[११] द्वितीय विमर्श में महिमा आचार्य कुन्तक द्वारा सर्वथा निरवद्य घोषित किए गए श्लोक 'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन...' आदि में विधेयाविमर्श दोष दर्शाने के अनन्तर आचार्य कुन्तक

---

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १६८, २८५, १८६, ५५
२. " " पृ० ७०-७२
३. " " पृ० ५५, ३०७, ५८
४. " " पृ० ४३४, ३७
५. " " पृ० ५८, २४४
६. " " पृ० ११७
७. " " पृ० ४०१
८. " " पृ० २३४, २४८
९. " " पृ० १/४-५
१०. " " पृ० ८६
११. " " पृ० १४२

का उल्लेख और भी तिरस्कारपूर्ण ढङ्ग से 'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन' शब्दों के द्वारा किया है।[1] आचार्य कुन्तक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य प्रायः समसामयिक आचार्य स्वीकार किए गए हैं[2] यद्यपि दोनों ही एक-दूसरे का उल्लेख नहीं करते। और इन आचार्यों के लिए इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग तो यही सिद्ध करता है कि महिमभट्ट इन आचार्यों के सभसामयिक ही थे, भले ही, जैसा आगे स्पष्ट किया गया है, वे कनिष्ठ समसामयिक रहे हों। इस पर यह तर्क उपस्थित करना कि इन आचार्यों का खण्डन महिमभट्ट ने किया है, इसलिए उनके लिए इस प्रकार की पदावली का प्रयोग करना सर्वथा स्वाभाविक है, अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि खण्डन तो आचार्य ने आनन्दवर्धन का भी किया है, सुतरां ध्वन्यालोक तो खण्डन का मुख्य विषय रहा है पर ध्वनिकार का उल्लेख वे आदर के साथ करते हैं,[3] इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण ढङ्ग से नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि ये दोनों ही आचार्य महिमाचार्य के समसामयिक प्रतिस्पर्धी थे।

अभिनवगुप्त के अन्य ग्रन्थों का रचनाकाल उनके स्वयं के उल्लेखों के अनुसार ९९०-१ से १०१४-१५ तक निर्धारित है।[4] लोचन भी इसी बीच या इसके आस-पास लिखा गया होगा। यदि २५ वर्ष भी लोचन के प्रचारार्थ रखा जाय तो निश्चित ही व्यक्तिविवेक की रचना १०४० ई० के आस-पास हुई होगी और चूँकि इस ग्रन्थ का निर्माण आचार्य महिमभट्ट ने अपने प्रौढ़ नातियों के लिए किया था अतः इसके निर्माण के समय उनकी अवस्था ६० वर्ष से कम नहीं रही होगी क्योंकि क्षेम, योग तथा भाज को जन्म देने वाली अपनी पुत्री के जन्म के समय यदि उनकी अवस्था बीस वर्ष भी रही होगी तो उस पुत्री के उक्त तीन पुत्रों में से सबसे छोटे पुत्र के प्रौढ़ होने तक अर्थात् कम से कम २० वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक चालीस वर्ष और बड़ी आसानी से निकल जाते हैं। इस प्रकार महिमभट्ट का जीवनकाल ९८० ई०-१०५५ तक स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी ओर अभिनवगुप्त यदि अपनी प्रथम कृति के समय २५ वर्ष के भी मान लिए जायँ तो इनका जीवन-काल ९६५-१०३० ई० आसानी से माना जा सकता है। इस प्रकार अभिनव गुप्त महिमभट्ट के ज्येष्ठ समसामयिक रहे होंगे—यह निष्कर्ष असमीचीन नहीं समझ पड़ता।

---

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० २८५

२. It is further noteworthy that the...................... लोचन contains no reference to the वक्रोक्तिजीवित and कुन्तक does not refer to अभिनवगुप्त. Hence he was probably contemporary of the लोचनकार also—हिन्दी आफ संस्कृत पोएटिक्स—पी० वी० काणे पृ० २२५

३. व्यक्तिविवेक १/३ तथा हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १४८, १५७, १६०, १६७, १७९

४. हिन्दी अभिनवभारती की भूमिका, पृ० २०-२२ डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित

निचली सीमा के ११०० से १०५० ई० तक के बीच निर्धारण के अनेक प्रमाण हैं। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में व्यक्तिविवेक को 'कविलोकविलोचन' कहते हुए महिमभट्ट का सादर उल्लेख किया है।[1] श्रीहर्ष के इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक महिमभट्ट ने साहित्यजगत में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था और श्रीहर्ष जैसे दुर्धर्ष कवि भी इनको पर्याप्त आदर देते थे। ११३६-११४३ ई० के बीच विरचित अपने काव्यानुशासन के स्वोपज्ञ विवृति में आचार्य हेमचन्द्र ने व्यक्तिविवेक को पङ्क्तिशः और अक्षरशः उद्धृत किया है।[3] अतः महिमा का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आसानी से स्वीकार किया जा सकता है।

व्यक्तिविवेक पर उपलब्ध व्याख्यान नामक टीका के रचयिता राजानक रुय्यक[4]

---

१. 'दोषं व्यक्तिविवेऽमुं कविलोकविलोचने। काव्यमीमांसिषुप्राप्तमहिमा महिमाऽद्भुत ॥' खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १३२७।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—पी० वी० काणे, पृ० २७८

३. व्रजतः क्व तातं वजसीति परिचयगतार्थमस्फुटं धैर्यम्। अभिनदुदितं शिशुना जननी-भर्त्सन-विवृद्धमन्युना ॥

अत्र शिशुना व्रजतिरेव प्रयुक्तो न वजतिस्तत्रैव परिचयगतार्थास्फुटत्वधैर्यभेदित्व सम्भवात्। केवलं शक्तिवैकल्याद्रेफोऽनेन नोच्चारितः। "काव्यनुशासन—पृ० २२२

४ यह व्याख्यान टीका द्वितीय विमर्श के मध्य में आकर समाप्त हो गई है। आदि में टीकाकार ने अपना उल्लेख नहीं किया है, सम्भव है अन्त में किया होगा किन्तु अन्त हमें प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में व्याख्याकार कौन थे? यह एक समस्या सामने आती है। व्याख्यान के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि व्याख्यानकार ने हर्षचरितवार्तिक, साहित्यमीमांसा तथा नाटकमीमांसा ग्रन्थों की भी रचना की थी (द्रष्टव्य हिन्दी व्यक्तिविवेक पृ० २८६ तथा ३८३)। अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता ने भी साहित्यमीमांसा तथा हर्षचरित का उल्लेख स्वरचित ग्रन्थ के रूप में किया है। (द्रष्टव्य जयरथ की टीका से युक्त अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ७७) इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता तथा व्याख्यानकार दोनों ही व्यक्ति एक थे। इस निष्कर्ष की पुष्टि जयरथ के इस कथन से भी होती है। (वाच्यस्य तादात्म्यतदुपत्यभावादि नेहप्रतन्यते इति व्यक्ति-विवेकविचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावः अलङ्कारसर्वस्व पृ० १६)। यहाँ 'व्यक्तिविवेकविचार' शब्द का अर्थ नामपरक न करके विशेषणपरक करना होगा अर्थात् इसका अर्थ होगा व्यक्तिविवेक पर विचार करने वाले ग्रन्थ में। उस ग्रन्थ का नाम कुछ भी हो सकता है—व्याख्यान या और कुछ। इस प्रकार व्याख्यानकर्ता ही 'अलङ्कारसर्वस्व' के भी कर्ता हैं। पर यह अलङ्कारसर्वस्वकार कौन थे, इस विषय पर विद्वान् एकमत नहीं हैं—कुछ के अनुसार राजानक रुय्यक ही अलङ्कारसर्वस्व नामक वृत्ति के भी रचयिता हैं पर कुछ का मत है कि वृत्ति-कार राजानक रुय्यक के शिष्य मंखक थे। इस प्रकार के वैमत्य का आधार है

हैं और उनका समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[1] अवधेय है कि अपनी इस टीका में राजानक रुय्यक ने कई स्थल पर 'व्यक्तिविवेक' के पाठान्तरों की चर्चा की है।[2] अतः इस व्याख्यान से ६०-७० वर्ष पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में १०६० ई० के आस-पास 'व्यक्तिविवेक' की रचना हुई होगी, ऐसा निष्कर्ष निकालना असङ्गत न होगा।

त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़ से प्रकाशित तथा काव्यमाला सिरीज़ से प्रकाशित 'अलङ्कार-सर्वस्व' की प्रतियों में प्रथम श्लोक में पाठभेद और त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज से प्रकाशित प्रति के अन्त में दिया हुआ अधोलिखित श्लोक जो कि निर्णय सागर से प्रकाशित प्रति के अन्त में नहीं है—

इति मङ्खुको वितेने काश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालङ्कार तदिदमलङ्कारसर्वस्वम्॥

साथ ही वृत्ति के अन्तर्गत मंखविरचित श्रीकण्ठचरित के उद्धरण होने से इस धारणा को, कि वृत्तिकार मंख थे और बल मिलता है किन्तु अधोलिखित हेतुओं से यह धारणा भ्रामक है—

(अ) राजानक जयरथ समुद्रबन्ध की अपेक्षा समय और दूरी दोनों ही दृष्टियों से राजानक रुय्यक के अधिक निकटवर्ती हैं अतः उनकी प्रति में निहित सूचना अधिक प्रमाणिक होगी। इसलिए 'अलङ्कारसर्वस्व' के प्रथम श्लोक—'निजालङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्यपर्यमुच्यते', 'गुर्वलङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते' पाठ की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है।

(ब) इतने पर भी राजानक जयरथकृत इस उल्लेख की अवहेलना की जा सकती थी, यदि समुद्रबन्ध के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी समुद्रबन्ध के मत के समर्थक होते पर वस्तुस्थिति यह है कि समुद्रबन्ध को छोड़कर कुमारस्वामी (रत्नापण पृ० ३८३, ३९६, ४२५, ४४८) जैसे दाक्षिणात्य आचार्य भी सूत्र और वृत्ति दोनों को एक ही व्यक्ति की कृति मानते हैं। अतः समुद्रबन्ध का पाठ अधिक प्रामाणिक नहीं।

(स) यह सर्वथा सम्भव है कि आचार्य मंखक ने अपने गुरु राजानक रुय्यक की कीर्ति को फैलाने के प्रयास में 'अलङ्कारसर्वस्व' का सम्पादन किया हो और उस समय कुछ जोड़ा-घटाया भी हो ओर इस प्रकार मंखकृत श्रीकण्ठचरित के कुछ उद्धरण भी इसमें आ गए हों। अतः चूँकि श्रीकण्ठचरित से ग्रन्थ की वृत्ति में उद्धरण दिए गए हैं अतः वृत्तिकार मंखक थे रुय्यक नहीं, इस प्रकार का तर्क (द्रष्टव्य—'हिन्दी व्यक्तिविवेक' की भूमिका पृ० २६) समीचीन नहीं प्रतीत होता। वृत्ति में प्रक्षिप्त अंश आ गए थे इस बात का प्रमाण जयरथ की टीका से मिलता है जिसमें वे निरन्तर भ्रष्ट पाठों का उल्लेख करते हैं। ('अलङ्कारसर्वस्व' पृ० ६२ कारकान्तर इत्यपपाठः। प्रकृतकारकविच्छित्त्याश्रयस्यैवानुक्तत्वात्)

1. द्रष्टव्य—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—पी० वी० काणे, पृ० २७३
2. 'प्रतीयमानापेक्षयेति न प्रतियोग्यन्तरमपेक्षणीयम्, अपितु पूर्ववत् स्वापेक्षया व्याख्येयम्। भावप्रत्ययपाठः पुनरत्रानार्षः।' 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' पृ० १२ (व्याख्यान)

उपर्युक्त निश्चित प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रच्छन्न प्रमाण महिमभट्ट के काल की उक्त सीमा को और भी अधिक सङ्कुचित बना देता है। वह है काव्यप्रकाश में 'व्यक्तिविवेक' की छाया। काव्यप्रकाश में पञ्चम उल्लास का उपसंहार अनुमितिवाद के खण्डन से हुआ है। अन्य मतानुयायी आचार्यों की भाँति अनुमितिवादी आचार्यों का भी नाम्ना उल्लेख आचार्य मम्मट नहीं करते किन्तु टीकाकारों तथा अध्येताओं की परम्परा इसे महिमभट्ट का ही खण्डन मानने के पक्ष में रही है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उक्त खण्डन को महिमा का खण्डन माना है।[2] व्यक्तिविवेक तथा काव्यप्रकाश के उक्त सन्दर्भ से सम्बद्ध पदावली की तुलना से भी टीकाकारों की इस मान्यता की पुष्टि होती है। आचार्य मम्मट ने वाच्य से व्यङ्ग्य के स्वरूप-भेद--प्रतिपादन के प्रसंग में वस्तु-ध्वनि के उदाहरण के रूप में ध्वनिकार द्वारा प्रस्तुत प्रसिद्ध गाथा 'भम धम्मिअ' को नहीं अपनाया। (विचारणीय है कि इसी गाथा में विधि रूप वाच्यार्थ से निषेध रूप प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यशक्ति, लक्षणा, अनुमान तथा स्मृति आदि से अलभ्य दिखाते हुए लोचनकार ने व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है) वाच्य-व्यङ्ग्य के स्वरूप-भेद के प्रतिपादनार्थ मम्मट ने "निःशेषच्युत-चन्दनं" उदाहरण को प्रस्तुत किया है, जिसमें निषेध रूप वाच्यार्थ से विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। जबकि ध्वनिकार ने इस प्रसंग में 'अत्था एत्थ णिमज्जइ' उदाहरण दिया है। मम्मट ध्वनिकार के इस उदाहरण को पंचमोल्लास में ही प्रसङ्गान्तर में अपना भी लेते हैं किन्तु 'भम धम्मिअ' उदाहरण की उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की है किन्तु जहाँ वे अनुमितिवाद के खण्डन का उपक्रम करते हुए पूर्वपक्ष का उपस्थापन करते हैं वहाँ इसी गाथा को प्रस्तुत करते हैं और महिमाचार्य द्वारा प्रदर्शित हेतु को हेत्वाभास सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अनुमितिवाद का समर्थक ग्रन्थ सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में केवल व्यक्तिविवेक ही है और इसमें ध्वनि पद्यों को अनुमानगम्य बताने के लिए तृतीय विमर्श का आरम्भ इसी गाथा से किया गया है। प्रस्तुत गाथा में महिमभट्ट ने गोदावरीतट पर सिंहोपलब्धि को हेतु (साधन) माना है तथा अभ्रमण को साध्य माना है और इस सिंहोपलब्धि रूप हेतु को अनैकान्तिकत्व विरुद्धत्व तथा असिद्धत्व दोषों से दुष्ट प्रतिपादित करते हुए इसे हेतु नहीं, हेत्वाभास

---

१. (क) 'महिमभट्टास्तु न तावदसम्बद्ध एव वाक्यात्प्रतीयते। सर्वस्मात् सर्वोपलब्धि-प्रसङ्गात्' गोविन्द ठक्कुर विरचित प्रदीप टीका, पृ० २३६

(ख) 'अथ सर्वेषां ध्वनीनामनुमानेऽन्तर्भाव इत्युक्तवतो व्यक्तिविवेककृतो मतमुपन्यस्यति वाच्यादसम्बद्धस्तावदित्यादिना' विद्याचक्रवर्तीकृत सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका पृ० २७२

(ग) 'अथ सौगतानुसारदनुमानैकप्रधानो महिमा प्रत्यवतिष्ठते - वाच्यादिति —' (भट्टगोपालकृत साहित्यचूडामणि टीका, पृ० २७२)

२. रसगंगाधर प्रथमानन पृष्ठ ४७ उत्तमोत्तम काव्य का प्रसंग "तथा तत्रैव तेन — भम धम्मिअ...सीहेण इत्यादौ लिङ्गलिङ्गिज्ञानरूपेण अनुमानेन व्यक्तिं गतार्थयतो व्यक्तिविवेककृतो मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारित्वेन असिद्धत्वेन च सन्दिह्यमानादपि लिङ्गात् व्यञ्जनम् अभ्युपगतम्'—रसगंगाधर चौखम्बा प्रकाशन, पृ० ४७

सिद्ध करने का प्रयास मम्मट ने किया है। इस स्थल पर पदावली का साम्य भी दर्शनीय है—

"न च वाच्यादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैवसम्भवति सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्' "प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्च अनर्थ संशयोऽस्मात्विधिवाक्यात् णिजर्थपर्यालोचनयाऽवसीयते, इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या[२]...

+ + +

'ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चित् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् एवं च सम्बन्धात् व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवति...' भम धम्मिअ' अत्र गृहे श्वानिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति। यद्-यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः[३]।'

निश्चित ही मम्मट की इन पंक्तियों पर 'व्यक्तिविवेक' की उपर्युक्त पंक्तियों का प्रभाव है।

'भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो विभ्यदपि वीरत्वेन सिंहाद् न विभेतीति विरुद्धोऽपि...

आचार्य मम्मट की ये पंक्तियाँ, ऐसा लगता है, महिमा की नीचे उद्धृत पंक्ति के उत्तर में लिखी गयी हैं—

'को ह्युनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणः तत्रैव दृप्तसिंहसद्-भावाशङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेत् इत्यादि।

उक्त स्थल के अतिरिक्त मम्मट के दोषविवेचन पर भी महिमाचार्य का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। काव्यशास्त्र के इतिहास में दोषों का इतना प्राञ्जल, सूक्ष्म एवं सुष्ठु विवेचन प्रथम बार महिमा के 'व्यक्तिविवेक' में ही मिलता है और उसका पूरा लाभ उठाया है आचार्य मम्मट ने। यहाँ पर दो-तीन उदाहरण देना पर्याप्त होगा।[४]

विधेयाविमर्श नामक दोष (जिसका उल्लेख आचार्य मम्मट अविमृष्टविधेयांश के नाम से करते हैं) के तो महिमभट्ट जन्मदाता ही हैं। 'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः' पद्य में 'असंरब्धवान्' पद में विधेयाविमर्श के फलस्वरूप नञ् समास को अनुपपन्न बताते हुए आचार्य ने प्रसंगतः पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध का निरूपण किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध विषयक मतों को उद्धृत करते हुए महाकवि कालिदास की जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः। अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥ श्लोक को पर्युदास के उदाहरण के रूप में तथा—

---

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० ८३

२. वही पृ० ४६५-४६६

३. काव्य प्रकाश (सत्यव्रत सिंह कृत टीका) पृ० १७३

४. विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रकृत प्रबन्ध का पञ्चम अध्याय।

नवजलधरसन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः ।
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥

श्लोक को प्रसज्यप्रतिषेध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है ।

महिमभट्ट के उक्त विवेचन का मम्मट की इन पंक्तियों पर स्पष्ट ही प्रभाव परिलक्षित होता है—

आनन्दसिन्धुरति चापलशालिचित्तसन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता…अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः । यथा—

नवजलधरः सन्नद्धोयाऽयं न दृप्तनिशाचरः……न ममोर्वशी ।

इत्यत्र, न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किंचिद्विहितम् यथा—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः… सुखमन्वभूत् ।

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

प्रकृत पद्य के ही चतुर्थ पाद 'योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी' में तद् के अभाव में केवल यद् (योऽसौ) के प्रयोग को अनुपपन्न बताते हुए महिमा कहते हैं—

किञ्च योऽसावित्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगोऽनुपपन्नः । यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमस्तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः तयोरप्यनुवाद्यविधेयार्थत्वेनेष्टत्वात् तयोश्च परस्परोक्षया नित्यत्वात् ।

किन्तु कभी-कभी यद् तद् में से केवल एक का ही प्रयोग होता है । ऐसे स्थलों पर दूसरे का अर्थ-सामर्थ्य से आक्षेप कर लिया जाता है । उनमें केवल 'तद्' का उपादान होने पर आर्थ त्रिविध होता है, क्योंकि 'तद्' तीन प्रकार का होता है— प्रसिद्ध वस्तुविषयक, अनुभूतवस्तुविषयक और प्रक्रान्तवस्तुविषयक । इन तीनों के उदाहरण रूप में उन्होंने क्रमशः द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां…, तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा…तथा कातर्यं केवला नीतिः…पद्यों को उद्धृत किया है ।

आचार्य के इस सारे विवेचन की छाप मम्मट की अधोलिखित पंक्तियों पर सुस्पष्ट है—

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् । तथाहि प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते । क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीतिः…सः ॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां…कपालिनः ॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता…वीक्षितासि ॥

आचार्य के प्रभाव की पराकाष्ठा तो इस पद्य में दर्शनीय है—

मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसिपुष्करैः कृतम् ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥

इस पद्य में महिमा के अनुसार पादों का प्रमादजन्य पौर्वापर्यविपर्यय ही अनुचित है, तद् का अर्थसामर्थ्य से आक्षेप हो जायगा अतः उस विपर्यय को ठीक कर देने पर यह पद्य दुष्ट नहीं रह जाता। इस प्रकार—'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' कर देने पर यह पद्य दोषरहित हो जाता है। आचर्य मम्मट ने इस पद्य को इसी सुधारे हुए रूप में ही उद्धृत किया है और इसके मौलिक रूप को सर्वथा छोड़ ही दिया है। वे कहते हैं—

यच्छब्दः तु उत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात् पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दः तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः। यथा तत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे इत्यादि। अस्तु।

दोनों आचार्यों की उद्धृत पंक्तियों में इतना अधिक साम्य देखने के बाद दोनों के बीच पौर्वापर्य ही मानना उचित होगा, समकालिकत्व नहीं। प्रश्न यह उठता है कि किसका किस पर प्रभाव माना जाय, क्योंकि दोनों ही आचार्य एक-दूसरे का उल्लेख नहीं करते। न्याय्य तो यही प्रतीत होता है कि मम्मट पर महिमभट्ट का प्रभाव माना जाय इसलिए कि महिमभट्ट जहाँ एक ओर चन्द्रिका और हृदयदर्पण का उल्लेख करते हैं, वहीं दूसरी ओर अभिनवगुप्त तथा कुन्तक की आलोचना भी करते हैं पर मम्मट का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। उनके स्वभाव और प्रवृत्ति को देखते हुए यह विचार असम्भव है कि वे मम्मट जैसे व्यंजनावादी आचार्य की उपेक्षा करते अथवा अनुमितिवाद के खण्डन का प्रत्युत्तर न देते। दूसरी ओर विधेयाविमर्श दोष का निरूपण करने के अन्तर महिमभट्ट कहते हैं—

''न चायमर्थः स्वमनीषिकयैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तर्हि आचार्यस्याप्यभिमत यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान्''

इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि विधेयाविमर्श पर विचार करने वाले महिमभट्ट प्रथम आचार्य थे और मम्मट ने महिमभट्ट से ग्रहण किया है। तभी तो आचार्य अपने विचारों का समर्थन पाणिनि के सूत्रों में ढूँढ़ते हैं नहीं तो यदाहुः, तदाहुः कहकर मम्मट के विचार को उद्धृत कर ही सकते थे। दूसरी ओर मम्मट का तो यह वैशिष्ट्य ही रहा है कि उन्हें सारवस्तु जहाँ कहीं से भी मिली उसको उन्होंने ग्रहण करके अपने ग्रन्थरत्न में स्थान दिया। अतः निश्चित ही महिमभट्ट मम्मट से पूर्ववर्ती हैं और चूँकि मम्मट का 'काव्यप्रकाश' १०५०-११०० ई० के बीच की रचना है[1] अतः 'व्यक्तिविवेक' को १०५० ई० या इसके पूर्व की कृति माना जा सकता है।

इस प्रकार अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों ही प्रकार के प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्तिविवेक की रचना १०५० ई० के आस-पास हुई अतश्च महिमभट्ट अभिनवगुप्तपादाचार्य के कनिष्ठ समसामयिक हुए।

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—पी० वी० काणे, पृ० २६३

महिमभट्ट का सम्प्रदाय

किसी भी कवि, लेखक या समालोचक के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव उसकी कृति पर अवश्य पड़ता है। आचार्य महिमभट्ट भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। अतः महिमभट्ट का सम्प्रदाय क्या था यह तथ्य विवेचन-सापेक्ष्य हो जाता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि आचार्य महिमभट्ट न्याय-दर्शन के अनुयायी थे।[१] और इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का मूल उनका अनुमितिवादी होना प्रतीत होता है। किन्तु अवधेय है कि अनुमान एक ऐसा प्रमाण है जिसे चार्वाकों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के समस्त प्रस्थानों मे मान्यता मिली है और भारतीय दर्शन के जिस प्रस्थान से महिमभट्ट प्रभावित थे उसमें भी इस प्रमाण का पर्याप्त विवेचन हुआ है। यह सत्य है कि अनुमान प्रमाण के अङ्ग प्रत्यङ्ग का जितना विशद विवेचन न्याय दर्शन के अन्तर्गत हुआ है, उतना भारतीय दर्शन के अन्य शाखाओं में नहीं मिलता पर यह भी सत्य है कि उन समस्त विभिन्न प्रस्थानों में अनुमान का स्वरूप मूलरूप में लगभग एक-सा है। जहाँ न्याय के अन्तर्गत परामर्श, पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, व्याप्ति, हेतु, सद्हेतु, हेत्वाभास आदि समस्त पारिभाषिक पदावली का विस्तृत विवरण मिलता है वहाँ सांख्य इत्यादि प्रस्थानों में आचार्य केवल अनुमान के लक्षण और भेदों का उल्लेख करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं तो भी मौलिक साम्य यह है कि सभी मार्गों के अनुयायी यह स्वीकार करते ही हैं कि व्याप्ति-ज्ञान के आधार पर हुआ लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान अनुमान है। इसलिये केवल इस आधार पर कि महिमा ने ध्वनि पद्या को अनुमितिगम्य बताया है, उन्हें नैय्यायिक मान लेना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। और यदि ऐसा ही है तो शङ्कुक को भी नैय्यायिक क्यों नहीं माना जाता? उन्होंने भी तो रस को अनुमेय बताया है। सुतरां भारतीय शास्त्रों में तो प्राधान्य को निर्णायक तत्त्व स्वीकार किया गया है[२] अतः महिमा के सम्प्रदाय-निर्णय के विषय में भी इसी न्याय का अवलम्बन उचित होगा।

व्यक्तिविवेक ग्रन्थ के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य पर कश्मीर के अद्वैत शैवागम का प्रभाव अधिक था। अन्य दर्शनों की भाँति ही कश्मीर के अद्वैत शैवागम के मूलभूत सिद्धान्त भी उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं किन्तु सम्प्रदाय के रूप में इसका आरम्भ ८वीं या ९वीं शताब्दी से होता है तथा वसुगुप्त इस सम्प्रदाय के आद्य आचार्य हैं। इनके बाद सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ

---

१. (क) ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—भोलाशंकर व्यास (नवम परिच्छेद)

(ख) [illegible]

(ग) काव्यतत्त्वसमीक्षा—डॉ० एन० एन० चौधरी (पंचम उल्लास)

(घ) मधुसूदनी विवृतिः—पृ० ४५५ श्लोक सं०—२

२. (क) वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः—वेदान्तसूत्र (ब्रह्मसूत्र २।४।२२)

(ख) 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—

लिखा। अनन्तर अभिनव के गुरु उत्पलाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' तथा उसकी विवृति लिखी। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति' पर विमर्शिनी टीका लिखी। इस प्रकार कश्मीर में ८वीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक शैवागम की धूम थी। पीछे कहा जा चुका है कि आचार्य अभिनवगुप्त महिमा के ज्येष्ठ समसामयिक थे तथा कश्मीर के निवासी थे और उन दिनों कश्मीर का वातावरण अद्वैत शैवागम से व्याप्त था। ऐसी दशा में महिमभट्ट का उस दर्शन से प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक था। 'व्यक्तिविवेक' के अधोलिखित स्थल महिमा के शैवागमानुयायी होने के द्योतक हैं—

(१) ग्रन्थारम्भ में ही महिमाचार्य 'परावाक्' की वन्दना करते हैं।[1] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने वाणी के तीन विवर्त बताएँ हैं—पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। कश्मीर-शैवागम के अन्तर्गत द्वितीय तत्त्व को जिसे 'शक्ति तत्त्व' नाम से अभिहित किया गया है—परावाक् भी कहा गया है।[2] सम्भवतः महिमा का अभिप्राय उस शक्तितत्त्व से ही है।

(२) व्यंजना के खण्डन के प्रसंग में समस्त शाब्दव्यवहार को साध्यसाधनभावगर्भित दिखलाने का उपक्रम करते हुए महिमा शब्द के वाक्य एवं पद नाम से दो भेद करते हैं। वे पद के पुनः पाँच भेद मानते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय। इनमें से नाम का लक्षण देते हुए वे इसे चार भागों में विभक्त करते हैं, क्योंकि नामपदों के प्रवृत्तिनिमित्त भी जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यभेद से चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करने के पश्चात् वे स्वयं अपना परिनिष्ठित मत उपन्यस्त करते हैं। उनके अनुसार समस्त नामपदों का प्रवृत्तिनिमित्त केवल क्रिया है। इस प्रकार घट का प्रवृत्तिनिमित्त 'घटन' क्रिया है[3] जो कि घटत्वापत्ति रूप है।[4] 'घटन' क्रिया से विरहित अतश्च घटस्वरूप को बिना प्राप्त हुए केवल घटत्व जाति के रहने मात्र से घट घटव्यपदेशभाजन नहीं बन सकता और यदि हम घटन क्रिया के अभाव में भी घट को घट मानते हैं तो पट भी घटव्यपदेशभाजन बन सकता है इसलिए कि घटत्वापत्ति का अभाव वहाँ भी है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि घट को घट इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह घटन क्रिया का कर्ता है।

इस पर व्युत्पत्तिवादी आचार्यों का यह कहना कि वे भी घटन क्रिया को ही 'घट' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं अतः एक नये पक्ष का उपन्यास व्यर्थ है, क्योंकि चेष्टार्थक 'घट्' धातु से अच् प्रत्यय करने पर वे 'घट' शब्द को निष्पन्न हुआ मानते हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा 'घट्' क्रिया ही 'घट' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त हुई। पर

---

१. 'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। १।१

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—भूमिका

३. 'घटादिशब्दाः स्वार्थे प्रवर्तमानाः घटनादिक्रियामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते न घटत्वादिसामान्यम्। 'व्यक्तिविवेक' पृ० ३०

४. 'घटनञ्च तदात्मत्वापत्तिरूपा क्रिया मता। 'व्यक्तिविवेक, १।६

महिमा की दृष्टि में वहाँ घट् क्रिया घट शब्द की व्युत्पत्ति में निमित्त है, प्रवृत्ति में नहीं। व्युत्पत्तिनिमित्त तथा प्रवृत्तिनिमित्त निश्चित ही एक-दूसरे से भिन्न हैं, इसीलिए उपाधिवादी आचार्य गमनादि क्रिया को गोशब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त मानते हैं और उनके अनुसार यह गमनादि क्रिया गोव्यक्ति रूप एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने से कारण गोत्वादि को प्रवृत्ति निमित्त बनाती है। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि प्रवृत्ति-निमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं और इतने पर भी यदि क्रिया को ही प्रवृत्तिनिमित्त आप मानते हैं तो फिर बैठी हुई गाय के लिए (जो कि गमन क्रिया नहीं कर रही है) गो शब्द का प्रयोग असङ्गत होगा। महिमा जिस क्रिया को घट का प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं वह घटत्वापत्तिरूप अथवा 'सत्तासादनलक्षणा' है। इस प्रकार इन्होंने जिस क्रिया को प्रवृत्ति का निमित्त माना है उसमें घटत्व जाति का भी योग रहता है। अर्थात् वह क्रिया शुद्ध क्रिया नहीं होती अपितु जातिसंश्लिष्ट होती है अतः गो का भी प्रवृत्ति-निमित्त गोत्वापत्तिरूप क्रिया हुई। इस प्रकार महिमा के मत में उक्त दोष के लिए अवकाश नहीं है। उसी प्रवृत्तिनिमित्तरूप घटन क्रिया को लेकर ही 'विपच्य घटो भवति' तथा 'अधिश्रित्य पाचको भवति' इत्यादि स्थलों में विपाक आदि क्रियाओं की पूर्वकालिकता क्त्वा प्रत्यय का विषय माननी चाहिए।

इस पर शङ्का यह हो सकती है कि कर्तृत्व चेतन पदार्थ का धर्म है। इसके विपरीत घट आदि जड़ पदार्थ हैं अतः वे चेतन के धर्म कर्तृत्व के अधिष्ठान कैसे बन सकते हैं? इस शङ्का का समाधान वे कश्मीर के अद्वैत शैवागम के आभासवाद के आधार पर करते हैं। यह दृश्यमान जगत् शिवतत्त्व का आभासमात्र है। यह शिव तत्त्व चिद्, प्रकाश और विमर्शमय है। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' समस्त दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है। अतः घट भी चिद्, प्रकाश और विमर्शमय हुआ अतः उसमें घटन क्रिया का होना असम्भव नहीं है। महिमभट्ट के शब्दों में--

घटनञ्च तदात्मत्वापत्तिरूपा क्रिया मता।
मूलञ्च तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितुः ॥

—व्यक्तिविवेक १।८

मूलञ्च ···रीशितुः पंक्ति स्पष्ट ही उत्पलाचार्य के इन पंक्तियों का रूपान्तरमात्र प्रतीत होती है—

क्रमभेदाश्रयो भेदोऽप्याभास सदसत्त्वतः
आभाससदसत्त्वे च चित्राभासकृतः प्रभोः[1] ॥

आचार्य के मन्तव्य को प्रामाणिक कारणों के आधार पर व्याख्यानकार इस प्रकार विवृत करते हैं—

घटादिक पदार्थों की बाहर सिद्धि स्वीकार करने पर भी प्रतिपत्ता में उनकी सिद्धि न होने पर उनकी असिद्धि ही रहती है। क्योंकि उस असत्कल्प सत्तामात्र से व्यवहार की सिद्धि नहीं होती। व्यवहार-सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञाता में

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, अंक २—११४

उस पदार्थ की सिद्धि हो, उसका प्रकाशन हो। अब घटादि को यदि प्रतिपत्ता से बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह पदार्थ अप्रकाश रूप है और यदि वह अप्रकाश रूप है तो प्रकाशरूप प्रतिपत्ता में उसका प्रकाशन कैसे सम्भव है ? क्योंकि चेतन में प्रकाशित होने का अर्थ ही है कि वह पदार्थ उस चेतन प्रतिपत्ता के साथ तादात्म्य ग्रहण करके प्रकाशित होगा। पर जो चेतन से भिन्न है वह चेतन के साथ तादात्म्य कैसे प्राप्त कर सकता है, क्योंकि स्वभाव परिवर्तित नहीं होता और यदि परिवर्तित हो जाय तो वह स्वभाव नहीं। इसलिए प्रत्येक पदार्थ चेतन है, प्रकाशरूप है अतश्च विमर्शयुक्त अथवा स्वातन्त्र्ययुक्त भी हुआ, क्योंकि प्रकाश और परामर्श अविनाभूत रूप से सम्बद्ध है अतः घट के 'घटन' क्रिया के कर्तृत्व की बात असंगत नहीं है।

(३) महिमभट्ट ने केवल तीन प्रमाण स्वीकार किए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—

'तच्च त्रिविधम्। यदाहु :—
लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।'

इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए व्याख्यानकार का कथन है कि लोक वेद तथा अध्यात्म रूप से प्रमाण तीन प्रकार का होता है। उसमें अध्यात्म है प्रत्यक्ष और वाङ्मय रूप है वेद। लोक वह है जिसका रूप वाङ्मयात्मक नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगम ये दो प्रमाण दूसरे शब्दों में स्वीकार कर लिए। आगम लिखित और अलिखित रूप से दो प्रकार का होता है। यहाँ अनुमान नहीं गिना गया। वह तो उपकार्य रूप से प्रस्तुत है।[१]

उक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि उन्हें ये तीन ही प्रमाण मान्य थे। अवधेय है कि इन्हीं तीन प्रमाणों को कश्मीर के अद्वैत शैवागम में भी मान्यता मिली है।[२] यदि महिमा न्याय के अनुयायी होते तो अवश्य ही वे अनुमान प्रमाण का भी उल्लेख करते। अर्थापत्ति प्रमाण को उन्होंने अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भूत किया है।[३] वैशेषिक लोग शब्द-प्रमाण नहीं स्वीकार करते। अतः महिमा को वैशेषिक दर्शन का भी अनुयायी नहीं माना जा सकता। सांख्य को भी यद्यपि यही तीन प्रमाण मान्य हैं तो भी सांख्य के सिद्धान्तों का उनकी कृति पर प्रभाव के अभाव में उन्हें सांख्यवादी भी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार प्रमाणों की मान्यता की दृष्टि से भी उन्हें कश्मीर के अद्वैत शैवागम का अनुयायी ही मानना पड़ता है।

(४) एक स्थल पर प्रादि की द्योतकता के खण्डन के प्रसंग में महिमभट्ट कश्मीर के अद्वैत शैवागम के कारण-सिद्धान्त की शरण लेते दिखायी पड़ते हैं। उनका

---

१. हिन्दी व्यक्ति विवेक, पृ० ५३
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, अंक २, पृ० ७४-८४
३. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० ११८ (तद्यन्यथानुपपत्त्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानोऽनुमेय एव भवितुमर्हति, अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमादित्युक्तम्।

कहना है कि यदि प्रादि को द्योतक मानने वाले वादियों का यह तर्क कि 'पचति' इत्यादिक क्रियासामान्य के वाचक होते हैं और 'निर्विशेषं न सामान्यं' न्यायेन सामान्य में समस्त विशेष उपस्थित रहते हैं अतः विशेष प्रतीत तो हो जाता है सामान्य अर्थ की प्रतीति से ही, केवल वह अपने द्योतन की अपेक्षा रखता है। वह द्योतन प्रादि उपसर्ग कर देते हैं इसलिए वे द्योतक ही हैं वाचक नहीं[1]' स्वीकार कर लिया जाय तो दो अव्यवस्था आती है। प्रथम तो यह कि विशेषण-विशेष्य भाव ही उच्छिन्न हो जायगा। उदाहरण वे नीलोत्पल का देते हैं। नील विशेषण है उत्पल विशेष्य। उत्पल सामान्यवाची है अतः सभी विशेष उसमें पहले से उपस्थित हैं अतः नीलादि शब्द उन नीलादि अर्थों के द्योतक ही होंगे, वाचक नहीं।[2]

दूसरी अव्यवस्था अधिक भयानक है और वह यह है कि शब्द का अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध ही अस्त हो जायगा, क्योंकि अन्तः में विद्यमान होने के कारण घटादि प्रत्येक की सत्ता पूर्वसिद्ध है। अतः घट आदि शब्द केवल उन घटादि अर्थों के द्योतक हुए वाचक नहीं।[3] क्योंकि कश्मीर के अद्वैतशैवागम के आभासवाद के अनुसार दृश्य जगत् का प्रत्येक पदार्थ शिवतत्त्व में पहले से विद्यमान रहता है, उनका केवल आविर्भाव या आभास और तिरोभाव होता है और घटादि पदार्थों की उत्पत्ति का अर्थ शैवागम में केवल उन पदार्थों का बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की इन्द्रियों का विषय बनना मात्र है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए महिमा को कश्मीर के अद्वैत शैवागम का अनुयायी मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

महिमा एवं श्री शङ्कुक

महिमभट्ट के दाय के मूल्याङ्कन के प्रसंग में इस तथ्य का निर्धारण कि वे अनुमितिवाद के प्रवर्तक थे अथवा नहीं अपना विशेष महत्त्व रखता है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अनुमितिवाद के समर्थक दो ही आचार्यों का ज्ञान हमें है—श्री शंकुक और आचार्य महिमभट्ट। उनमें श्री शङ्कुक का कोई ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं है—अभिनव भारती से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी पर वह टीका आज हमें उपलब्ध नहीं है। उनके रसानुमितिसम्बन्धी विचारों के ज्ञान का एकमात्र आधार अभिनवभारती है जहाँ अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस-सूत्र विषयक विविध व्याख्यानों का उल्लेख करते हुए इनका भी मत दिया है। चूँकि आचार्य अभिनवगुप्त इनका मत उद्धृत करते हैं अतः निश्चित ही यह अभिनव से पूर्ववर्ती हैं। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि ये कश्मीर के राजा अजितापीड के समय में (८१३ ई० के लगभग)

---

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १५१

२. ,, ,, पृ० १५२

३. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक—'एवञ्च अन्तर्मात्रविपरिवर्तितया सिद्धसद्भावानां घटादीनां घटादिशब्दा अपि द्योतका एव स्युः न वाचका।' पृ० १५३

४. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—अंक १४० 'सान्तरविपरिवर्तिनः उभयेन्द्रियवेद्यत्वम्।

हुए हैं ।[1] अतः महिमभट्ट को भी इनका तथा इनकी कृति का ज्ञान होना चाहिए । पर 'व्यक्तिविवेक' के अन्तःसाक्ष्य से ऐसा ज्ञात होता है कि शङ्कुक की कृति अथवा विचार का उन्हें बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था । वे ध्वन्यालोक की चन्द्रिका टीका[2] तथा भट्टनायक-कृत हृदयदर्पण[3] को देख न पाने का उल्लेख करते हैं, अभिनव और कुन्तक की पङ्क्तियों को उद्धृत करके उनका खण्डन करते हैं, यदाहुः आदि लिखकर अपने मत की पुष्टि में पाणिनि, आनन्दवर्धन तथा अन्य आचार्यों के मत उद्धृत करते हैं पर अपनी पूरी कृति में वे न तो कहीं शङ्कुक का नाम्ना उल्लेख करते हैं और न ही उनके चित्रतुरगन्यायादि का उल्लेख करते हैं । उन्हें यदि श्री शङ्कुक का ज्ञान होता तो अवश्य ही वे उनकी रसानुमिति तथा चित्रतुरगन्याय का उल्लेख करते—चाहे उनके खण्डन के अभिप्राय से या स्वपक्ष-मण्डन के अभिप्राय से । सुतरां वे तो अपने सर्वथा मौलिक होने की ही प्रतिज्ञा बार-बार करते दिखायी देते हैं ।[4] सम्पूर्ण ग्रन्थ में शङ्कुक के साथ इनका एक ही साम्य परिलक्षित होता है और वह यह कि महिमभट्ट अपना यह मत स्थिर करते हैं कि कृत्रिम विभावादिक से असत्भूत इत्यादि की प्रतीति होती है और उस प्रतीति का परामर्श ही रसास्वाद है ।[5] और काव्य का सर्वस्व तो प्रतीति ही है, क्योंकि उतने से ही विधिनिषेधात्मक कृत्याकृत्यविवेक हो जाता है । इस पर प्रतिपक्षी कह सकता है कि जो रत्यादिक हैं ही नहीं उनकी प्रतीति कैसे हो सकती है । इस तर्क के उत्तर में वे एक आचार्य के मत[6] को उद्धृत करते हुए बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अधोलिखित कारिका को उद्धृत करते हैं—

मणिप्रदीपप्रभयोःमणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।

इसी कारिका को अभिनव ने भी श्रीशङ्कुक के मत के अन्तर्गत उद्धृत किया है ।[7] पर इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि महिमा श्री शङ्कुक के अनुमितिवाद से परिचित थे उचित नहीं होगा इसलिए कि यह भी सर्वथा सम्भव है कि महिमभट्ट ने इस कारिका को इसके मौलिक स्रोत से ही ग्रहण किया हो । यह भी कहना ठीक न होगा कि महिमाचार्य ने सम्भवतः श्री शङ्कुक का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि अनुमितिवाद की स्थापना का समग्र श्रेय वे स्वयं लेना चाहते थे, इसलिए कि श्री शङ्कुक

१. राजतरं० ४।७०४ 'कविबुधमनः सिन्धुः शशाङ्कः शङ्कुकाभिधः ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ।।'

२. व्यक्तिविवेक ११५

३. वही ११४

४. हिन्दी व्यक्तिविवेक ३।३८ "अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।"

५. वही पृ० ७४

६. वही पृ० ७६ 'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा ।'

७. हिन्दी अभिनव भारती पृ० ४४८

या उनके मत का उल्लेख करने पर भी उनकी मौलिकता पर कोई आँच नहीं आती। क्योंकि यद्यपि ये दोनों ही आचार्य अनुमितिवाद के समर्थक हैं तथापि दोनों के उद्देश्य और क्षेत्र सर्वथा भिन्न थे—एक का उद्देश्य था नाट्यशास्त्र की टीका लिखना तो दूसरे का उद्देश्य था ध्वनि का खण्डन और उसे अनुमितिग्राह्य सिद्ध करना। फलस्वरूप जहाँ श्री शङ्कुक रससूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में केवल रस की अनुमेयता का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ महिमा सम्पूर्ण ध्वनि को अनुमेय सिद्ध करते हैं। रसध्वनि उस ध्वनि का एक भेदमात्र है। जहाँ शङ्कुक रस और विभावादिकों में गम्यगमकभाव सम्बन्ध मानते हैं वहाँ महिमाचार्य वाच्य और प्रतीयमान के बीच भी गम्यगमकभाव मानते हैं। महिमा का प्रमुख ध्येय रहा है व्यञ्जना का निराकरण जब कि श्री शङ्कुक को सम्भवतः व्यञ्जना का ज्ञान ही न था। इसके अतिरिक्त जैसा कि चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट किया जायगा दोनों के मतों में भी सूक्ष्म अन्तर है। ऐसी दशा में महिमा को श्रीशङ्कुक का अनुयायी मानना[1] भ्रान्तिमात्र है। महिमा द्वारा श्रीशङ्कुक के उल्लेख न किए जाने के कई कारण हो सकते हैं—हो सकता है महिमा को उनकी कृति प्राप्त न हुई हो अथवा यह भी हो सकता है कि प्राप्त होने के बावजूद भी ध्वनि से असम्बद्ध होने के कारण उन्होंने उसका अनुशीलन उपयोगी न समझा हो। इसके अतिरिक्त दार्शनिकों ने तो शब्द की व्यञ्जना-शक्ति को कभी स्वीकार किया ही नहीं अतः व्यञ्जना की गतार्थता अनुमान में दिखाने का मार्ग महिमभट्ट का अपना हो सकता है।

उक्त विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है कि महिमा श्री शङ्कुक के अनुयायी नहीं थे। जैसा कि तृतीय परिच्छेद में स्पष्ट किया जायगा ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में पूर्व पक्ष के रूप में अनुमितिवाद का उपस्थापन कर उसका खण्डन किया है। यह सर्वथा सम्भव है कि जिस प्रकार महिमा को ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन की प्रेरणा ख्याति के लोभ से मिली[2], उसी प्रकार उसे अनुमिति-ग्राह्य सिद्ध करने की प्रेरणा 'ध्वन्यालोक' के इस अंश से मिली हो।

---

१. (क) "शङ्कुकमतानुयायिनां व्यक्तिविवेककारादीनां मतं दूषयति"—रामचरण सा० द० की टीका

(ख) "सम्भवतः इसने श्री शङ्कुक के अनुमानवाद का अनुसरण किया है—" कन्हैयालाल पोद्दार

(ग) 'He is a follower of श्री शङ्कुक—Comparative Aesthetics Vol. I, K. C. Pande, Page 335

(घ) 'Mahima' s conception of the realisation of रस is probably inspired by that of श्री शङ्कुक quoted in अभिनवभारती and is almost identical with it.' Theories of Rasa and Dhwani.
—A. Sankaran

२. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' १।३

इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचोविवेचनः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥

महिमभट्ट की कृतियाँ

'व्यक्तिविवेक' के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि महिमभट्ट ने 'तत्त्वोक्ति-कोश' नामक एक और ग्रन्थ का निर्माण किया था जिसमें उन्होंने प्रतिभा तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया है।[1] पर खेद की बात है कि आज यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं है। उनकी द्वितीय कृति 'व्यक्तिविवेक' है जिस पर कि प्रकृत प्रबन्ध आधारित है।

'व्यक्तिविवेक' के वैशिष्ट्य अथवा प्रतिपाद्य के विस्तार में जाने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के नामकरण पर किञ्चित् विचार कर लिया जाय। ग्रन्थ के नामकरण की सार्थकता के महत्त्व का प्रतिपादन आचार्य कुन्तक ने किया था[2] और अधिकांश कवियों, नाट्यकारों तथा काव्यतत्त्वसमीक्षकों ने अपनी कृतियों के नामकरण इस प्रकार के किए हैं, जिनसे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का आभास ग्रन्थ के नाम से ही बहुत कुछ हो जाता है। 'व्यक्तिविवेक' भी इसी कोटि के ग्रन्थों में आता है।

'व्यज्' धातु से भाव, करण तथा कर्तृ अर्थों में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से व्यक्ति शब्द निष्पन्न होता है और विवेक का आशय हुआ सदसत्-पार्थक्य। इस प्रकार 'व्यक्तिविवेक' का आशय हुआ व्यक्ति के सदसत् का विवेचन किन्तु व्यक्ति से क्या अर्थ महिमा को अभिप्रेत था, यह प्रश्न विचारणीय है। साधारणतया यह समझा जाता है कि व्यक्ति से महिमा का आशय व्यञ्जना व्यापार से है, अतः 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में शब्द के चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना का ही खण्डन किया गया है,[3] किन्तु ऐसी धारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत होती है। ऐसा मानने पर एक यह प्रश्न उठता है कि तब महिमभट्ट ने सर्वसाधारण में प्रचलित व्यञ्जना शब्द को अपना कर व्यञ्जनाविवेक ही नाम ग्रन्थ का क्यों नहीं रखा? इस द्रविण प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या थी? कोई वे वैय्याकरण तो थे नहीं कि कुछ वर्णों के लाघव से उन्हें पुत्र-जन्म का सा हर्ष-लाभ करना था और न ही आचार्य मम्मट की भाँति सूत्र-शैली के अनुयायी। इसके विपरीत हर सिद्धान्त को पूर्व पक्ष के उपन्यासपूर्वक बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित करते हुए अन्त

---

१. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' पृ० ४५२ २।११९
"...इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्। शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपञ्चितम्॥"

२. 'आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्।
प्रधानसंविधानाङ्कनाम्नाऽपि कुरुते कविः॥' ४।२४ वक्रोक्ति जीवित

३. 'महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक व्यञ्जनाविरोधी ग्रन्थ होने के कारण अलङ्कारशास्त्र में विशेष महत्त्व रखता है।...महिमभट्ट ने व्यञ्जना जैसी शक्ति को सर्वथा अस्वीकार करते हुए अनुमान प्रमाण के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान माना है। महिमा ध्वनिकार की व्यञ्जनाशक्ति का खण्डन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति किस प्रकार अनुमान के अन्तर्गत आती है।' भोलाशङ्कर व्यास, ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त।

में सङ्ग्रहार्याओं के द्वारा सारे विवेचन के सार को उपस्थित करना ही उनका वैशिष्ट्य रहा है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार लक्षणा के साथ-साथ मीमांसकों की गौणी वृत्ति को भी समेटने के अभिप्राय से आचार्य आनन्दवर्धन ने लक्षणा शब्द का प्रयोग न करके भक्ति शब्द अपनाया है[1] उसी प्रकार अभिनव द्वारा विवृत ध्वनि के पाँचों ही अर्थों के खण्डन के लिए ही महिमाचार्य ने 'व्यञ्जना' शब्द न अपनाकार 'व्यक्ति' शब्द अपनाया । अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा विवृत ध्वनि के पांच अर्थ इस प्रकार हैं—

१—ध्वनति यः स शब्दः ध्वनिः

२—ध्वनति यः सोऽर्थः ध्वनिः

३—ध्वन्यन्ते इति व्यङ्ग्यरसादयः ध्वनिः

४ – ध्वन्यते अनेन इति व्यञ्जनाव्यापारः ध्वनिः

५—ध्वन्यते अस्मिन्निति काव्यं ध्वनिः

जैसा कि पीछे प्रतिपादित किया जा चुका है महिमभट्ट आचार्य अभिनवगुप्त से परवर्ती रहे हैं अतः उनके द्वारा विवृत ध्वनि के इन पाँचों ही अर्थों व्यञ्जक शब्द व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जना व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ तथा काव्यविशेष—से भी महिमा पूर्णतया अभिज्ञ थे । यद्यपि ध्वनिकार ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग केवल 'काव्य विशेष' के ही अर्थ में किया है और महिमभट्ट ने भी पूर्वपक्ष उपन्यस्त करते हुए उस ध्वनिकारिका को ही उद्धृत किया है जिसकी व्याख्या में अभिनव ध्वनि के उक्त पाँचों अर्थ देने के अनन्तर यह स्पष्ट कहते हैं कि ध्वनिकार ने ध्वनि का प्रयोग 'काव्यविशेष' अर्थ में ही किया है ।[2] तो भी इससे यह निष्कर्ष निकालना कि महिमा ने भी केवल 'काव्यविशेष' के ही अर्थ में ध्वनि का खण्डन किया है,[3] उचित न होगा. क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाय तो एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् इस प्रतिज्ञा-वाक्य में 'सर्वस्य' का क्या अर्थ है जबकि केवल 'ध्वनि' शब्द से ही कार्य चल सकता था, विशेष रूप से उस समय जबकि 'सर्वस्य' पर बल की अभिव्यक्ति ग्रन्थकार ने 'एव' अवधारण लगाकर किया है । साथ ही महिमकृत पुनरुक्ति-दोष-विवेचन 'सर्वस्य' की महत्ता को और अधिक बढ़ा देता है । यदि इस समस्या का यह समाधान दिया जाय कि 'सर्वस्य' का तात्पर्य ध्वनिकाव्यविशेष के अविवक्षितवाच्यादि भेदों से है

---

१. भाक्तमाहुस्तमन्ये' ध्वन्यालोक १।१

२. 'कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्' ध्व० १।१३ पर लोचन

३. 'ध्वनि-सिद्धान्त के कटु एवं तीव्र विरोधी समर्थ आलोचक महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में आनन्दवर्धन के 'ध्वनि' का इसी (काव्य प्रकार-विशेष) अर्थ में प्रयोग समझ कर उसका प्रतिवाद किया है ।'

सुरभारती के 'सारस्वताङ्क' १९६५-६६ में प्रकाशित 'ध्वन्यालोक में 'ध्वनि' शब्द का अर्थ' नामक लेख, पृ० ४५—डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

तो भी ठीक नहीं इसलिए कि अविवक्षितवाच्यादि ध्वनि के ही भेदोपभेद हैं। उनका अनुमान में अन्तर्भाव ध्वनि के अनुमानान्तर्भाव से ही गतार्थ हो जाता है। अतः इस असङ्गति को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि महिमा को अभिनव द्वारा विवृत ध्वनि के उक्त पाँचों ही अर्थों का खण्डन अभिप्रेत था, इसीलिए व्यञ्जना शब्द न अपनाकर उन्होंने 'व्यक्ति' शब्द अपनाया। इस प्रकार व्यक्ति का अर्थ हुआ —

(१,२) व्यज्यते अनया इति व्यक्तिः व्यञ्जकः शब्दः अर्थश्च

(३) व्यज्यते अनया इति व्यक्तिः व्यञ्जनाव्यापारः इति यावत्।

(४) व्यज्यते इति व्यक्तिः व्यङ्ग्यार्थः

(५) व्यज्यते अस्मिन्निति व्यक्तिः काव्यविशेषः इत्यर्थः।

प्रतिज्ञा-वाक्य के 'सर्वस्य' का भी तात्पर्य इन्हीं पाँचों अर्थों से है तथा प्रथम विमर्श के अनुशीलन से भी इसी धारणा को बल मिलता है। ध्वनि के इन पाँचों ही अर्थों का खण्डन 'व्यक्तिविवेक' में मिलता है किन्तु सबसे अधिक आग्रह ग्रन्थकार का व्यञ्जना व्यापार के ऊपर है, क्योंकि वही सबके मूल में है। ध्वनिकारिका में दश दोषों को दिखाने के उपरान्त अपने विवेचन को संग्रह-आर्याओं में उपनिबद्ध करते हुए वे कहते हैं—

'शब्दस्यैकाभिधाशक्तिः अर्थस्यैकैव लिङ्गता।

न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्' ।। व्य० वि० १/२७

'शब्दस्यैकाभिधाशक्तिः' से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यञ्जना शक्ति का निषेध प्रतिपादित किया है, अतश्च 'व्यञ्जक' शब्द का भी निषेध स्वतः हो जाता है। अर्थ में केवल लिङ्गता होती है अर्थात् अर्थ भी व्यञ्जक नहीं होते। शब्द तथा अर्थ में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध भी नहीं बनता अर्थात् शब्द न व्यञ्जक है और न ही अर्थ व्यङ्ग्य है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का निषेध ग्रन्थकार ने प्रकारान्तर से कर दिया। इन चारों के अभाव में इनके अधिष्ठानभूत ध्वनिकाव्यविशेष का भी निषेध गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार आचार्य जब स्वयं यह कह रहा है कि उसने उक्त चारों तत्त्वों के अभाव का प्रतिपादन किया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने ध्वनि का खण्डन केवल काव्यविशेष अर्थ में किया है? ध्वनि लक्षण में शब्द तथा अर्थ को अनुपादेय सिद्ध करना केवल ध्वनिकारिका में दोषों की वृद्धि दिखाने मात्र के उद्देश्य से नहीं किया गया है, अपितु 'व्यञ्जक' शब्द एवं व्यञ्जक अर्थ को असिद्ध सिद्ध करने के लिए किया गया है। 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' शब्द को अनुपादेय बताना तथा यह सिद्ध करने का प्रयास करना कि शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत नहीं करता, क्या प्रकारान्तर से यह कहना नहीं हुआ कि शब्द व्यञ्जक नहीं होता। इसी प्रकार उपसर्जनीकृतस्वः अर्थ को भी गलत बताने का अर्थ यही हुआ कि अर्थ में व्यञ्जकता का अभाव है। अस्तु।

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह समुल्लसित होता है कि ग्रन्थकार ने 'ध्वनि' के उक्त पाँचों अर्थों का खण्डन किया है तो ध्वनि-विवेक ही ग्रन्थ का नाम क्यों नहीं रखा तथा यदि उसे खण्डन ही अभीष्ट था तो 'चित्रमीमांसाखण्डन' या 'मनोरमाकुचमर्दन' के

सदृश ही व्यक्तिखण्डन या ध्वनिखण्डन आदि कुछ नाम होना चाहिए था। प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि महिमा ने 'ध्वनि-विवेक' नाम इसलिए नहीं लिया होगा कि 'ध्वनि' काव्यशास्त्रियों का अपना शब्द न होकर वैय्याकरणों से गृहीत शब्द है,[1] अतः उपर्युक्त नामकरण होने से वैय्याकरणों के प्रसिद्ध ध्वनि का भ्रम पाठक को हो सकता है। शब्द तो स्वभावतः अपने प्रसिद्ध अर्थ को पहले उपस्थित करता है। दूसरे प्रश्न का उत्तर भी प्रतिज्ञा-वाक्य से मिल जाता है। महिमा कहते हैं—'⋯अन्तर्भावं प्रकाशयितुम्'। प्रकाशन पूर्वस्थित वस्तु का होता है। वस्तुतः ध्वनि अनुमानगम्य है उसका प्रकाशन महिमा करेंगे। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'घञ्' प्रत्ययान्त 'विच्' धातु का प्रयोग शास्त्रों में सदसद्पार्थक्य अर्थ में हुआ है, अतः समस्त अर्थों में व्यक्ति के सदसत्पार्थक्य को महिमा उपस्थित करेंगे—इस प्रकार वे अपने विचारों की उदारता दिखाने के साथ ही यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दुराग्रहवश वे ध्वनि का खण्डन नहीं कर रहे हैं अपितु जैसा कि 'शब्दस्यैकाभिधाशक्तिः⋯' आर्या से स्पष्ट है, उनके अनुसार वस्तुस्थिति ही यही है कि ध्वनि का अस्तित्व नहीं है।

ग्रन्थ का वैशिष्ट्य

समस्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'व्यक्ति-विवेक' अपने ढङ्ग का विलक्षण ग्रन्थ है। एक ओर जहाँ नाट्यशास्त्र में नाट्य के विभिन्न उपादानों का विवेचन मिलता है, वहाँ दूसरी ओर भामह दण्डी आदि के ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न तत्त्वों—काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, गुण, दोष, रीति अलंकारादि का विश्लेषण मिलता है किन्तु महिमा का मार्ग अपना अलग है, इसलिए कि यद्यपि काव्यशास्त्र के विभिन्न उपकरण—काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यदोष, काव्य का जीवित रस का स्वरूप यहाँ तक कि काव्य और नाट्य का भेद आदि—प्रसङ्गतः उनके ग्रन्थ में स्वयं प्रतिपादित हो गए हैं पर इन तत्त्वों का प्रतिपादन ग्रन्थकार का प्रधान उद्देश्य नहीं था। उनका प्रधान उद्देश्य था 'ध्वनि का खण्डन और अनुमितिवाद का प्रस्थापन और उस खण्डन की प्रक्रिया में काव्य के जिन उपकरणों का प्रसङ्ग आया उनका सोपपत्ति विवेचन ग्रन्थकार ने किया।' यही कारण है कि विवेच्य विषयों की जैसी व्यवस्था और जैसा पौर्वापर्य भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन आदि के ग्रन्थों में मिलता है, वैसा 'व्यक्तिविवेक' में दुर्लभ है। अतः ग्रन्थकार के उद्देश्य को ध्यान में न रख पाने के कारण लोगों ने व्यक्ति-विवेक' पर अव्यवस्था का दोष मढ़ा है[2] पर बात ऐसी है नहीं। इसके विपरीत वस्तुस्थिति

१. 'प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः⋯काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।—ध्वन्यालोक १।१३ की वृत्ति

२. 'ग्रन्थ में विषय का विवेचन जितनी विद्वत्ता के साथ किया गया है, उतनी योग्यता के साथ उसे व्यवस्थित रूप नहीं दिया जा सका, परिणामतः सारी सामग्री इतस्ततः अन्धेरे कमरे में बिखरी-सी पड़ी है। ⋯विषय के विवेचन में पूर्वोत्तर भाव का विधान यथास्थान नहीं हो पाया है और जब जो उक्ति सूझी

(अगले पृष्ठ पर)

यह है कि ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भावरूप परम प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रसङ्गोपात्त जितने भी विषय थे - चाहे वे काव्य के उपकरण सम्बन्धी रहे हों या क्रिया के प्रवृत्तिनिमित्तवाद तथा प्रादिक उपसर्गों के द्योतकत्व जैसे अवान्तर विषय हों—उन सब का ग्रन्थकार ने तर्कसङ्गत, युक्तियुक्त, विद्वत्तापूर्ण और हृदयग्राही विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, उसमें अप्रासङ्गिक कुछ भी नहीं। अतः महिमाचार्य पर यह आरोप कि 'ग्रन्थकार विषयवस्तु के प्रतिपादन में बहुधा विषयान्तर की ओर बहक जाता है और कई पृष्ठ के अनन्तर पुनः वह अपने विवेच्य विषय की चर्चा सहसा कर बैठता है।[1] 'उचित नहीं। वस्तुतः ग्रन्थकार की योजना को समझ न पाने के कारण चतुर्वेदी जी ने ऐसा कहा है। विषय-विवेचन तो पूर्ण व्यवस्थित है। किसी भी कथन को तर्क के आधार पर पुष्ट करने में विस्तार स्वाभाविक ही है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

जैसा कि 'व्यक्तिविवेक' के प्रतिज्ञा-वाक्य से ही सुस्पष्ट है, ग्रन्थ लिखने का एकमात्र प्रयोजन था समस्त ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव की सिद्धि। फलस्वरूप ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है, ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन और ध्वनि पद्यों की अनुमानगम्यता की सिद्धि। अतः परावाक् की वन्दना आदि के अनन्तर वे सीधे अपने मुख्य विषय—ध्वनि-कारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' के खण्डन—पर आ जाते हैं और उसे सर्वथा व्यर्थ दिखाने के उद्देश्य से उसमें दस दोषों की उद्भावना करते हैं।[2] ऐसा उन्होंने अभिनव द्वारा विवृत ध्वनि के पाँचों अर्थों के खण्डन के अभिप्राय से किया है। किन्तु पर-पक्ष-खण्डन एवं स्व-पक्ष-मण्डन की इस प्रक्रिया के बीच प्रसङ्गप्राप्त अनेक अवान्तर विषयों का भी समावेश उनके ग्रन्थ में हो गया है। ग्रन्थ के प्रथम विमर्श में आए ऐसे अवान्तर विषय हैं—अलंकारों की अभिधात्मकता का प्रतिपादन, शब्दार्थचतुष्टयवाद तथा क्रिया का शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्व का प्रतिपादन, लक्षणा के शब्दशक्तित्व का खण्डन, लक्ष्यार्थ की अनुमेयता का प्रतिपादन 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का खण्डन, दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापार का खण्डन तथा वक्रोक्तिखण्डन।

ध्वनिकार की प्रथम कारिका 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' में शब्द-अनौचित्यों की उद्भावना के उद्देश्य से वे द्वितीय विमर्श का आरम्भ ही शब्द-दोष-विवेचन से करते हैं और विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रम-भेद पौनरुक्त्य एवं वाच्यावचन नामक पाँच दोषों का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जिनमें से विधेयाविमर्श तथा प्रक्रमभेद तो पूर्णरूप से

उसका वहीं उपन्यास कर दिया है। अतः विषय-विवेचन सुलझा हुआ न होकर उलझा हुआ है। 'संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन'

प्रथम परिच्छेद का पञ्चम विमर्श—ब्रजमोहन चतुर्वेदी,

१. वही

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रकृत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय

महिमभट्ट की ही देन है तथा शेष तीन भी पूर्वाचार्यों द्वारा केवल नाममात्र को प्रतिपादित थे। महिमकृत यह दोष-विवेचन संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनुपम है।[१] इस विमर्श में विशेष उल्लेखनीय अवान्तर प्रसङ्ग हैं—'प्रसज्यप्रतिषेध एवं पर्युदास विषयक विवेचन तथा स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का समर्थन।

ग्रन्थ के तृतीय विमर्श में आचार्य ने ध्वनि-पद्यों की अनुमान-गम्यता की सिद्धि की है।

टीकाकार

'व्यक्तिविवेक' पर अभी तक कुल तीन टीकाएँ निर्मित हुई हैं। इनमें से दो टीकाएँ संस्कृत में हैं तथा पण्डित रेवाप्रसादद्विवेदीकृत तीसरी टीका हिन्दी में है। संस्कृत टीकाओं में मधसूदनीविवृति नामक टीका के रचयिता आधुनिक विद्वान् श्री मधुसूदन मिश्र हैं किन्तु 'व्याख्यान' नामक प्राचीन टीका के रचयिता का नाम नहीं मिलता पर टीकाकार ने एक स्थल पर नाटक-मीमांसा तथा साहित्य-मीमांसा को अपनी अन्य कृति बताया है।[२] अन्यत्र उन्होंने हर्षचरितवार्तिक को अपनी अन्य रचना कहा है।[३] इनमें से साहित्यमीमांसा तथा हर्षचरितवार्तिक को अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी अपनी कृति माना है।[४] पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता राजानक रुय्यक हैं, मङ्खक नहीं। अतः रुय्यक को ही व्याख्यान का भी कर्त्ता माना जा सकता है।

रुय्यककृत यह टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है। व्याख्यानकार कट्टर ध्वनिवादी प्रतीत होते हैं। स्थान-स्थान पर महिमभट्ट के पक्ष के स्पष्टीकरण के अनन्तर वे व्यक्तिवादी की ओर से उसके अभिप्राय को प्रस्तुत करते हुए तथा व्यक्तिवादी का समर्थन करते हुए दिखायी देते हैं। 'इस प्रसङ्ग में वे प्रायः महिमभट्ट के सङ्ग्रह-श्लोकों का उत्तर संग्रह-श्लोकों से ही देते हैं।[५] एक स्थल पर वे महिमभट्ट को पाण्डित्य के गर्व में चूर बताते हैं।[६] अन्यत्र वे उनके प्रमादों का भी उल्लेख करते हैं।[७] दोषों के प्रसङ्ग में जहाँ उन्हें

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रकृत प्रबन्ध का पञ्चम अध्याय

२. 'अस्य च विधेयाविमर्शस्य···अस्माभिः नाटकमीमांसायां साहित्यमीमांसायां च तेषु-तेषु स्थानेषु प्रपञ्चः प्रदर्शितः इति ग्रन्थविस्तरभयादित एवोपरम्यते। —व्य० वि०, पृ० २४३

३. 'एतच्चास्माभिः हर्षचरितवार्तिके निर्णीतमिति तत एवावगन्तव्यम् —व्य० वि०, पृ० ३३७

४. 'एषापि समस्तोपमाप्रतिपादकविषयोऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च तेषु-तेषु प्रदेशेषूदाहृता इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चिता। अलं० सर्व०, पृ० ७७

५. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १४, २०, २३, ६३, १०८

६. एतच्च 'गुणगर्वाध्मातमात्मानमुद्दिश्य भङ्ग्या कथितम्'— हि० व्य० वि०, पृ० ४ (व्याख्यान)

७. 'एतच्चास्य साहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एव स्खलितमिति महान् प्रमादः वही पृ० ४

महिमभट्ट के उदाहरण अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं, वे महिमा के मन्तव्य को स्वीकार नहीं करते ।[1] पुनरुक्ति दोष के प्रसङ्ग में वे महिमा को स्वेच्छाचारी कहने में भी नहीं चूकते ।[2] अन्यत्र महिमा द्वारा उद्भावित उपमा एवं रूपक के दोषों का प्रत्याख्यान करते हुए वे उन्हें हेवाक भी कहते हैं ।[3] किन्तु यथावसर वे महिमा की प्रशंसा भी करते हैं । वे उन्हें 'प्रौढ़वाद' की सूझबूझ में बहुत ही प्रतिभासम्पन्न स्वीकार करते हैं ।[4]

— —

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० ३०६

२. 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' इति न्यायेनातिप्रौढ़तया ग्रन्थकारो निजायत्तां पदार्थव्यवस्थां कर्तुमारब्धः' हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० ३३८ (व्याख्यान)

३. एवंविधे च प्रदेशे ग्रन्थकारो हेवाकितयैव दूषणमदात्' । हि० व्य० वि०, पृ० ३५२ (व्याख्यान)

४. 'कर्तृभेदविषया विरुद्धतां क्त्वो निवार्य घटितक्रियाभिधः ।
प्रौढ़वादरचनाविचक्षणो लक्ष्यसिद्धिमुदितान् कवीन् व्यधात् ॥
—हिन्दीव्यक्तिविवेक, पृ० ४४ (व्याख्यान)

द्वितीय अध्याय

अनुमितिवाद की महिमकृत स्थापना

जैसा कि तृतीय अध्याय में स्पष्ट किया जायगा, महिमभट्ट को प्रतीयमान अर्थ के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। उन्हें विप्रतिपत्ति है इसे व्यङ्ग्य मानने में। फलस्वरूप वे इसकी व्यङ्ग्यता के निराकरणपूर्वक इसकी अनुमेयता का प्रतिपादन करते हैं हैं और अपने इस प्रतिपादन का आधार बनाते हैं—समस्त शाब्द व्यवहार की साध्य-साधनभावगर्भता को। किन्तु इस अनुमितिवाद की प्रस्थापना के लिए यह आवश्यक था कि काव्यशास्त्र के अन्तर्गत जितने भी वाद प्रचलित थे, महिमभट्ट उन सब की अयुक्तता सिद्ध करते। अब तक के प्रचलित वादों में सबसे अधिक ख्यातिलब्ध वाद था ध्वनिवाद। इसके अतिरिक्त मीमांसकों का तात्पर्यवाद भी था जो प्रतीयमान का ज्ञान तात्पर्यशक्तिलभ्य मानता था, कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त था।

महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में इन समस्त वादों का खण्डन किया, पर प्राधान्येन उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का ही खण्डन किया, क्योंकि वही इस समय व्यापक-तम और मान्यतम सिद्धान्त था। साथ में उन्होंने अन्य वादों का भी खण्डन किया। इस प्रकार अन्य प्रस्थानों के खण्डन-पूर्वक उन्होंने अनुमितिवाद का उपस्थापन किया। इस उपपादन के लिए महिमभट्ट ने जो भूमिका स्थिर की, उसमें विषय-प्रतिपादन के अनेक प्रकार अपनाए गए हैं। उनमें प्रथम प्रकार है, ध्वनिलक्षणकारिका के शब्दों में दोषदर्शन। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत महिमा की काव्यानुमिति की उपादेयता निर्धारण करने के अर्थ महिमकृत इन आलोचनाओं का पर्यवेक्षण तथा उनका औचित्य-निर्धारण अपेक्षित प्रतीत होता है।

ध्वनिलक्षणकारिका में उद्भावित दोष तथा उनका परीक्षण

ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन बताने के प्रसङ्ग में महिमभट्ट ने यह बताया था कि उन्होंने समस्त ध्वनि को अनुमानगम्य सिद्ध करने के लिए ही 'व्यक्तिविवेक' की रचना की।[1] ऐसी दशा में ध्वनि एवं उसकी अनुपयुक्तता को सिद्ध करना ग्रन्थकार का कर्तव्य हो जाता है। फलस्वरूप पूर्वपक्ष के रूप में ध्वनिकार की प्रसिद्ध ध्वनिकारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा' को प्रस्तुत करते हुए इसके एक-एक शब्द की शल्य-चिकित्सा महिमभट्ट ने की। ध्वनिकार ने काव्य के तीन भेद माने थे—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र। इनमें से काव्य के उस विशेष प्रकार को उन्होंने 'ध्वनि' संज्ञा दी थी, जिसमें अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ (जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' आदि कारिका में करते हुए जिसे ललना के अङ्गों से पृथक् उसके

---

1. 'अनुमानेऽन्तर्भावं···वाचम्। १।१—'हिन्दी व्यक्तिविवेक'

लावण्य के समकक्ष रखा है) की अभिव्यक्ति करता है। अतः 'ध्वन्यालोक' प्रथमोद्योत में प्रतीयमान की सत्ता सिद्ध करने के बाद वे ध्वनि का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः। (ध्व० १।१३)

इस ध्वनिकारिका की विशद पदकृत्य व्याख्या लोचनकार ने की है। तथापि आचार्य महिमभट्ट ने अधोलिखित आक्षेप इस ध्वनिकारिका में उपस्थित किए हैं—

१. प्रस्तुत कारिका में अर्थ का उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण शब्दतः प्रतिपादित नहीं किया जाना चाहिए, इसलिए कि अर्थान्तर की प्रतीति के लिए उपात्त वाच्यार्थ में (अर्थान्तर की प्रतीति कराते समय ही) उपसर्जनीकृतात्मत्व का व्यभिचरण नहीं देखा जाता है।[1] प्रतीयमान अर्थ के प्रति उपाय रूप होने के कारण वाच्यार्थ सदैव गुणीभूत रहेगा ही, जिस प्रकार अग्नि की सिद्धि में उपायरूप होने के कारण धूम भी गुणता का अतिक्रमण नहीं करता[2]। विशेषण की सार्थकता तो सम्भव तथा व्यभिचार दोनों से ही होती है, जैसे 'नीलमुत्पलम्' उदाहरण में कमल का नील विशेषण सार्थक है, इसलिए कि नीलत्व उस कमलविशेष में विद्यमान है, साथ ही अन्य रक्तोत्पलादि में उस नीलत्व का व्यभिचार भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु शीतोऽग्निः अथवा उष्णोऽग्निः में अग्नि के शीतत्व अथवा उष्णत्व विशेषण सार्थक नहीं कहे जाँयगे, क्योंकि अग्नि में शीतत्व का व्यभिचरण तो है पर सम्भवत्व नहीं है और उष्णत्व विशेषण का अग्नि में सम्भवत्व है पर व्यभिचार नहीं। इसी प्रकार प्रतीयमान के प्रति अव्यभिचरित रूप से गुणीभूत होने के कारण 'उपसर्जनत्व' विशेषण का वाच्यार्थ में सम्भव है, पर व्यभिचार नहीं इसलिए यह विशेषण ठीक नहीं[3]।

इस पर व्यक्तिवादी यह कह सकता है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल में तो वाच्य के प्राधान्य के कारण वाच्य के उपसर्जनत्व का व्यभिचरण दिखाई देता है। अतः अर्थ का यह विशेषण सव्यभिचार होने के कारण सार्थक है। इसके उत्तर में महिमभट्ट का कथन है कि समासोक्त्यादि के स्थलों में जो वाच्य का प्राधान्य है वह प्रतीयमान की अपेक्षा नहीं, अपितु प्राकरणिकत्व की अपेक्षा ही वहाँ वाच्य का प्राधान्य है। उदाहरणार्थ—

उपोढरागेणविलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

---

१. अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्। —हि० व्य० वि०, पृ० ६।

२. न हि अग्नयादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानो गुणतामतिवर्तते। तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्।—हि० व्य० वि०, पृ० ६

३. उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्यविशेषणम्।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः॥—व्य० वि०, १।७

इस उदाहरण में नायक-नायिका का व्यवहार जिस पर समारोपित है, ऐसा निशाशशी का वर्णन ही यहाँ प्राकरणिक है, अतश्च प्रधान है। केवल निशाशशी वाला अर्थ (वाच्य) प्रधान नहीं है। नायकनायिकाव्यवहार वाला अर्थ प्रतीयमान है, गम्य है अतः उसका गमक होने के कारण उसकी अपेक्षा तो यहाँ भी वाच्य गौण ही है, प्रधान नहीं।[1] इस प्रकार वाच्य अव्यभिचरित रूप से ही प्रतीयमान के प्रति उपसर्जनीभूत हुआ। अतः वाच्य का उपसर्जनरूप विशेषण अनुपपन्न है।

इस पर पूर्वपक्षी पुनः यह कह सकता है कि समासोक्त्यादि अलङ्कारों में वाच्य के चारुत्व का प्रकर्ष सर्वसामान्य को भी अनुभवसिद्ध है। वाच्य और व्यङ्ग्य में प्राधान्य का निर्णायक तत्त्व है—चारुत्वोत्कर्ष। इस प्रकार समासोक्ति आदि अलङ्कारों के स्थल में वाच्य की प्रधानता का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर में महिमा का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल में भी प्राधान्य प्रतीयमान का ही है, इसलिए कि वाच्य के चारुत्व का हेतु वही है। स्वयं आनन्दवर्धन ने भी गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में भी वाच्य के चारुत्व का निमित्त प्रतीयमान के संस्पर्श को ही माना है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि काव्य का ऐसा कोई प्रकार हो नहीं सकता, जिसमें प्रतीयमान के संस्पर्श के बिना भी सहृदयाह्लादकारिता सम्भव हो।[2] ऐसी दशा में जिन स्थलों में वाच्य में चारुत्वोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है, वहाँ भी प्रधानता प्रतीयमान की ही मानी जानी चाहिए, क्योंकि चारुत्व का आधायक तत्त्व तो वही है। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी वाच्य चारुतर होते हुए भी प्रतीयमान की अपेक्षा अप्रधान है। अतः निश्चित है, इन स्थलों में भी वाच्य के उपसर्जनत्व का व्यभिचार नहीं पाया जाता। अतः अर्थ का 'उपसर्जनीकृतस्व' विशेषण निरर्थक है।

सम्भव और व्यभिचार पर आधारित विशेषण की उपादेयता सम्बन्धी इस तर्क में कुछ विशेष बल प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः व्याख्यानकार द्वारा इस प्रसङ्ग में उपस्थित किये गये दृष्टान्त को दृष्टि में रखते हुए निष्पक्ष दृष्टि से इस समस्या पर

---

१ 'यत् पुनरस्य क्वचित् समासोक्त्यादौ प्राधान्यमुच्यते तत् प्राकरणिकत्वापेक्षयैव। न प्रतीयमानापेक्षया। यथा—
उपोढरागेणविलोलतारकं···लक्षितम्। अत्र हि प्रतीयमानेनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् इति। तदपेक्षया च तस्य लिङ्गत्वादुपसर्जनीभावाव्यभिचार एव।
—हि० व्य० वि०, पृ० ११

२ यदाह ध्वनिकारः 'सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन न सौभाग्यम्।
मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि। प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्। इति
पुनः स एव यथा—'प्रकारोऽन्योगुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।—हि० व्य० वि०, पृ० १६७, १६८

विचार करने पर इस 'उपसर्जनीकृतस्व' विशेषण में भी सम्भव और व्यभिचार दोनों ही घटित होते दिखायी देते हैं। 'उपसर्जनीकृतस्व' विशेषण है 'अर्थ' का। 'अर्थ' में इस विशषण का सम्भव और व्यभिचार दोनों ही दृष्टिगोचर होता है। अर्थान्तर की प्रतीति के लिए उपात्त अर्थ में यह विशेषण सम्भव है, जैसे कि नीलोत्पल दृष्टान्त में विशेषण 'नील' सम्भव है। इसी प्रकार जहाँ प्रतीयमान होते हुए उपकारकत्वात् अप्रधान होता है, वहाँ उपकार्यत्वात् वाच्य ही प्रधान होता है, ऐसे गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थल में वाच्य में उपसर्जनत्व का व्यभिचार भी देखा जाता है, जैसे कि रक्तोत्पल में नील विशेषण का व्यभिचार दिखायी देता है। अतः 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य में ध्वनिलक्षण की अतिव्याप्ति के व्यावर्तनार्थ ध्वनिकार ने अर्थ का विशेषण 'उपसर्जनीकृतस्व' रखा है जो उक्त प्रकार से सर्वथा साभिप्राय और सार्थक है। किन्तु प्रकृत में विवाद का मूल है महिमा द्वारा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी प्रतीयमान के ही प्राधान्य का प्रतिपादन। वस्तुतः अर्थ के गुणीकृतात्मत्व का निर्णय तीन प्रकार से सम्भव है—

(१) प्रतीयमान उपेय हो और उसके प्रति उपायत्वात वाच्य अप्रधान हो।

(२) प्रतीयमान की अपेक्षा कम चारु होने के कारण वाच्य अप्रधान हो।

(३) अथवा अपने में विश्रान्त होने के कारण दूसरे अर्थ (प्रतीयमान) द्वारा उपकार्य न होने के कारण वाच्य अप्रधान हो।

इनमें से प्रथम दो प्रकारों का व्यक्तिविवेकार ने उपस्थापनपूर्वक खण्डन किया है। 'यो हि यदर्थमुपादीयते, नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति युक्तं वक्तुम्' इत्यादि पङ्क्तियों द्वारा उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि वाच्यार्थ प्रतीयमान की प्रतीति में उपायभूत होने के कारण उसकी अपेक्षा अप्रधान है। उपर्युक्त प्रकार से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी वाच्य प्रतीयमान की अपेक्षा अचारु होता है। अतः वहाँ भी वाच्य अप्रधान ही रहा। किन्तु अन्तिम प्रकार, जिसका कि सम्बन्ध ध्वनि-सिद्धान्त से है, उसे उन्होंने छोड़ दिया है। वस्तुतः वाच्यार्थ के गुणीकृतात्मत्व का यह तृतीय पक्ष गुणीभूतव्यङ्ग्य की व्यावृत्ति के लिए सिद्धान्तित है। जैसे समासोक्त्यादि स्थलों में प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से प्रतीत होने पर भी अपने-आप में निरपेक्ष या निराकांक्ष नहीं रहता और इसीलिए वह लौटकर वाच्यार्थ का उपस्कार करता देखा जाता है। ध्वनिकार ने 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोः निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्' द्वारा यही स्पष्ट किया है। इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य में वाच्यार्थ अपने में विश्रान्त रहता है और प्रतीयमान द्वारा उपस्कृत होने के कारण उपकार्यत्वात् प्रधान होता है। अतः उसके व्यावर्तनार्थ अर्थ का उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण सर्वथा निरवद्य है। इस प्रकार निश्चित हुआ कि अर्थ के गुणीकृतात्मत्व का अर्थ न तो प्रतीयमान की प्रतीति में वाच्य की उपायता ही है और न प्रतीयमान की अपेक्षा उसकी अचारुता है, अपितु प्रतीयमान द्वारा उसकी अनुपकार्यता है।[1]

---

१. 'गुणीकृतात्मतार्थस्य न प्रतीतावुपायता। नाचारुत्वमपि त्वर्थैर्बोद्धैरनुपकार्यता॥
—सङ्ग्रह श्लोक, व्यक्तिविवेक व्याख्यान, पृ० १४।

रही गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरणों में वाच्य के प्राकरणिकत्वजन्य प्राधान्य की बात। जहाँ समासोक्त्यादि किसी प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत हैं, वहाँ तो वाच्य के प्राकरणिक प्राधान्य की बात ठीक है, किन्तु स्फुट पद्यों में प्रकरण प्राधान्य के निर्णय में कैसे सहायक होगा, जैसे कि उपोढरागेण उदाहरण में ही—यह बात समझ में नहीं आती। साथ ही इस स्थल पर महिमा के तर्क में किञ्चित् प्रमाद भी लक्षित होता है। वे कहते हैं अर्थान्तर की प्रतीति के लिए उपात्त वाच्यार्थ में उपसर्जनीकृतात्मत्व के व्यभिचार का सर्वथा अभाव है। उनके इस कथन की सत्यता सभी स्वीकार करेंगे ही, इसलिए कि जो अर्थ किसी और की प्रतीति के लिए उपात्त है, वह साधन या उपायभूत होने के कारण निश्चित है कि अप्रधान होगा, अतः उस अर्थ में अप्राधान्य का व्यभिचरण दृष्टिगोचर हो भी कैसे सकता है। अर्थान्तर की प्रतीति के लिए उपात्त वाच्यार्थ में उपसर्जनत्व का व्यभिचार ढूढ़ना तो वैसे ही हुआ, जैसे कि नीलोत्पल में नीलत्व का व्यभिचरण ढूँढ़ने का प्रयास। नीलत्व का व्यभिचरण उत्पल में मिल सकता है, रक्तोत्पल में मिल सकता है पर नीलोत्पल में नहीं। इसी प्रकार उपसर्जनीकृतात्मत्व का व्यभिचार साधारण वाच्यार्थ में मिल सकता है अर्थान्तर की प्रतीति के लिए उपात्त अर्थ में नहीं। अतः महिमा को 'अर्थ' को इस प्रकार से सोपाधिक नहीं बनाना चाहिये था और तब सम्भवतः उन्हें इतना भ्रम भी नहीं होता।

(२) ध्वनि लक्षण-कारिका में शब्द का उपादान भी निरर्थक है, क्योंकि स्वार्थ प्रत्यायन के अतिरिक्त अर्थान्तर की अभिव्यक्ति की उसमें क्षमता ही नहीं है।[१] वस्तुतः महिमा तो शब्द की केवल एक ही शक्ति—अभिधा—मानते हैं[२] और अर्थान्तर की प्रतीति वे अर्थ से अनुमान द्वारा मानते हैं। अतः अर्थान्तर-प्रतीति के प्रसङ्ग में उन्हें शब्द अर्थान्तर से असम्बद्ध होने के कारण[३] अनावश्यक दिखा पर व्यक्तिवादी आचार्य शब्द का दूसरा व्यापार—व्यञ्जना—स्वीकार करते हैं। अतः व्यञ्जकता के नाते शब्द का साक्षात् सम्बन्ध अर्थान्तर के साथ सम्भव है अतश्च लक्षण में शब्द का उपादान सर्वथा सार्थक है।[४]

(३) महिमा के अनुसार ध्वनिलक्षण में तीसरा दोष है शब्द के गुणीकृतार्थत्व विशेषण की अनुपपन्नता।[५] शब्द का यह विशेषण सर्वथा असम्भव है इसलिए कि शब्द

---

१. शब्दः पुनः अनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः।
—'हिन्दी व्यक्तिविवेक', पृ० १६

२. 'शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः अर्थस्यैकैव लिङ्गता'—'हिन्दी व्यक्तिविवेक', पृ० १११

३. तथा 'न चास्य स्वार्थाभिधानमात्रपर्यवसितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमुपपद्यते, येनायमर्थान्तरमवगमयेत, तदपेक्षं चोपसर्जनीकृतार्थत्वमियात्। अर्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनात्— 'हि० व्यक्तिविवेक' पृ० २६

४. 'व्यक्तिवादिनः पुनर्मते शब्दस्य शक्त्यन्तरसमर्थनात् स्वरूपेणोपादानस्य सार्थकत्वं विवक्ष्यते।' हिन्दी व्य० वि०, पृ० २०

५. 'शब्दस्य च विशेषणमनुपादेयमेव स्याद् अर्थस्य विशिष्टत्वेनैव तदवगतिसिद्धेः।
—हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० ८५

अपने अर्थ को कभी गुणीभूत कर ही नहीं सकता—अनुकरण के स्थलको छोड़कर[1], क्योंकि वहाँ पर (अनुकरण में) शब्द की प्रधानता रहती है अतः उपस्थित भी अर्थ गौण होता है। किन्तु अनुकरण से भिन्न स्थलों में तो शब्द अव्यभिचरित रूप से अपने अर्थ के प्रति उपसर्जनीभूत रहता है इसलिए कि वह (शब्द) उसी (अर्थ) का ज्ञान कराने के लिए अपनाया जाता है। फलस्वरूप साध्य होने के कारण अर्थ प्रधान हुआ और साधन होने के कारण शब्द अप्रधान जिस प्रकार जल साध्य होने के कारण प्रधान है तथा घट उसका साधन होने के कारण अप्रधान। ऐसा स्वीकार न करने पर प्रधान और अप्रधान का कोई मानदण्ड ही नहीं रहेगा।[2] शब्द का गुणीकृतार्थत्व विशेषण दो प्रकार से सम्भव हो सकता है—

(१) आत्मापेक्षया तथा, (२) प्रतीयमानापेक्षया।[3] आत्मापेक्षया तो वह अपने अर्थ को गौण बना ही नहीं सकता जैसा कि अभी स्पष्ट किया जा चुका है और यदि प्रतीयमान की अपेक्षा से इस विशेषण को साभिप्राय मानें तो प्रतीयमान की अपेक्षा तो शब्द नित्य ही अपने अर्थ को गौण बनाता है। ऐसी दशा में गुणीकृतार्थत्व विशेषण शब्द में सम्भव तो है पर उसका शब्द में व्यभिचार न होने के कारण वह शब्द का विशेषण नहीं बन सकता। इतने पर भी यदि गुणीकृतार्थत्व को हम शब्द का विशेषण मान भी लें तो भी शब्दतः उसके उपादान की आवश्यकता नहीं इसलिए कि अर्थ के 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' से ही वह गतार्थ हो जाता है।[4] फलस्वरूप 'उपसर्जनीकृतार्थत्व' के उपादान से लक्षण में पुनरुक्ति दोष आता है।

व्यक्तिवादी की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ के उपसर्जनीकृतार्थत्व से सम्बद्ध महिमा का यह विवेचन भी उनकी दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का परिणाममात्र प्रतीत होता है। उनका प्रथम तर्क कि शब्द (आत्मापेक्षया) अपने अर्थ को कभी गौण बना ही नहीं सकता, ध्वनि के प्रसङ्ग में सर्वथा अप्रासङ्गिक अतश्च व्यर्थ है। उनका यह कथन है कि शब्द में प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा गुणीकृतार्थत्व का कभी व्यभिचार नहीं देखा जाता, सर्वथा निराधार है, इसलिए कि काव्य में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ शब्द के गुणीकृतार्थत्व का व्यभिचार देखा जाता है। उदाहरणार्थ—

---

१. 'न च तस्यानुकरणव्यतिरेकेणोपसर्जनीकृतार्थत्वं सम्भवति।—हि० व्य० वि०, पृ० १६

२. 'अन्यस्य तूपसर्जनीभावाव्यभिचार एव, तस्य तदर्थमुपादानतः, यो हि यदर्थमुपादीयते नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति युक्तं वक्तुम्। यथोदकाद्युपादानार्थमुपात्तो घटादिस्तदेवोदकादि। अन्यथा प्रधानेतरव्यवस्था निर्निबन्धनैव स्यात्।'—हिन्दी व्य० वि० पृ० १७

३. 'शब्दस्य गुणीकृतार्थत्वं स्वार्थापेक्षया, प्रतीयमानापेक्षया चेति द्वैतम्। तत्र स्वार्थापेक्षयासम्भव उक्तः। प्रतीयमानापेक्षया पुनरर्थन्यायेनाव्यभिचारो योजनीयः —हि० व्य० वि०, व्याख्यान पृ० १८

४. 'एवं तर्हि अर्थस्यैवोपसर्जनीभावोऽभिधेयो न शब्दस्य तस्याभिधाया इव तदुपसर्जनीभावाभिधानसामर्थ्यादेव तदवगतिसिद्धेः—हि० व्य० वि०, पृ० २६

दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ।।

इस श्लोक में प्रथम तीन चरणों में प्राकरणिक (वाच्य) तथा अप्राकरणिक (प्रतीयमान) अर्थों की अभिव्यक्ति हो रही है, किन्तु चतुर्थ चरण में 'सलेशम्' पद तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती अर्थात् केवल वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर तो 'सलेशम्' पद अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है। ऐसी दशा में प्रतीयमानार्थ वाच्य की सिद्धि में सहायक होने के कारण उसका उपकारक बना और इसीलिए वाच्य उपकार्य अतश्च प्रधान बना। अतः यहाँ पर शब्द का वाच्यार्थ प्रतीयमान के प्रति गुणीभूत नहीं हुआ। इस गुणीभूतव्यङ्ग्य में ध्वनिलक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ शब्द का गुणीकृतार्थत्व विशेषण आवश्यक था। इस प्रकार प्रतीयमान की अपेक्षा शब्द की गुणीकृतार्थता के स्वीकार करने पर उसके व्यभिचरण के स्थल हैं। अतः शब्द का यह विशेषण सप्रयोजन है।[1] महिमा का तृतीय आक्षेप कि शब्द के गुणीकृतार्थत्व का शब्दतः उपादान पुनरुक्ति दोष से दूषित है कारण कि अर्थ के विशेषण से ही वह गतार्थ हो जाता है, ठीक नहीं। वस्तुतः गुणीकृतार्थत्व विशेषण का उपादान शब्द के उपादान से सम्बद्ध है। महिमा के अनुसार तो शब्द भी लक्षण में अनावश्यक है पर महिमा द्वारा उद्भावित द्वितीय दोष के निराकरण के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द की शक्त्यन्तर में शक्ति मानने के कारण व्यक्तिवादी के अनुसार शब्द का उपादान आवश्यक है। और यदि शब्द का स्वरूपतः प्रतिपादन आवश्यक है तो उसके विशेषण का भी उपादान आवश्यक ही है। व्यक्तिवादी शाब्दी और आर्थी भेद से व्यञ्जना के दो भेद मानते हैं। शाब्दी व्यञ्जना के स्थलों में अर्थ भी व्यञ्जक होता है किन्तु सहकारी के रूप में। इसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना के क्षेत्र में शब्द सहकारी हुआ करता है।[2] किन्तु स्थलविशेष में किसकी व्यञ्जकता मानी जाय, इसका निर्णायक प्राधान्य होता है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से। अतश्च शब्द और अर्थ का पृथक्-पृथक् उपादान आवश्यक था और उनकी इस प्रधानता के द्योतनार्थ ही कारिका में विकल्पार्थक 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] (यद्यपि उस 'वा' के प्रयोग के कारण ही 'व्यङ्क्तः' का द्विवचन भी अनुपपन्न प्रतीत

---

१. 'तस्य चोपसर्जनीकृतार्थत्वं विशेषणं सप्रयोजनमेव तथा हि दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया' इत्यादौ प्रतीयमानस्यार्थस्य शब्दस्पृष्टत्वाद् वाच्यं प्रत्युपस्कारकत्वाद् वाच्यार्थापेक्षया शब्दस्य गुणीकृतार्थत्वं नास्ति। तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणमुपादेयमेव।' —हि० व्य० वि०, व्या०, पृ० २०

२. 'यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकः तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि भवत्येव। विशिष्टशब्दस्याभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १८९

३. 'अर्थः शब्दो वेति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण'—लोचन, पृ० १९०

होता है) और इसीलिए अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व से शब्द के उपसर्जनीकृतार्थत्व के गतार्थ हो जाने के बावजूद भी उसका शब्दतः उपादान आवश्यक था।

(४) 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ' यहाँ पर 'तम्' इस प्रकार तद् शब्द का पुंस्त्वेन निर्देश अशुद्ध है। तद् शब्द यहाँ पर पूर्वतः प्रक्रान्तार्थ का परामर्शक है। अतः इसका पुल्लिङ्ग से विशिष्ट होना आपत्तिजनक है। उस लिङ्ग से युक्त कोई भी अर्थ यहाँ प्रक्रान्त नहीं है। वस्तुतः 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' तथा 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' कारिकाओं में अर्थतत्त्व का उल्लेख नपुंसक लिङ्ग से किया गया है। उसी अर्थ का परामर्शक होने के कारण प्रकृत कारिका में 'तद्' का पुल्लिङ्ग 'तम्' द्वारा निर्देश सदोष है। उसे 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव', 'सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु' के अनुसार वस्तु का परामर्शक होने के कारण नपुंसक लिङ्ग में ही होना चाहिए। पर यहाँ पर तद् का लिङ्ग परिवर्तन न कर उन्हीं स्थलों पर ही नपुंसकलिङ्ग के स्थान पर पुंल्लिङ्ग का प्रयोग करने से पर्याय-प्रक्रमभेद दोष तथा पुंस्त्वेन निर्देश यह दोनों ही दोष दूर हो जाते हैं।[1]

महिमा के इस आक्षेप के विषय में ध्वनिवादी की ओर से यह कहा जा सकता है, कि ध्वनि-लक्षण कारिका से अव्यवहितपूर्व प्रथमोद्योत की १२वीं कारिका में आनन्दवर्धन ने प्रतीयमानार्थ का निर्देश पुंस्त्वेन ही किया है—

> तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
> बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१।१२

अतः प्रस्तुत कारिका में भी 'तमर्थं' पद से उसी 'सोऽर्थः' का परामर्श होने के कारण यहाँ पर्यायप्रक्रमभेद दोष नहीं आता। रही प्रथमोद्योत की उपरिनिर्दिष्ट चतुर्थ तथा षष्ठ कारिकाओं में 'अर्थ' के नपुंसकत्वेन निर्देश की बात तो सम्भवतः ध्वनिकार ने श्लोक में चमत्कार लाने के लिए ही ऐसा किया है।[2]

५. एवं ६. 'यत्रार्थः शब्दोवा' में 'वा' पद तथा 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन दोनों ही अनुपपन्न हैं। इनमें 'वा' या तो विकल्पार्थक होता है या समुच्चायार्थक, किन्तु प्रकृत

---

१. 'किञ्च तमिति तदः पुंस्त्वेन निर्देशोऽनुपपन्नः। तस्यानन्तरप्रकान्तार्थपरामर्शिनः तल्लिङ्गतापत्तेः। न चात्र तल्लिङ्गताविशिष्टः कश्चिदर्थः प्रक्रान्तः वस्तुतो नपुंसकल्लिङ्गस्यानन्तरं प्रक्रान्तत्वात्। तेन तत्रैव'—

> प्रतीयमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> योऽसौ प्रसिद्धावयवातिरिक्तश्चकास्ति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

इति 'सरस्वती स्वादुतमं तमर्थमिति' पाठविपर्यासः कर्तव्यः। न त्वत्रैव 'वस्तु तदिति'। तत्रैव हि पाठविपर्यासे पर्यायप्रक्रमभेदः पुंस्त्वनिर्देशश्च परिहृतौ भवतः। अत्र त्वेक एव तदः पुंस्त्वनिर्देशदोषः।—हि० व्य० वि०, पृ० ६७।

२. 'वस्तुतः उनका यह संशोधन कोई आवश्यक कार्य नहीं था। आनन्दवर्धन काव्य की भाषा में रहस्यतत्व का विश्लेषण सूचना रूप से करते हैं। वे श्लोक-चमत्कार के लिए अर्थ को नपुंसकलिङ्ग में लाने के लिये वस्तु शब्द से कहते हैं। इसमें वक्रोक्ति-जीवितकार की आलोचना के अनुसार एकलिङ्गवक्रता नामक गुण छिपा रहता है जो चमत्कार का कारण है।'—हि० व्य० वि०, पृ० ६८

में यह अपने किसी भी अर्थ में उपयुक्त नहीं है। इसे यदि विकल्पार्थक माना जाता है तो ठीक नहीं, इसलिए कि 'शब्द' में शक्त्यन्तर का अभाव होने के कारण उसका व्यङ्क्तः क्रिया के साथ अन्वय बनता ही नहीं।[1] और यदि शब्द की व्यञ्जकता को तुष्यद्दुर्जनन्यायेन स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी 'वा' को विकल्पार्थक स्वीकार करने पर 'व्यङ्क्तः' का द्विवचन असङ्गत सिद्ध होगा इसलिए कि विकल्प तो एकार्थक हुआ करता है। जैसे 'शिरः' श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' वाक्य में विकल्पार्थक 'वा' के कारण ही 'परिमृशेत्' क्रियापद को एकवचन में रक्खा गया है।[2] इस दोष से बचने के लिए यदि 'वा' शब्द को समुच्चयार्थक मान लेते हैं तो भी दोष से छुटकारा नहीं, इसलिए कि तब जहाँ शब्द और अर्थ दोनों व्यञ्जक होंगे वहीं ध्वनित्व होगा और ऐसे स्थल ध्वनि के क्षेत्र से बाहर हो जाँयगे, जहाँ केवल शब्द अथवा केवल अर्थ की व्यञ्जकता है।[3]

फलस्वरूप लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। इस पर अभिनवगुप्त का यह तर्क कि वस्तुतः ध्वनि के हर स्थल में शब्द और अर्थ दोनों व्यञ्जक होते हैं—उनमें से जहाँ एक का प्राधान्य होता है, दूसरे की सहकारिता होती है—अतः 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन सर्वथा निर्दोष है तथा इस प्राधान्य के ही अभिप्राय से ध्वनिकार ने विकल्पार्थक 'वा' शब्द का प्रयोग किया है, ठीक नहीं, इसलिए कि अर्थ और शब्द की प्रतीति में एककालिकता सम्भव नहीं है। शब्द की प्रतीति पहले होती है तब अर्थ की प्रतीति, होती है। प्रतीति ज्ञान का पर्याय है जो कि तीसरे क्षण नष्ट होने वाला है। अतः एक ज्ञान के नष्ट होने के बाद ही दूसरा ज्ञान होता है। इस प्रकार वाच्य और वाचक के ज्ञान में क्रम होने के कारण उनका साहचर्य सम्भव ही नहीं। फलस्वरूप दोनों की प्रतीति की एककालिकता भी सम्भव नहीं अतः एक क्रिया में एक साथ इनका अन्वय सम्भव नहीं। व्यङ्क्तः क्रिया के साथ शब्द का अन्वय इसलिए भी सम्भव नहीं है कि शब्द का अभिधा से भिन्न व्यापार होता ही नहीं। इस प्रकार व्यक्ति क्रिया के प्रति दोनों का कर्तृत्व असम्भव सिद्ध हो जाने पर व्यङ्क्तः का द्विवचन तो अनुपपन्न हुआ ही, साथ ही इस सहकारिता पर आधारित प्राधान्य के आधार पर 'वा' के विकल्पार्थकत्व का भी समर्थन भ्रान्ति ही है।[4]

---

१. 'किञ्चात्र वा शब्दो विकल्पार्थो वा स्यात् समुच्चयार्थो वा। न तावद्विकल्पार्थः पक्षान्तरासम्भवस्य व्युत्पादितत्वात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ८४

२. 'सम्भवे वास्य द्विवचनानुपपत्तिः, तयोस्समुच्च्याभावात्। यथा शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' इत्यत्र बहुवचनस्य।—हि० व्य० वि०, पृ ८४

३. 'समुच्चयार्थत्वे यत्र शब्दार्थयोरेकैकस्य व्यञ्जकत्वं तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्।' —हि० व्य० वि०, पृ० ८४

४. 'अत्र केचिद्विद्वन्मानिनो द्विवचनसमर्थनामनोरथाक्षिप्तचित्ततया वाच्यवाचकयोः विस्मृतसुप्रसिद्धप्रतीतिक्रमभावास्तयोरेककालिकतां शब्दस्योक्तनयनिरस्तामपि व्यञ्जकतां पश्यन्तस्तन्निबन्धनां ध्वनिभेदयोरविवक्षितविवक्षितान्यपरवाच्ययोः ध्वननव्यापारं प्रति पर्यायेणान्योन्यसहकारितां, तदपेक्षां चानयोः प्रधानेतरतामुपकल्प्यसहकारितया

७. 'व्यक्तः'—लक्षण में यह जो कहा गया है कि वाच्य प्रतीयमान को व्यक्त करता है यह भी ठीक नहीं, इसलिए कि वाच्य और प्रतीयमान के बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव घटित ही नहीं होता। सत् अथवा असत् प्रकाशित होने वाले पदार्थ का सम्बन्ध-स्मरण की अपेक्षा के बिना प्रकाशक के साथ ही प्रकाशित होना अभिव्यक्ति कहलाता है। इनमें से सद्विषयक अभिव्यक्ति तीन प्रकार की होती है—[1]

१. कारण में शक्तिरूप से स्थित होने के कारण तिरोभूत कार्य की इन्द्रिय-विषयतापत्ति, जैसे क्षीरादि की अवस्था में दध्यादि की अभिव्यक्ति।[2]

२. आविर्भूत पदार्थ का भी जो किसी प्रतिबन्धक के कारण प्रकाशित न हो रहा हो, किसी प्रकाशक द्वारा जो स्वयं अप्रधान हो, अपने साथ-साथ प्रकाशन जैसे प्रदीपादि द्वारा घट की अभिव्यक्ति।[3]

३. पूर्वानुभूत वस्तु के संस्कार का (जो संस्कार कि अन्तःकरण में विद्यमान है) उससे नियत रूप से सम्बद्ध अर्थान्तर द्वारा अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा उद्बोधनमात्र।[4] स्मृति रूप यह तृतीया अभिव्यक्ति भी उद्बोधक के त्रैविध्य से त्रिविध होती है।[5] इनमें प्रथम है व्याप्ति सम्बन्ध से सम्बद्ध हेतु धूमादि से अग्न्यादि की अभिव्यक्ति। द्वितीय है लिपि प्रतिबिम्ब अनुसरणादि से सदृश वस्त्वन्तर की अभिव्यक्ति तथा तृतीय है वाचक शब्द

व्यक्तिक्रियां प्रत्युभयोरपि कर्तृत्वात् तदपेक्षो व्यङ्क्त इति द्विवचननिर्देशः प्राधान्यापेक्षश्च 'यत्रार्थः शब्दो वेति' विकल्प इति मान्यमानाः व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—

यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्य सहकारिता न त्रुट्यति। अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव। विशिष्टशब्दाभिधेयतया बिना तस्यार्थस्याञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोर्ध्वननव्यापारः। एवञ्च भट्टनायकेन द्विवचनं यद् दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाधिमानं प्राधान्याभिप्रायेण' इति यदाहुस्तद् भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्त्वमित्यलमवस्तुनिर्बन्धेन।—हि० व्य० वि०, पृ० ८६।

१. 'नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सम्भवति व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः। तथा हि सतोऽसत एवार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानवेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्'। हि० व्य० वि०, पृ० ८०।

२. तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः।—हि० व्य० वि०, पृ० ८०

३. तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः। हि० व्य० वि०, पृ० ८०।

४. तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया।' हि० व्य० वि०, पृ० ८०

५. तदपि प्रबोधकत्रैविध्यात् त्रिविधम्। प्रबोधकं च नान्तरीयकं धूमादि, सदृशवस्त्वन्तरं, वाचकः शब्दः इति त्रिविधम्। हि० व्य० वि०, पृ० ७८ (व्या०)

द्वारा गो आदि की अभिव्यक्ति। असत् विषयक अभिव्यक्ति केवल एक प्रकार की होती है, क्योंकि असत् के भेद-प्रभेद सम्भव नहीं।

इनमें से सद्विषयक विविध अभिव्यक्ति-भेदों में से प्रथम दो प्रकार की अभिव्यक्तियों की वाच्य तथा प्रतीयमान में सङ्गति नहीं हो सकती, इसलिए कि वाच्य और प्रतीयमान के बीच प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर जिस प्रकार दध्यादि पदार्थ का इन्द्रिय-साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ का भी इन्द्रिय-साक्षात्कार होना चाहिए। द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर जिस प्रकार प्रदीपादि के साथ यह घट इस प्रकार का है, ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार वाच्यार्थज्ञान के साथ ही प्रतीयमान की इदन्ता भासित होनी चाहिए, पर प्रतीयमान के ज्ञान के समय ऐसा भी नहीं होता।[1] इस प्रकार वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति को न तो परिणति रूप अभिव्यक्ति मान सकते हैं, और न ज्ञप्ति रूप अभिव्यक्ति मान सकते हैं। अभिव्यक्ति का तीसरा प्रकार ही वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति में लागू होता है किन्तु वह अनुमिति से भिन्न कुछ नहीं है क्योंकि तृतीय प्रकार की अभिव्यक्ति का जो लक्षण है, वह अनुमान में सङ्गत होता है, व्यक्ति में नहीं। अतः वह अनुमान रूप ही है, क्योंकि एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की प्रतीति अनुमान छोड़कर और कोई तत्त्व सिद्ध नहीं होती।[2]

वाच्य से होने वाली प्रतीयमान की प्रतीति की अनुमानरूपता को सिद्ध करते हुए महिमा का कथन है कि प्रतीयमान की अभिव्यक्ति मानने पर उसमें अभिव्यक्ति का लक्षण घटित नहीं होता, इसलिए कि—

१. वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति अविनाभावसम्बन्ध के स्मरण के बिना सम्भव नहीं। ऐसा न मानने पर हर वस्तु से हर वस्तु की प्रतीति का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और अविनाभावसम्बन्ध से अर्थ की प्रतीति तो अनुमान ही है।[3]

२. वाच्य व्यङ्ग्य की प्रतीति साथ-साथ भी नहीं होती, बल्कि धूम और अग्नि की प्रतीतियों के समान ही उनमें भी क्रम है।[4]

सारांश यह है कि अभिव्यक्ति में प्रकाशक और प्रकाशमान के प्रकाशन में क्रम नहीं होता, जब कि वाच्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम होता है। अभिव्यक्ति में प्रकाशमान सम्बन्ध-स्मरण की अपेक्षा नहीं रखता, जब कि वाच्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति बिना सम्बन्ध

---

१. 'सतोऽभिव्यक्तेर्यदाद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत् प्रतीयमानेष्वेकमपि सम्प्रष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्'।—हि० व्य० वि०, पृ० ८१

२. 'तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः। तच्चानुमानमेव। न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते।—हि० व्य० वि०, पृ० ८१

३. (क) 'न च वाच्यादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्'—हि० व्य० वि०, पृ० ८२।

(ख)'''सामान्येन च सम्बन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानम्'—हि० व्य० वि०, पृ० ८१

४. 'नापि सहभावेन धूमाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनाद् इत्यसम्भवो लक्षणदोषः—हि० व्य० वि०, पृ० ८३

के सम्भव ही नहीं। इस प्रकार अभिव्यक्ति का लक्षण प्रतीयमानरूप लक्ष्य में घटित न होने से लक्षण असम्भव दोष से दूषित हुआ। अब इस दोष से बचने के लिए यदि व्यक्तिवादी यह कहे कि रसादि की दृष्टि से वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति साथ-साथ मान ली जाय तो भी अभिव्यक्ति प्रतीयमान का लक्षण नहीं बन सकती क्योंकि वस्त्वलङ्कारध्वनि के उदाहरणों में लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी क्योंकि वहाँ तो क्रम है ही।[1] फलतः लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। रस आदि में भी प्रकाशक विभावादि के ज्ञान के साथ उनका (रसादि का) ज्ञान नहीं होता, इसलिए कि विभावादि कारण हैं रस उनके कार्य हैं। कारणकार्य का साथ-साथ प्रकाशन असम्भव है अन्यथा कार्यकारणभाव के अवसाय का ही उच्छेद हो जायगा।[2] ऐसी स्थिति में कार्यकारणभाव के रहते हुए भी रसादि की प्रतीति में क्रम का अभाव नहीं मान सकते। फलस्वरूप रसादि में भी व्यक्ति का लक्षण घटित नहीं होता तथा जहाँ इसका लक्षण घटता है वे घट प्रदीपादि काव्य ही नहीं हैं तो काव्यविशेष ध्वनि कैसे हो सकते हैं।[3] इस प्रकार रस, अलंकार और वस्तु ध्वनि के तीनों ही भेदों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नहीं बनता, क्योंकि उनमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की साधिका 'सहभावेनप्रतीति' नहीं है।

विचार करने पर व्यक्तिविषयक महिमकृत यह विवेचन भी उनका पौरोभाग्य ही ठहरता है। प्रदर्शित तो उन्होंने यही किया है कि वे पूर्वपक्षी के साथ पूर्ण न्याय बरत रहे हैं पर वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। महिमभट्ट ने यह जो कहा कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम है, सहभावेन प्रतीति का अभाव है तो इस तथ्य को ध्वनिवादी कब इनकारता है। उन्होंने संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नाम से ध्वनि के जो दो भेद माने हैं, वाच्य और व्यङ्ग्य की क्रमिक प्रतीति तो इस नामकरण से ही गतार्थ हो जाती है। रसादि की प्रतीति में भी व्यक्तिवादी क्रम स्वीकार करता ही है अन्यथा असंलक्ष्य कहने का कोई आशय नहीं निकलता, पर यह क्रम शतपत्रपत्रभेदनन्यायेन लक्षित नहीं होता। जिस प्रकार एक पर एक रखे गए कमल के सौ पत्तों को भेदक यह समझता है कि सभी पत्र एक साथ भिद गये हैं पर वस्तुतः वहाँ क्रम है, इसी प्रकार विभावादि से रसादि की चर्वणा होते समय भी विभावादि ज्ञान और रस में पौर्वापर्य है जो अति सूक्ष्म होने के कारण परिलक्षित नहीं होता।[4] रही प्रथम आक्षेप की बात

---

१. अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेनप्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हिलक्षणदोषः। वस्तुमात्रालङ्कारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः'—हि० व्य० वि०, पृ० ८३

२. 'न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते।··· कार्यकारणभावावसायस्यैावसादप्रसङ्गात् – हि० व्य० वि०, पृ० ८३

३. 'यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति कुत एव तद्विशेषध्वनिरूपता स्यात्—हि० व्य० वि०, पृ० ८३

४. 'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव च तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिः इति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाशत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो-व्यङ्ग्या रसादयः।' इति—ध्वन्यालोक पृ० १८७

कि हर किसी से हर किसी की प्रतीति नहीं मान सकते और अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति मानी जा सकती है तो व्यक्तिवादी कब यह कहते हैं कि वे बिना किसी सम्बन्ध के ही अर्थान्तर की प्रतीति मानते हैं। वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य-ज्ञान तथा शब्दगत ध्वनन-व्यापार के बिना वे भी तो प्रतीयमान की अवगति स्वीकार नहीं करते।[1] इन दो तथ्यों को आधार बनाकर महिमा ने प्रतीयमान को अनुमेय सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, वह 'अभिव्यक्ति' का ठीक-ठीक अर्थ न समझ पाने के ही कारण किया है। वस्तुतः उन्होंने यहाँ अभिव्यक्ति का अपने ढङ्ग से लक्षण प्रस्तुत किया है और उसी को आधार बनाकर सदसद्विषयक चतुर्विधा व्यक्ति को उद्भावना करके अभिव्यक्तिवाद के अन्तर्गत रसादि की इन्द्रियगोचरता की प्रसक्ति दिखायी है। पर यह उचित नहीं इसलिए कि अपने मनगढन्त लक्षण के द्वारा दूसरे का सिद्धान्त दूषित नहीं किया जा सकता।[2] व्यक्तिवादी आचार्य प्रकाशमान का प्रकाशक के साथ-साथ प्रकाश विषयतापत्ति को अभिव्यक्ति नहीं मानते जैसाकि महिमा मानते हैं। उन्होंने व्यञ्जक का जो लक्षण किया है, वह है 'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।' यथा दीपो घटस्य।

इस प्रकार अपने ज्ञान के द्वारा जो अन्य के ज्ञान का हेतु हो वह व्यञ्जक हुआ। यहाँ पर ज्ञान ज्ञानसामान्य का वाचक है प्रत्यक्षादि विशिष्ट ज्ञान का नहीं। अतः दध्यादि अथवा घटादि के सदृश रसादि की इन्द्रियगोचरता का प्रसङ्ग नही उठता। रही रसादि के धीगोचरत्व की बात उसके लिए सहृदय प्रमाण है कि वह धीगोचर है या नहीं। रसादिक की अभिव्यक्तिसे भी व्यक्तिवादी का अभिप्राय व्यञ्जक-व्यङ्ग्य की सहभावेन प्रतीति तथा उनके बीच क्रमा-भाव न होकर केवल इतना है कि व्यङ्ग्यरूप से अभिमत रसादि की जिस समय प्रतीति होती रहती है, उस समय व्यञ्जक विभावादि की प्रतीति निवृत्त नहीं हो जाती, क्योंकि रसादि की प्रतीति उनके साथ साथ देखी जाती है। इसके विपरीत शक्तिवादी का यह आशयकदापि नहीं है कि व्यञ्जक की प्रतीति के समय नियमित रूप से व्यङ्ग्य की प्रतीत होती है। व्यङ्ग्य की प्रतीति के समय नियम से व्यञ्जक की प्रतीत होती है इस आशय से ही रसरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति में व्यक्तिवादी ने क्रमहीनता तथा व्यक्ति का समर्थन किया है।[3]

---

१. केनोक्तं 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापार विरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्।
—लोचन, पृ० १२६

२. 'यत्तु सदसद्विषयत्वेन चतुर्विधा व्यक्तिरत्रोन्मीलिता तदपि न सङ्गतं घटप्रदीपन्यायस्यात्रेष्टत्वात्। योऽपीन्द्रियगोचरतापत्तिप्रसङ्गः उद्भावितः सोऽप्यसमञ्जसः। न ह्यात्मीयेन लक्षणेन परमतं दूष्यते।—हि० व्य० वि० व्या०, पृ० ६३

३. 'किन्तु व्यङ्ग्याभिमतस्य रसादेर्यदा प्रतिपत्तिर्जायते, तदा व्यञ्जकस्य विभावादेः प्रतिपत्तिर्न निवर्तते तत्सहभावेन रसादेः प्रतीतेः।...व्यञ्जकप्रतीतिकाले हि नियमेन व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति नास्माकमाशयः। व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले तु नियमेन व्यञ्जकप्रतीति र्भवत्येवेत्याशयेनाक्रमत्वं व्यक्तिश्च समर्थिता। तथा चोक्तम्—न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनादि'त्यादि न तु विपर्ययेणोक्तं 'न हि वाच्ये प्रतीयमाने व्यङ्ग्यबुद्धिर्दूरीभवतीति।—हि० व्य० वि० व्या०, पृ० ६३

अब रही वाच्य और प्रतीयमान के बीच निमित्तनिमित्तिभाव की बात, जिसके आधार पर महिमा प्रतीयमान की अनुमेयता का प्रतिपादन करते हैं। व्यक्तिवादी आचार्य कार्यकारणभाव को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वह कार्यकारणभाव दूसरा है जो गम्यगमकभाव का प्रयोजक है और जिसमें गम्य की प्रतीति के समय गमक की प्रतीति नहीं होती तथा वह कार्यकारणभाव भिन्न है जो व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का साधक है तथा जिसमें गम्य की प्रतीति के समय गमक की भी प्रतीति होती रहती है।[1]

इस प्रकार रसादि की व्यञ्जकता में कोई आपत्ति नहीं आती। (रसादि की अभिव्यक्ति का पक्ष सर्वथा निरवद्य है।)

(८) व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव वस्तुतः वहीं होता है जहाँ ज्ञाप्य और ज्ञापक की सहभावेन प्रतीति हो।[2] इसके विपरीत वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीतियों के बीच क्रम है अतः वहाँ पर तो गम्यगमकभाव ही स्वीकार करना अधिक न्यायसङ्गत है। वस्तुतः यह व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव तो 'ध्वनि' नाम से पुकारे जाने वाले श्रूयमाण शब्दों तथा श्रोता और वक्ता के मस्तिष्क में विद्यमान स्फोट रूप अर्थ के बीच भी नहीं बनता, क्योंकि वहाँ भी क्रम सुस्पष्ट है, अतः वहाँ भी गम्यगमकभाव ही है। ऐसी दशा में व्यञ्जकत्व के साम्य के आधार पर शब्दार्थात्मक काव्य की जो 'ध्वनि' संज्ञा की है, वह भी अनुपपन्न है, क्योंकि उस नामकरण के आधार व्यञ्जकत्व का ही दोनों जगह अभाव है।[3] वस्तुतः महिमा के इस भ्रम का मूल है उनके व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविषयक दृष्टि का भेद। आनन्दवर्धन के अनुसार यहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सर्वथा उपपन्न है, अतः काव्य का ध्वनि नाम भी अनुपपन्न नहीं है।

(९) 'काव्यविशेष' में 'विशेष' पद अनुपपन्न है। क्योंकि काव्यमात्र ही ध्वनि है।[4] ध्वनिकार ने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' ध्व० १।५ के द्वारा स्पष्ट ही रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है[5] और रस के अभाव में तो काव्यता ही नहीं होगी,

---

१. 'निमित्तनिमित्तिभावस्तु नाङ्गीकृतोऽस्माभिः। केवलं सोऽन्यादृशो गम्यगमकभावप्रयोजको यत्र गम्यस्य गमकोपरागो न प्रतीयते। अन्यादृशश्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावप्रयोजको यत्र प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकोपरागप्रतिपत्तिः। तेन नास्ति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वे विप्रतिपत्तिः'—हि० व्य० वि० व्या०, पृ० ६३

२. 'सतोऽसत एवार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानवेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते।'—हि० व्य० वि०, पृ० ८०

३. 'अतएव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानामन्तःसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्नः तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ६१

४. 'अपि च काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नं काव्यमात्रस्य ध्वनिविषयत्वेनेष्टत्वात्'—हि० व्य० वि०, पृ० ९८।

५. 'तस्य रसात्मकत्वोपगमात्। यत् स एवाह —
काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥—हि० व्य० वि०, पृ० ९८

विशिष्टता कहाँ से होगी ?[१] क्योंकि विभावादि की समीचीन योजना से युक्त तथा अव्यभिचरित रूप से रसाभिव्यक्ति करने वाला कविव्यापार ही काव्य कहलाता है ।[२]

काव्य का वैशिष्ट्य दो ही प्रकार से सम्भव है—(१) स्वरूपकृत, (२) रसकृत । इनमें स्वरूपकृत वैशिष्ट्य काव्य का माना नहीं जा सकता, क्योंकि सभी काव्य रसयुक्त होने से एक से माने गए हैं । रसकृत विशेष भी काव्य का सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो निरतिशय सुखास्वादस्वरूप है ।[३] रसकृत वैशिष्ट्य को यदि स्वीकार कर भी लिया जाय तो वह पाँच प्रकार से सम्भव हो सकता है—(१) चमत्कारातिशयकृत, (२) भेदान्तरकृत, (३) रसरहितसुन्दरशब्दार्थापेक्षाकृत, (४) वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यरूपकृत तथा (५) अङ्गीभावकृत ।

(१) इनमें चमत्कारातिशयकृतवैशिष्ट्य तो इसलिए अग्राह्य है कि जब काव्य को रसात्मक स्वीकार किया गया है और रस निरतिशयसुखास्वादरूप है तो उस काव्य में रसकृत अतिशय का प्रश्न नहीं उठता वह तो अतिशय की सीमा से परे है ।

(२) अब यदि रस के शृङ्गार, करुणादि भेदों से काव्य में वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाय तो यह भी ठीक नहीं । ऐसा स्वीकार करने से लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है । ऐसा मानने पर प्रश्न यह उठता है कि किस रस से वैशिष्ट्य माना जाय, किससे नहीं और जिस रस के रहने पर काव्य में विशेष स्वीकार किया जायगा तद्भिन्न रसों की उपस्थिति में वैशिष्ट्याभाव के कारण उस काव्य को ध्वनि नहीं कहा जा सकेगा । पर ध्वनिवादी आचार्य किसी भी रस की उपस्थिति में काव्य को ध्वनि मानते हैं । अतः लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित होता है ।[४]

(३) यह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि गुण और अलङ्कार से संस्कृत शब्दार्थमात्र काव्य है और उल्लिखित व्यङ्ग्य के सन्निवेश से उसमें वैशिष्ट्य आ जाता है, क्योंकि रस के अभाव में तो शब्दार्थ को काव्य ही नहीं कहेंगे, फिर वैशिष्ट्य कहाँ से ?[५]

---

१. 'तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् किमुत विशिष्टत्वम्' —हि० व्य० वि०, पृ० १०३

२. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते··· —हि० व्य० वि०, पृ० १०१

३. 'न च तस्य विशेषः सम्भवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात् तस्य' ।—हि० व्य० वि०, पृ० १००

४. 'न च रसानां वैशिष्ट्ये तदात्मनः काव्यस्य विशिष्टत्वमिति युक्तं वक्तुम् अव्याप्तेः । एवं हि प्रतिनियतरसात्मन एव तस्य ध्वनित्वं स्यात् नान्यस्यान्यरसात्मनः वैशिष्ट्याभावात् । इष्यते च तत्रापीत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।—हि० व्य० वि०, पृ० १०२

५. अतएव च न गुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत् काव्यं तस्य यथोक्तव्यङ्ग्यार्थोपनिबन्धे सति विशिष्टत्वमिति शक्यं वक्तुम् । तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्, किमुत विशिष्टत्वम् ।—हि० व्य० वि०, पृ० १०३

(४) ऐसा भी नहीं कह सकते कि भले ही काव्य रसात्मक हो किन्तु जब उसमें वस्तु और अलङ्काररूप अवान्तर व्यङ्ग्यों का समावेश होता है तब वैशिष्ट्य आ जाता कारण कि वस्तुमात्रादि विभावादिरूप होने के कारण रसाभिव्यक्ति के हेतु माने गये हैं। हेतु अथवा व्यञ्जक विभावादि के वैचित्र्य से रस में वैचित्र्य स्वीकार करना तो वैसे ही हुआ जैसे गाय के शाबलेयत्व कृष्णत्वादि के कारण उसके गोत्व में वैशिष्ट्य स्वीकार करना[1]। और यदि व्यञ्जक के वैचित्र्य से काव्य में वैशिष्ट्य स्वीकार कर भी लें तो लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आएँगे, इसलिए कि तब तो जहाँ इन दोनों की (वस्तु एवं अलङ्कार की) व्यस्तरूप से अथवा समस्तरूप से व्यङ्ग्यता है, वहीं पर ध्वनित्व होगा और इसके विपरीत जहाँ इनका अभाव है, वहाँ रस का सद्भाव होने पर भी ध्वनित्व नहीं हो सकेगा पर व्यक्तिवादी आचार्य को वहाँ पर ध्वनि अभिमत है। अतः प्रकृत लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हुआ। इतना ही नहीं, इस लक्षण की नीरस अतश्च अकाव्यभूत 'सिहिपिच्छादि' प्रहेलिका में अतिव्याप्ति भी होगी, क्योंकि उनमें भी वस्तु-मात्रादि व्यङ्ग्यरूप से माने जाते हैं।[2] इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि ध्वनि नाम काव्यसामान्य के लिए प्रयुक्त होना चाहिए, न कि किसी विशेष काव्य के लिए और समासोक्त्यादि के स्थलों को भी ध्वनि ही माना जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी रस होता है।[3] साथ ही यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रतीयमान अर्थ द्विविध ही होता है, तृतीय (रस नामक) भेद तो उपर्युक्त ढङ्ग से काव्य के काव्यत्व से ही सिद्ध हो जायगा।[4]

५. किसी भी काव्य में रस के अङ्गत्वकृत वैशिष्ट्य को भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, इसलिए कि रस सदैव ही अङ्गी हुआ करता है। वह अङ्ग कभी भी होता ही नहीं।[5]

'विशेषः' पद की आलोचना से सम्बद्ध महिमभट्ट के ये आक्षेप भी ध्वनिवादी की दृष्टि से विचार करने पर बड़े निर्बल प्रतीत होते हैं। वस्तुतः महिमभट्ट ने ध्वनिकार के खण्डन का आधार बनाया है अपने सिद्धान्तों को जो कि ठीक नहीं। यही कारण है

---

१. 'न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिभिः विशेषः शक्यमाधातुं, तेषां विभावादि-रूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात् न च व्यञ्जकानां वैचित्र्ये विशेषोऽभ्युपगन्तुं युक्तः शाबलेयादीनामिव गोत्वस्य।—हि० व्य० वि०, पृ० १०४

२. ततोऽस्य विशिष्टतोपगमे वा यत्र तयोरुभयोरेकैकस्य वा व्यङ्ग्यता तत्रैव ध्वनि-व्यपदेशः स्यान्न केवल रसात्मनि काव्ये, वैशिष्ट्याभावात्। इष्यते चासौ तत्रापि। प्रहेलिकादौ च नीरसे स्यात् तत्राप्युक्तक्रमेण वस्तुमात्रादेरभिव्यङ्ग्यत्वेनेष्टत्वात्'——हि० व्य० वि०, पृ० १०४

३. 'इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यमात्रप्रयुक्तोऽसावित्यनुमीयते। अतश्च समासोक्त्यादाव-प्यसावुपगन्तव्य एव न प्रतिषेध्यः'। —हि० व्य० वि०, पृ० १०४-१०५।

४. प्रतीयमानस्य चार्थस्य द्वैविध्यमेव। तृतीयस्य रसादेः प्रकारस्योक्तनयेन काव्यत्वादेव सिद्धत्वादिति।'—हि० व्य० वि०, पृ० १०५

५. 'न च तस्य तदङ्गभावो भणितुं युज्यते अङ्गित्वेनेष्टत्वात्।'—हि०व्य०वि०, पृ० १०५

कि इनके अधिकांश आक्षेपों का उत्तर इनके टीकाकार व्याख्यानकार ने ही दे दिया है। उपर्युक्त आक्षेपों का भी व्याख्यानकार ने सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है।[1]

सर्वत्र लक्ष्य को दृष्टि में रखकर लक्षण बनाया जाता है। प्रकृत में लक्ष्य है काव्य जो कि द्विविध देखा जाता है—मुख्य तथा गौण। मुख्य काव्य वह है जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है, शेष गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि गौण काव्य हैं। अनादिकाल से दोनों उपादेय समझे जा रहे हैं। अतः काव्य में उन्हें मुख्य तथा गौण नहीं कहकर ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यादि नामों से कहा गया है। इन दोनों में से गुणीभूतव्यङ्ग्य के निरासार्थ ध्वनिलक्षण में विशेष पद का उपादान आवश्यक है।[2] महिमभट्ट का यह कथन कि सभी काव्य रसमय होते हैं तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य का कोई भेद नहीं है—ठीक नहीं, इसलिए कि ऐसे भी काव्य हैं, जिनमें रस या तो अस्फुट होता है, या किसी अन्य रस का अङ्गभूत। उनमें से जहाँ रस स्फुट होता है, तथा उसकी प्रतीति अङ्गित्वेन होती है, वहाँ ध्वनि काव्य होगा अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा। अब यह कहना भी ठीक नहीं कि 'रस स्वात्मविश्रान्तत्वेन कभी अङ्ग हो ही नहीं सकता, वह सदैव अङ्गी ही होगा, क्योंकि उसका अपना स्वरूप ऐसा ही है' क्योंकि जहाँ पर कई रस विद्यमान हैं और उनमें एक रस व्यापक है वहाँ अन्य रस उस रस के अङ्ग हो जायेंगे। भरत मुनि ने भी रस के इस अङ्गीभाव को ही मन में रखकर रसों में भी स्थायित्व और सञ्चारित्व माना है। उन्होंने कहा है—

'सर्वेषामेव सद्भावे रूपं यस्य भवेद्बहु
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥

अतः जिन काव्यों में रस अङ्गभूत है, अङ्गी नहीं है ऐसे काव्य के व्यावर्तनार्थ ध्वनिलक्षण में 'विशेष' पद आवश्यक है।[3]

वस्तुतः ध्वनिकार की दृष्टि महिमभट्ट की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक थी। जैसा कि षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित किया जायगा, महिमा का अपना काव्यलक्षण कुछ कम दोषावह नहीं है। आनन्दवर्धन ने काव्य के दो भेद स्वीकार किए हैं—ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य। इनसे भिन्न को वे वस्तुतः काव्य न मानते हुए भी उनका शब्दचित्र और अर्थचित्र के नाम से उल्लेख करते हैं।[4] काव्य के ये दो भेद उन्होंने व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति के आधार पर किए हैं। व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने पर उन्होंने ध्वनि माना है और उसकी स्थिति गौण होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना है। (महिमा को तो इन दोनों प्रकार के काव्यों में कोई भेद ही नहीं दीखता) और इनसे भिन्न रसभावादिरहित तथा व्यङ्ग्यार्थविशेष की प्रकाशन की शक्ति से रहित काव्य को उन्होंने चित्र कहा है

१. हि० व्य० वि० व्या०, पृ० १०८
२. 'तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरासाय विशेषग्रहणं कर्तव्यम्।'—हि० व्य० वि० व्या०, पृ० १०८
३. हि० व्यक्ति वि० व्याख्यान, पृ० १०८
४. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते। उभे काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥ चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।—ध्वन्या० ३।४१,४२

क्योंकि वह मुख्य रूप से काव्य ही नही, काव्य का अनुकरण मात्र है ।[1] अतः इन गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रकाव्य के व्यावर्तनार्थ ध्वनिलक्षण में 'विशेष' पद का शब्दतः उपादान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था पर महिमा ने जो रसवत्ता को काव्यत्व का प्रयोजक स्वीकार किया है, उससे तो काव्य का क्षेत्र ही बड़ा संकीर्ण हो जाता है। उसके फलस्वरूप तो जहाँ एक ओर चित्रकाव्य काव्य की परिधि से बहिष्कृत हो जाते हैं, वहीं दूसरी ओर ध्वनिकार तथा अन्य आलोचकों द्वारा उत्तम काव्य के रूप में स्वीकृत भी वस्तु तथा अलंकार-प्रधान ध्वनि के उदाहरण भी रस के अभाव में प्रहेलिकादि की श्रेणी में आ विराजते हैं ।[2] पर यह मान्यता संस्कृत साहित्य की परम्पराओं के विरुद्ध पड़ने के कारण ठीक नहीं। संस्कृत का काव्यसाहित्य वस्तु अथवा अलंकारप्रधान रचनाओं से व्याप्त है । संस्कृत के ख्यातिलब्ध कवियों ने इस प्रकार की रचनाओं से संस्कृत के काव्य-भण्डार को अक्षय बनाया है । ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि उनकी ये रचनाएँ काव्य नहीं हैं, क्योंकि तब तो चिरकाल से चली आने वाली व्यावहारिक परम्परा ही उच्छिन्न हो जायगी । इन कवियों ने प्रकृति के भीम एवं रम्य पक्षों का जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छलन और भ्रमण तथा बन्दरों एवं बालकों के क्रीड़ाओं का जो वर्णन किया है—रसात्मकता को काव्यत्व का प्रयोजक स्वीकार करने पर ये सब अकाव्य हो जायेंगे और यदि इस पक्ष के समर्थक यह कहें (यद्यपि महिमा ऐसा नहीं मानते) कि वहाँ भी परम्परया रस का संस्पर्श हम मान लेते हैं तो इस प्रकार तो 'गौश्चलति' और 'मृगोधावति' वाक्य भी काव्य बन जायेंगे, क्योंकि यहाँ भी किसी न किसी तरह रस का स्पर्श हो जायगा ।[3] अस्तु ।

---

१. 'व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसतात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।' — ध्वन्या० पृ०, १२१८ ।

२. 'अस्तु वोभयार्थविषयः । तथाप्यव्याप्तिः लक्षणदोषः, यत्र वाच्यार्थाद्वस्तुमात्रेणैकेन द्वित्रैर्वान्तरिता वस्तुमात्रस्यैव साध्यस्य प्रतीतिस्तत्रापि ध्वनित्वापत्तेः तल्लक्षणानुगमाविशेषात् । न च तत् तत्रेष्यते, चारुतातिवृत्तेः ।…चारुत्वाचारुत्वनिश्चये च काव्यतत्त्वविदः प्रमाणम् ।…तत्रैकेन वस्तुमात्रेणान्तरिता सा यथा—सिहिपिच्छकण्णऊरा…सवत्तीणाम् । द्वाभ्यामन्तरिता यथा वणिअहत्थिदन्ता…सोह्णा… त्रिभिरन्तरिता यथा—विवरीअसुरअसमए…लच्छी ।…तदियमुपायपरम्परोपारोहनिस्सहा न रसास्वादन्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यमित्यतिव्याप्तिः' —हि० व्य० वि०, पृ० ८६-८२ ।

३. 'यत्तु रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न वस्त्वलङ्कारप्रधानां काव्यानामकाव्यात्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिबालादिविल-

१०. लक्षण में 'सूरिभिः' पद का शब्दतः उपादान भी इसे अवाच्यवचन दोष से दुष्ट बनाता है, क्योंकि यदि यहाँ सूरिभिः पद से कर्तृसामान्य की विवक्षा है तो उसका आक्षेप तो 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' न्याय से 'कथन' क्रिया से ही हो जाता है और यदि इस पद से कर्तृविशेष की विवक्षा है तो 'ध्वनि-कथन' रूप क्रियाविशेष से ही वह कर्तृविशेष भी गतार्थ हो जाता है। अतः दोनों ही पक्षों से विचार करने पर 'सूरिभिः' पद अनावश्यक है। अतः लक्षण में अवाच्यवचन दोष है।[1]

ध्वनि-लक्षण-कारिका में उद्भावित उपर्युक्त दश दोषों को सङ्ग्रह श्लोकों द्वारा आचार्य ने इस प्रकार सङ्ग्रहीत किया है—

अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्।
द्विवचनवाशब्दौ चव्यक्तिर्ध्वनिर्नाम काव्यवैशिष्ट्यम् ॥२३॥
वचनञ्च कथनकर्तुः कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दश दोषाः।
ये त्वन्ये तदभेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः ॥२४॥

और इस प्रकार ध्वनि-लक्षण वाक्य को सर्वथा दूषित ठहराकर उसका शुद्ध रूप निर्धारित करते हुए वे कहते हैं

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥

महिमा के अनुसार यह लक्षण अनुमान का है ध्वनि का नहीं। क्योंकि त्रिरूपलिङ्ग का आख्यान परार्थानुमान है। इस प्रकार ध्वनि और काव्यानुमिति में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, भेद है संज्ञामात्र का।[2]

ध्वनि के भेदप्रभेदगत दोषों का उल्लेख इस उपर्युक्त समस्त विवेचन के बाद प्रथम विमर्श के अन्त में महिमा ने किया है, किन्तु उपर्युक्त विवेचन के प्रसङ्ग में ही महिमा ने ध्वनिलक्षण में कुछ अन्य दोषों की प्रसक्ति दिखायी है जिनका उल्लेख, उपर्युक्तसङ्ग्रहकारिकाओं में उल्लिखित न होने के कारण, नहीं किया जा सका है, किन्तु ध्वनि-खण्डन के प्रसङ्ग में उनका भी उल्लेख सर्वथा अपेक्षित प्रतीत होने के कारण उनका भी पर्यवेक्षण आवश्यक है। ये हैं—

सितानिच। न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरससंस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्।
—रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ० २४

१. 'किञ्च 'सूरिभिः कथित' इति कथनक्रियाकर्तृनिर्देशः पक्षद्वयेऽप्यवाच्य एव। कर्तृमात्र-विवक्षायां क्रियायाः कर्त्रव्यभिचारात् कर्तृविशेषविवक्षायामनन्तरोक्तक्रमेण व्यापारविशेषसम्बन्धादेव तद्विशेषावगतिसिद्धेरित्यवाच्यवचनं दोषः।'—हि० व्य० वि०, पृ० १०६

२. एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य। यदुक्तं--त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति। केवलं संज्ञाभेदः।—हि० व्य० वि०, पृ० १११

(१) ध्वनि-लक्षण में अभिधोपादान-सम्भावना अथवा न्यूनपदत्व दोष

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, महिमभट्ट ने ध्वनि-लक्षण-खण्डन के प्रसङ्ग में उसके अन्तर्गत शब्द तथा उसके विशेषण उपसर्जनीकृतार्थत्व एवं अर्थ के विशेषण उपसर्जनीकृतात्मत्व को अनावश्यक प्रतिपादित किया है। भङ्ग्यन्तर से लक्षण में उनकी अनावश्यकता को प्रदर्शित करने के हेतु वे एक दूसरी युक्ति सामने रखते हैं। वह युक्ति है कि तुष्यद्दुर्जनन्यायेन अगर हम यह स्वीकार कर भी लें कि अर्थ अपने को गुणीभूत करता है तो जिस प्रकार अर्थ और उसके विशेषण का ग्रहण लक्षण में किया गया है उसी प्रकार अभिधा का भी उपादान लक्षण में शब्दतः होना चाहिए था, इसलिए कि जिस प्रकार अर्थ अपने को गुणीभूत करके अर्थान्तर की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार दीपकादि वाच्य अलंकार भी अपने को उपसर्जन करके उपमादि प्रतीयमान अलंकार की प्रतीति कराते हैं। भङ्गीभणिति रूप होने के कारण अलंकारों को अभिधारूप स्वीकार किया गया है, अत; अलंकारसामान्य के प्रत्यायक अभिधा का उपादान लक्षण में होना ही चाहिए अन्यथा जहाँ अलंकार से अलंकारान्तर की प्रतीति होती है, ऐसे स्थलों में लक्षण की अव्याप्ति होगी।[1] यदि ध्वनिवादी आचार्य यह कहें कि हम उन स्थलों में ध्वनि मानते ही कब हैं, क्योंकि—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥

कहकर हमने स्वयं ऐसे स्थलों पर ध्वनि का प्रतिषेध कर दिया है। अतः अव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता—तो ठीक नहीं, क्योंकि उन स्थलों में ध्वनित्व के निषेध का जो हेतु 'वाच्य का अतत्परत्व'—वे देते हैं, वही असिद्ध है।[2] कारण यह है कि दीपकादि अलंकाररूप जो भङ्गीभणिति अपनायी जाती है, वह उपमानोपमेयभावादि के कथन के अभिप्राय से ही (अतः 'यो हि यदर्थमुपादीयते नासौ तमेवोपसर्जनीकरोति' इस न्याय से दीपकादि वाच्य अलंकारों की प्रतीयमानपरता नहीं हुई तो क्या हुई ? । दूसरी बात यह भी है कि प्रतीयमान अलंकार में ही अतिशय चारुत्व का योग रहता है और यह चारुत्वातिशय ही ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक है। अतः वाच्य अलंकार का व्यङ्ग्यालंकार

---

१. किञ्च यथाभिधेयोऽर्थस्तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादनमर्हत्येव। अन्यथा यत्र दीपकादेरलङ्कारादलङ्कारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्। तल्लक्षणेनाव्याप्तेः। अलङ्काराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भङ्गीभणितिभेदरूपत्वात्।' —हि० व्य० वि०, पृ० २२

२. 'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते। तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥ इत्यादिना तत्प्रतिषिद्धमिति चेद् उच्यते—तत्प्रतिषेधहेतोः काव्यातत्परतालक्षणस्यासिद्धत्वाद्॥'—हि० व्य० वि०, पृ० २२

के प्रति अतत्परत्व सिद्ध न होने के कारण दीपकादि के स्थलों में ध्वनित्व का प्रतिषेध क्योंकर सिद्ध हो सकता है ।[1]

विचार करने पर महिमकृत ध्वनिविषयक यह खण्डन भी उनका दुराग्रहमात्र प्रतीत होता है, इसलिए कि अलंकार अभिधा के धर्म न होकर वस्तुतः शब्द और अर्थ के धर्म हैं क्योंकि भट्टोद्भटादि प्राचीन आलङ्कारिकों ने ऐसा ही प्रतिपादित किया है। वस्तुतः अभिधा शब्द की अथवा शब्दोच्चारण की वह शक्ति है, जिससे अर्थ-ज्ञान होता है, जबकि वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्व ही प्रकाशमान होकर अलंकार कहलाता है। चारुत्व की प्रतीति शब्दोच्चारण अथवा अर्थप्रकाशन में नहीं होती अपितु उच्चार्यमाण (शब्द) तथा प्रतिपाद्यमान (अर्थ) में ही चारुत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार चारुत्व चूंकि उन्हीं शब्द और अर्थ में होता है, इसलिए अलंकारों को शब्द और अर्थ का धर्म ही मानना उचित है, अभिधा का धर्म नहीं।[2] इस प्रसङ्ग का विशद विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

इसी सम्बन्ध में महिमा का दूसरा आक्षेप कि दीपकादि गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में प्रतीयमान उपमानोपमेयभाव का वाच्य दीपकादि के प्रति तत्परता नहीं है, इसलिए कि उपमानोपमेयभाव का कथन ही यहाँ पर प्रधान है और प्रतीयमान अलङ्कार ही चारुत्वातिशय का आधायक होता है, ठीक नहीं। यह तो आनन्दवर्धन भी स्वीकार करते ही हैं कि चारुत्व का आधायक प्रतीयमान ही है, किन्तु जैसा कि अर्थ के 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' विशेषण की सार्थकता के प्रतिपादन के अवसर पर भी प्रतिपादित किया जा चुका है, ध्वनिकार की दृष्टि में तत्परता का अर्थ न तो अचारुत्व है और न उपायत्वजन्य अप्राधान्य अपितु तत्परता का अर्थ है उपकारकत्व। आनन्दवर्धन के अनुसार दीपकादि गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में वाच्य दीपकादि तो स्वात्मविश्रान्त होते हैं और प्रतीयमान उपमादिक उस वाच्य अलङ्कार के उपस्कारक होते हैं अतश्च अप्रधान होते हैं। वाच्य दीपकादि वहाँ पर उपस्कार्यत्वात् प्रधान होते हैं यद्यपि यह सत्य है कि उपमा के अभाव में दीपक की स्थिति असम्भव है तो भी उपमा के रहते हुए

---

१. 'उपमानोपमेयभावाद्यभिधानपरतयैव दीपकाद्यलङ्कारभङ्गीभणितिसमाश्रयणतः, प्रतीयमानस्यैवचालङ्कारादेश्चारुत्वातिशययोगात् तावन्मात्रनिबन्धनत्वाच्च तद् ध्वनिव्यवहारस्येति कथं तत्प्रतिषेधसिद्धिः ।'—हि० व्य० वि०, पृ० २२

२. 'इह चिरन्तनैरलङ्कारतन्त्रप्रजापतिभिः भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दार्थधर्मा एवालङ्काराः प्रतिपादिताः नाभिधाधर्माः । यतोऽर्थप्रतिपत्त्युन्नेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारणव्यापारोवाभिधा । न च तत्प्रकारत्वमलङ्काराणां युक्तिमत् । चारुत्वं हिवैचित्र्यापरपर्याय प्रकाशमानमलङ्कारः । न च शब्दोच्चारणस्यार्थप्रकाशनस्य वा चारुत्वं प्रकाशते उच्चार्यमाणस्य च प्रतिपाद्यमानस्य च चारुत्वप्रतीतेः । तेन चारुत्वस्य सद्भावाच्छब्दार्थधर्मा एवालङ्कारा न्याय्याः नाभिधाधर्माः ।'—हि० व्य० वि० व्या०, पृ० २३

भी दीपक नाम से उस स्थल का व्यपदिष्ट होना ही दीपक के प्राधान्य का ही द्योतक है ।[1]

(२) ध्वनिलक्षण में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष

महिमभट्ट का ऐसा कथन है कि 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस ध्वनि-लक्षण में 'अर्थ' वाच्यार्थमात्र का द्योतक है अथवा वाच्यार्थ एवं प्रतीमान दोनों का ? यदि इसे केवल वाच्य का परामर्शक मानते हैं तो लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है इसलिए कि तब लक्षण की व्याप्ति ऐसे स्थलों में नहीं हो सकेगी जहाँ प्रतीयमान अर्थ भी किसी अन्य अर्थ का व्यञ्जक है क्योंकि वह तो प्रतीयमान अर्थ है, वाच्य नहीं है, जैसे 'एवं वादिनि देवर्षौ' उदाहरण[2] में क्योंकि इसमें वाच्यार्थ अधोमुखत्व और लीलापत्रगणन से लज्जा व्यक्त हो रही है जो स्वयं रति का व्यञ्जक भी है । इस अव्याप्ति दोष से बचने के लिए यदि व्यक्तिवादी यह कहें कि 'अर्थ यहाँ पर दोनों ही प्रकार के अर्थों का परामर्शक है,' तो भी ठीक नहीं, इसलिए कि 'तमर्थम्' में आए 'तत्' शब्द से अव्यवहितपूर्व प्रयुक्त प्रतीयमान अर्थ का परामर्श हो जाने पर वाच्य ही शेष रह जाता है तथा 'अर्थो वाच्यविशेषः' इस प्रकार से उसकी वाच्यपरक व्याख्या करके स्वयं ध्वनिकार ने हो उसे वाच्य का ही परामर्शक माना है । अतः वह 'अर्थ' वाच्यविषयक ही है, व्यङ्ग्यविषयक नहीं ।[3] और इतने पर भी यदि तुष्यद्दुर्जनन्यायेन हम उसे उभयार्थक स्वीकार कर भी लें तो भी लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि तब वहाँ भी ध्वनि मानना पड़ेगा जहाँ ध्वन्यमान, एक या दो वस्तुओं के बाद अन्ततः वस्तुमात्र की ही साध्यरूपेण प्रतीति होती है,[4] जैसे—

---

१. (क) 'यदपि दीपकादौ उपमादि प्रत्यतत्परत्वं दूषितं तदस्मदभिप्रायापर्यालोचनादेव, यतः प्रागुक्तन्यायान्न प्रतीत्युपायत्वमचारुत्वं वा तत्परत्वं, यत्प्रतिपक्षिभूतमतत्पर-त्वमस्माभिरत्रोक्तम्, अपितु प्रत्याय्येनानुपकार्यत्वम् । न चैतद् दीपकादावस्ति तत्रोपमादिना दीपकादेरुपकार्यत्वाद् । अतएव प्राधान्यादुपमादिव्यपदेशं मुक्त्वा तत्र दीपकादिव्यपदेश एव कृतः ततश्चात्रातत्परत्वमेव साधीय इति ।'

—हि० व्य० वि० व्या० पृ० २३ तथा

(ख) दीपकापह्नुतादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वात् न तथा व्यपदेशः । —ध्व० पृ० २१५

२. हि० व्य० वि०, पृष्ठ ८८

३. 'अथार्थपदेनोभयमपि सङ्गृहीतं तस्योभयार्थविषयत्वेनेष्टत्वात् यदाह—'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यत्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।' इति । सत्यम् । किन्तु तमर्थमिति तच्छब्देनानन्तर्यात् प्रतीयमानस्यार्थस्य परामर्शे सति पारिशेष्याद् 'अर्थो वाच्यविशेष' इति स्वयं विवृतत्वाच्च अर्थशब्दो वाच्यविषय एव विज्ञायते नोभयार्थविषय इति तदवस्थो दोषः ।'—हि० व्य० वि०, पृ० ८८

४. 'अस्तु वोभयार्थविषयः । तथाप्यतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः. यत्र वाच्यार्थाद्वस्तुमा-त्रेणैकेनद्वित्रैर्वान्तरिता वस्तुमात्रस्यैव साध्यस्य प्रतीतिस्तत्रापि ध्वनित्वापत्तेः तल्लक्षणानुगमाविशेषात् ।। —हि० व्य० वि०, पृ० ८९

शिखिपिच्छकर्णपूरा वधूर्व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानांमध्ये सपत्नीनाम् ।।

तथा

वणिजक हस्तिदन्ता कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तिश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ।।

तथा

विपरीतसुरतसमये ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमले ।
हरेर्दक्षिणनयनं चुम्बति ह्रियाकुला लक्ष्मीः ।।

उदाहरणों में जो क्रमशः एक, दो तथा तीन वस्तुओं से अन्तरित वस्तुमात्र की व्यञ्जना करने वाले हैं। पर ये उदाहरण ध्वनि काव्य के नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें चारुता नहीं है[१]। चारुता तो व्यभिचारिभाव अथवा अलंकार से ही अन्तरित प्रतीयमान में होती है, वस्तु से अन्तरित प्रतीयमान में नहीं। चारुत्वाचारुत्व के निश्चयार्थ तो काव्यतत्त्ववेत्ता ही प्रमाण हैं।[२]

ध्वनिलक्षण पर उपर्युक्त दोषों का आरोपण भी व्यक्तिविवेककार का दुराग्रह ही लगता है। जब ध्वनिकार ने स्वयं 'अर्थ' शब्द की 'अर्थो वाच्यविशेषः' ऐसी व्याख्या वृत्ति में की है तो उसे उभयार्थक मानने का प्रश्न नहीं उठता और उभयार्थक न मानने के बावजूद भी लक्षण में अव्याप्ति का प्रसङ्ग नहीं उठता, इसलिए कि 'एवं वादिनि देवर्षौ उदाहरण में भी पहले वाच्यार्थ से 'लज्जा' व्यक्त होती है जो स्वयं रति स्थायीभाव को व्यक्त करती है। ऐसी दशा में व्यङ्ग्य की व्यञ्जकता के नाते भले ही यह ध्वनि का उदाहरण न बन सके पर प्रथम अर्थ (वाच्यार्थ) की व्यञ्जकता के नाते तो ध्वनि काव्य का उदाहरण हुआ ही, इस प्रकार जब यह निश्चित हो गया कि 'अर्थ' से तात्पर्य है वाच्यार्थ से, तो उसे उभयार्थक मानकर लक्षण में अतिव्याप्ति दोष दिखाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इतने पर भी महिमभट्ट ने जो 'अर्थ' को उभयार्थक मानकर लक्षण में अतिव्याप्ति दोष की उद्भावना की है तथा शिखिपिच्छकर्णपूरा···वणिजकहस्तिदन्ता···एवं विपरीतसुरतसमये···उदाहरणों को प्रहेलिकाप्राय बताते हुए उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति सिद्ध की है वह आनन्दवर्धन के अभिप्राय को न समझ पाने के कारण ही। प्रथम दो उदाहरणों में तो ध्वनिकार ने स्वयं ही ध्वनि माना है[३] तो फिर अतिव्याप्ति कैसे हुई ?

---

१. 'न च तत्तेत्रष्यते, चारुतातिवृत्तेः' —हि० व्य० वि०, पृ० ८८

२. 'व्यभिचारिभावालङ्कारान्तरिताया एव तस्या ध्वनिविषयभावाभ्युपगमात्, अन्यत्र तु तद्विपर्ययात्। चारुत्वाचारुत्वनिश्चये च काव्यतत्त्वविदः प्रमाणम्।'
—हि० व्य० वि०, पृ० ८८

३. (क) स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—वणिअ-अहत्थिदन्ता···सुह्णा। अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतः सम्भावित-शरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति। तथा

(ख) तस्यैव वाक्यप्रकाश्यता यथा—सिहिपिच्छकण्णऊरा···सवत्तीणाम्। अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित् सौभाग्या-तिशयः प्रकाश्यते। तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात्।
—ध्व० तृ० उ० पृ० ६८७, ६८८

अतिव्याप्ति तो तब होती जब ध्वनि से भिन्न क्षेत्रों में ध्वनि का लक्षण व्याप्त होता। रही चारुता के अतिक्रमण की बात। महिमा को इनमें कोई चारुत्व परिलक्षित नहीं होता अतः वे इन्हें प्रहेलिकाप्राय कहते हैं, किन्तु ध्वनिकार के अनुसार यहाँ चारुत्व है तभी तो ध्वनि के उदाहरण रूप में इन पद्यों को उद्धृत किया है। वस्तुतः ध्वनिकार भी चारुत्व और औचित्य[1] के पक्षपाती हैं किन्तु चारुता सम्बन्धी उनकी धारणा केवल इतनी है कि उक्त्यन्तर के द्वारा जिस चारुत्व का प्रकाशन नहीं किया जा सकता, उस चारुत्व का प्रकाशन करने वाला व्यञ्जक शब्द ध्वनि कहलायेगा।[2] सहृदय प्रमाण हैं कि उक्त उदाहरणों में व्यङ्ग्यरूप से अभिमत जो अर्थ है, उक्त्यन्तर या प्रकारान्तर से उसके अभिहित होने पर चारुत्व का अतिक्रमण अवश्य होगा और औचित्य का भङ्ग भी होगा।

उपर्युक्त दोषों का सम्बन्ध ध्वनिलक्षणकारिका से है। इनके साथ ही व्यक्ति-विवेककार ने ध्वनि के अवान्तर भेद—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य का तथा इन भेदों के भी अवान्तरभेदों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नाम से जो दो भेद किए गए हैं, उनमें अविवक्षितत्व से ध्वनिकार को क्या अभिप्रेत है? अनुपादेयत्व अथवा अन्यपरत्व और यदि अनुपादेयत्व के अर्थ में अविवक्षितत्व का प्रयोग इष्ट है तो वह अनुपादेयत्व सर्वात्मना होगा अथवा आंशिक रूप से? यदि वाच्य को सर्वात्मना अनुपादेय मानते हैं तब तो उस वाच्य में रहने वाला व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय हो जायगा और इस प्रकार तो उसका प्रयोग ही पुनरुक्त आदि दोषों की तरह अनुचित होगा।[3]

यदि उपर्युक्त दोष से बचने के लिए ध्वनिवादी यह कहें कि अविवक्षितत्व से उनका तात्पर्य है कि वाच्यार्थ आंशिकरूप से ही अनुपादेय होगा, सर्वात्मना नहीं, तो इस अंश का उल्लेख किया जाना चाहिए। वस्तुतः विचार करने पर आंशिक अनुपादेयत्व का तात्पर्य यही निकलता है कि अर्थ का अपने अप्राधान्य में पर्यवसान होगा, क्योंकि आंशिक अनुपादेयत्व का यही तो अर्थ होगा कि वाच्यांश को अनुपादेय मानकर उसके व्यञ्जकांश को उपादेय स्वीकार किया जाय। और इस प्रकार अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व और उपसर्जनीकृतात्मत्व — ये सब एक ही सिद्ध होते हैं। अतः ध्वनि का इस प्रकार से भेद करके ध्वनिकार ने ध्वनि का प्रकार-भेद नहीं बताया है अपितु भङ्ग्यन्तर से

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तुरसस्योपनिषत्परा॥—ध्व० पृ० ७८०

२. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रन् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥—ध्व० १।१५

३. 'किञ्च यत् अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति ध्वनेः प्रकारद्वयमुक्तं, तत्र किमिदमविवक्षितत्वं नामेति तात्पर्यतोऽस्यार्थो वक्तव्यः। किम् अविवक्षितत्वमनुपादेयत्वम् उत् अन्यपरत्वम्? अनुपादेयत्वं च किं सर्वात्मना अंशेन वा? सर्वात्मनानुपादेयत्वे व्यञ्जकत्वमप्यस्यानुपादेयं तस्य तदाश्रितत्वात्। ततश्च प्रयोग एवास्य दुष्टः स्याद् यथान्यस्य पुनरुक्तादेः'—हि० व्य० वि०, पृ० १७१

उन्होंने ध्वनि के स्वरूप का ही कथन किया है ।[१] क्योंकि किसी भी वस्तु का प्रकार वह होता है जो उसके सम्पूर्ण लक्षण से अन्वित होता हुआ किसी अवान्तर विशेष से भी युक्त हो, जैसे शाबलेयत्व गाय का प्रकारभेद कहा जा सकता है, इसलिए कि गोत्व (जो कि गो का लक्षण है) से युक्त जीवविशेष में यह अवान्तर वैशिष्ट्य का आधान करता है, जिसके फलस्वरूप शाबलेयत्व-विशिष्ट गो गोत्वसम्पन्न अन्य नील कृष्ण आदि गायों से भिन्न भी सिद्ध होती है । अतः चितकबरी गाय, गाय का प्रकार हुआ जो कि गाय के लक्षण 'गोत्व' के अतिरिक्त शाबलेयत्व से भी विशिष्ट है । किन्तु ध्वनिभेद के अविवक्षितवाच्य नामकरण से ध्वनिकाव्य में किसी अवान्तर विशेष की सिद्धि नहीं होती । अतः इसे ध्वनि का प्रकार कहना कहाँ तक युक्तिसङ्गत है ।[२]

विवक्षितान्यपरवाच्य नाम को भी असङ्गत सिद्ध करते हुए अनुमितिवादी का कथन है कि यदि विवक्षितत्व का अर्थ प्राधान्य मान लिया जाय तो उक्त भेद में वाच्य में विवक्षितत्व तथा अन्यपरत्व दोनों विशेषण साथ साथ कैसे घटित हो सकते हैं, क्योंकि अन्यपरत्व तो दूसरे के प्रति अङ्गभाव को कहते हैं और जो अङ्ग है वह उसी समय विवक्षित बनकर प्राधान्य कैसे पा सकता है ? इस प्रकार वाच्य का विवक्षितत्व और अन्यपरत्व ये दोनों ही बातें परस्पर विरुद्ध होने के कारण वाच्य में एक साथ नहीं सम्भव हैं ।[३] प्राधान्य और अप्राधान्य इन दोनों ही परस्पर विरुद्ध बातों का एक आश्रय में एक साथ अस्तित्व यदि सम्भव है तो विशेषण में ही सम्भव है, विशेष्य में कदापि नहीं । (विशेषण ही प्रधानाप्रधान दोनों हो सकते हैं । विशेष्य तो सदा प्रधान ही रहता है ।) वह विशेषण ही विशेष्य में उत्कर्षाधान करने का हेतु होने के कारण विवक्षित अतश्च प्रधान तथा उपाधिरूप होने के कारण अप्रधान हो सकता है । जैसे 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ।' इस उदाहरण[४]

---

१. 'अथांशेनेत्युच्यते । वक्तव्यस्तर्ह्यसावंशः । स च निरूप्यमाणः स्वाप्राधान्य एव पर्यवस्यति । ततश्चाविवक्षितत्वमन्यपरत्वमुसर्जनीकृतात्मत्वं चेत्येक एवार्थ इत्यनया भङ्ग्या स्वरूपमेव ध्वनेरुक्तं भवति न तु तस्य प्रकारभेदः ।'—हि० व्य० वि०, पृ० १७१

२. 'यस्य हि यल्लक्षणानुगमे सति अवान्तरविशेषसंस्पर्शः स तस्य प्रकार इत्युच्यते यथा गोत्वस्य शाबलेयत्वादि, न तु तस्यैव स एव प्रकारो भवितुमर्हति तदनवस्थाप्रसङ्गात् । न चात्र विशेषसंस्पर्शः कश्चिदिति कथमस्य ध्वनिप्रकारत्वोक्तिः युक्तिमती ?'—हि० व्य० वि०, पृ० १७१

३. 'किञ्चेदं विवक्षितान्यपरवाच्यत्वं नाम न बुध्यामहे । यदि विवक्षितत्वं नाम प्राधान्यमुच्यते तत्कथं तस्यान्यपरत्वं घटते । अन्यपरत्वं ह्यन्यस्याङ्गभावो भण्यते । यस्य चाङ्गभावः सः कथं तदैव विवक्षितत्वात् प्राधान्यमनुभवेद्, इति यद् वाच्यस्य विवक्षितत्वमन्यपरत्वञ्चोपगतं तद् विप्रतिषिद्धं विवक्षितान्यपरत्वयोर्विरोधात् ।' —हि० व्य० वि, पृ० १७३ ।

४. एकाश्रयत्वेन हि प्राधान्येतरयोगित्वं विशेषणाभिमतार्थविषयमेव सङ्गच्छते नान्यविषयम् । तदेव हि विशेष्योत्कर्षाधाननिबन्धनभावेन विवक्षितत्वात् प्राधान्यम्, उपाधिभावाच्च वास्तवादप्राधान्यमनुभवितुमलं यथा 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इत्युक्तम् ।—हि० व्य० वि०, पृ० १७३

में 'राम' पद द्वारा पाणि में उत्कर्षाधान विवक्षित है। कहने का आशय है कि 'तुम उस कठोर राम के पाणि हो, जिसने निर्व्यूढगर्भा, अपराधलेशशून्या, पतिव्रता तथा उच्चकुल-प्रसूता सीता को बनवास दिया। इस प्रकार कठोरत्वरूप उत्कर्ष के आधान का हेतु होने के नाते 'राम' का प्राधान्य है अन्यथा विशेषणत्वेन तो वह अप्रधान है ही। इतने पर भी यदि विवक्षितत्व और अन्यपरत्व का एकाश्रय में सह-अस्तित्व स्वीकार कर लें तो भी अन्यपरत्व का शब्दतः उपादान नहीं होना चाहिए, इसलिए कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि-भेद रूप में स्वीकार किया गया है। अतः उसमें वाच्य का अन्यपरत्व उसके ध्वनि-भेद होने के नाते ही सिद्ध है, क्योंकि अन्यपरत्व उपसर्जनी-कृतात्मत्व से भिन्न कुछ नहीं है और वह (उपसर्जनीकृतात्मत्व) तो ध्वनि का सामान्य रूप ही है।[1] और इतने पर भी यदि अन्यपरत्व का शब्दतः उपादान यहाँ करते हैं तो इसका शब्दतः उपादान 'अविवक्षित-वाच्य' नामक ध्वनि-भेद में भी होना चाहिए और यदि वहाँ उसका शब्दतः प्रतिपादन नहीं करते तो यहाँ भी नहीं होना चाहिए, इसलिए कि दोनों ही समानरूप से ध्वनि-भेद हैं।[2]

इसी प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि के ध्वनिकार ने अर्थान्तरसङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत नाम से जो दो भेद किए हैं उनका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव महिमा ने दिखाया है। ध्वनिकार ने अर्थान्तरसङ्क्रमित का अधोलिखित उदाहरण दिया था—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव॥

इस पद्य में 'राम' इस शब्द से केवल संज्ञी (दशरथ पुत्र राम) का ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यङ्ग्य राज्यनिर्वासनादि असंख्य दुःखों के भाजनभूत राम की प्रतीति होती है।[3] अतः यहाँ पर राम पद का वाच्यार्थ व्यङ्ग्य होने वाले सकल दुःखभाजनत्व रूप अर्थान्तर में सङ्क्रमण कर गया है। महिमा के अनुसार सकलदुःखभाजनत्व रूप अर्थान्तर व्यङ्ग्य नहीं, अपितु अनुमेय है। उनकी यह मान्यता है कि इन उदाहरणों में रामादिक शब्द प्रकरणादि द्वारा निश्चित किए गए उत्कर्ष अथवा अपकर्ष रूप धर्म से विशिष्ट संज्ञी का बोध कराते हैं और उत्कर्ष या अपकर्ष रूप यह जो धर्मान्तर है, वह अनुमित है (व्यङ्ग्य नहीं) और रामादिक शब्द के वाच्य उन धर्मों के आश्रय के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ शब्द का वाच्यार्थ अनुमेय धर्म रूप अर्थान्तर के आश्रय रूप में परिणतमात्र होता है न कि वह स्वयं अर्थान्तर में परिणत होता है और

१. 'किञ्चास्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदत्वेऽभ्युपगम्यमाने वाच्यस्यान्यपरत्वमनुपादेयमेव तस्य तत्प्रभेदत्वादेव सिद्धेः अन्यपरत्वं ह्युपसर्जनीकृतात्मत्वम्। तच्च ध्वनेः सामान्यं रूपमुक्तमेव'। - हि० व्य० वि०, पृ० १७३

२. 'यथात्र तदुपादीयते पूर्वत्रापि तदुपादीयताम्, उभयत्रापि वा मोपादायि उभयोरपि तत्प्रकारत्वाविशेषात्।—हि० व्य० वि०, पृ० १७३

३. 'स्निग्धश्यामल···धीरा भव। इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तर-परिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्।'—ध्व० ३४५।

उस धर्मविशेष की प्रतिपत्ति का हेतु प्रकरणादिक है, रामादिक शब्द नहीं।[1] इस प्रकार पहले जहाँ 'राम' शब्द केवल 'रामत्व' का आश्रय प्रतीत होता था, अब वह चिरविपन्नता का आश्रय प्रतीत होता है। (अवधेय है कि जहाँ ध्वनिवादी के अनुसार वाच्यार्थ अवाच्यार्थ में सङ्क्रमण करता है और उसके फलस्वरूप उसमें वैशिष्ट्य आता है, वहाँ अनुमितिवादी के अनुसार वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहता है, केवल प्रकरणादि के कारण उसमें विशिष्ट धर्म आ जाते हैं।)

अनुमेयार्थ द्विविध होता है—धर्मरूप और धर्मीरूप। इनमें धर्मरूप अनुमेयार्थ ही अर्थान्तरसङ्क्रमित का विषय बन सकता है, क्योंकि वाच्यार्थगतत्वेन उसी की प्रतीति सम्भव है। धर्मी की अनुमिति तो शास्त्रीयानुमान का विषय है, जैसे धूम से धर्मी अग्नि की प्रतीति।[2]

'अत्यन्ततिरष्कृतवाच्य भी गौर्वाहीकः के समान ही पदार्थोपचार है। अतः 'गौर्वाहीकः' की ही सरणि पर वह भी अनुमानगम्य ही है।'[3]

वस्तुतः ध्वनिवादी की दृष्टि अनुमितिवादी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। उसकी दृष्टि में न तो अविवक्षितत्व का अर्थ 'अनुपादेयत्व' है और न ही विवक्षितत्व का अर्थ प्राधान्य। उन्हें तो विवक्षितत्व से वही अर्थ अभिप्रेत है जो उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। 'वक्तुम् इच्छा' इस व्युत्पत्ति से विवक्षा का अर्थ हुआ 'कहने की इच्छा' और 'क्त' प्रत्ययान्त विवक्षित का अर्थ होगा 'कहने के लिए इष्ट'। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य का अर्थ हो जाता है, ऐसा ध्वनि-भेद जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित नहीं है और विवक्षितान्यपरवाच्य का अर्थ होगा, ऐसा ध्वनि-भेद जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित तो है, किन्तु विवक्षित होते हुए भी वह 'अन्यपरायण' अथवा प्रतीयमान के प्रति गुणीभूत है। अतः विवक्षितान्यपरवाच्य में विप्रतिषेध दोष नहीं बनता। दोनों ही ध्वनि-भेदों में वाच्यार्थ प्रतीयमान के प्रति गुणीभूत है और वाच्य का यह गुणीकृतात्मत्व ही ध्वनि का स्वरूप है, किन्तु उस गुणीकृतात्मत्व के भी प्रकार तथा मात्राकृत भेद सम्भव हैं। कहीं पर वाच्य अविवक्षित अथवा अनुमितिवादी के शब्दों में अनुपयोगी होता हुआ अपने को गुणीभूत करता है तो कहीं पर स्वयं अपना अस्तित्व रखते हुए अपने को उपसर्जन (गौण) करता है। जहाँ पर वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, वहाँ उसके अविवक्षितत्व में भी प्रकार-भेद होता है। जैसे कहीं पर तो वह वाच्य स्वयं को सर्वथा तिरस्कृत कर देता है तो कहीं पर

१. 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽप्यनुमान एवान्तर्भवति। रामादिशब्दा हि प्रकरणाद्यवसितोत्कर्षापकर्षलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्यायन्ति, न संज्ञिमात्रम् अर्थान्तरं यदनुमितं तत्र सङ्क्रमितमाश्रयभावेन परिणतं वाच्यमस्येति कृत्वा।···ततो धर्मविशेषप्रतिपत्तौ प्रकरणादिरेव हेतुतयावगन्तव्यः न रामादिशब्दा इति।'—हि० व्य० वि०, पृ० १७६

२. द्विविधो ह्यनुमेयोऽर्थो धर्मरूपो धर्मिरूपश्चेति। तत्राद्योऽस्य विषयः। तस्यैव वाच्यार्थनिष्ठतया प्रतीतेः। अन्यस्त्वन्यस्य यथा अग्निरत्र धूमादिति।' —हि० व्य० वि०, पृ० १७६

३. 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्तु पदार्थोपचार एव यथा गौर्वाहीक इति। तस्याप्यनुयानान्तर्भावः समर्थित एव।'—हि० व्य० वि०, पृ० १७८

अर्थान्तर के रूप में परिणत होकर अपने को अविवक्षित दिखाते हुए उपसर्जन करता है। इस प्रकार ध्वनि के ये सारे ह भेद जिन्हें कि महिमभट्ट ने अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयास किया है, अर्थ के गुणीकृतात्मत्व के नाते जहाँ एक ओर ध्वनि हैं, वहीं परस्पर भिन्न होने के कारण ध्वनि-भेद भी। जिस प्रकार गाय का शाबलेयत्व उसके श्वेतत्व अथवा कृष्णत्व की अपेक्षा भिन्न है न कि गोत्व की अपेक्षा उसी प्रकार उक्त भेद भी एक दूसरे की अपेक्षा परस्पर भिन्न है उनमें विवक्षितत्व तथा अविवक्षितत्व का मात्राकृत भेद तो है ही।

इस प्रकार ध्वनिलक्षणकारिका में उद्भावित दश दोष तथा ध्वनि के भेद-प्रभेद से सम्बद्ध अन्य दोषों की निःसारता तथा निराधारता को देख लेने के पश्चात् डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का यह कथन कि "व्यक्तिविवेककारकृत ध्वनिलक्षण की उपर्युक्त गहन मीमांसा इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि आचार्य महिमभट्ट की मेधा काव्यतत्त्व के विषय में भी कितनी परिपक्व एवं सशक्त थी। अपने किञ्चिद् पूर्ववर्ती महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त का भी इन्होंने जो खण्डन किया है, वह इनकी असाधारण विद्वत्ता का परिचायक है। आनन्दवर्धन का 'ध्वनिक्षण' विद्वानों में बड़ा ही लोकप्रिय है। उसमें इतने दोष हो सकते हैं, इसकी सम्भावना तक साहित्यशास्त्र के उत्तमोत्तम आचार्यों के लिए नितान्त असम्भव एवं अत्यन्त दुरूह है" तथा "इस सम्बन्ध में जो सबसे बड़ी आश्चर्य की बात है, वह यह कि उत्तरकालीन ध्वनिवादी किसी भी आचार्य ने 'व्यक्तिविवेक' में उद्भावित ध्वनिलक्षण के दश मुखय दोषों में प्रयुक्त युक्ति एवं तर्कों का समाधान या खण्डन नहीं किया है और न यही कहा है कि महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण में अमुक-अमुक दोषों का उद्भावन किया है। यह मौन महिमभट्ट की विवेचना की गम्भीरता का ही साधक है कि उनका उत्तर देना सम्भव नहीं था। उनका समर्थन भी इसलिए नहीं किया जा सकता था कि उससे ध्वनिवाद का खण्डन ही होता हैं।"[१] पक्षपातपूर्ण एवं अतिरञ्जित प्रतीत होता है। यह कैसे कहा जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने महिमभट्ट के ध्वनिलक्षणखण्डनविषयक युक्तियों एवं तर्कों का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया, जब कि स्वयं उनके टीकाकार राजानक रुय्यक ने ही उन तर्कों में से अधिकांश का उत्तर यथास्थान प्रस्तुत किया है[२] और आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास के अन्त में किया गया अनुमितिवाद का खण्डन महिमा का ही खण्डन समझा जाता रहा है।[३] जैसा कि तृतीय अध्याय में प्रतिपादित किया जायगा एकावलीकार तथा विश्वनाथ कविराज ने भी इनकी अनुमिति का खण्डन तो किया ही है। ऐसा भी तो हो सकता है कि ध्वनिलक्षणकारिका में उद्भावित दोषों का उत्तर इन आचार्यों ने उन्हें व्यर्थ समझकर न दिया हो। अस्तु।

---

१. संस्कृत साहित्य-शास्त्र को महिमभट्ट की देन', पृ० १५६ ले०-डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी (आगरा विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)।

२. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक'—व्याख्यान, पृ० १४, ६२, ६३, ७६, ८५, १०८।

३. 'रसगङ्गाधर'—उत्तमोत्तम काव्य-प्रसङ्ग

शब्द की व्यञ्जना-शक्ति वह आधारशिला है, जिस पर ध्वनि का विशाल प्रासाद सुप्रतिष्ठित है। अतः ध्वनि के समूलोच्छेदन के लिए यह अनिवार्य था कि महिमभट्ट उस आधारशिला का उच्छेद करते। परिणामस्वरूप महिमा ने सम्पूर्ण 'व्यक्तिविवेक' में स्थल-स्थल पर व्यञ्जना-शक्ति का निषेध किया है।

सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भाग होते हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान।[१] महिमभट्ट भी इस प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित सरणि पर ही वे भी इसके वस्तु अलङ्कार तथा रसादि नामक तीन भेदों को स्वीकार करते हैं,[२] किन्तु जहाँ ध्वनिकार उस प्रतीयमान को व्यङ्ग्य तथा शब्द और अर्थ दोनों को ही उसका व्यञ्जक स्वीकार करते हैं, महिमा उसको गम्य अथवा अनुमेय स्वीकार करते हैं और केवल अर्थ को गमक मानते हैं। वे शब्द के केवल एक व्यापार—अभिधा को ही मान्यता देते हैं।[३] अतः वाच्यार्थमात्र देने में पर्यवसितसामर्थ्य वाले शब्द की पहुँच अर्थान्तर तक सम्भव ही नहीं है।[४] अतः अर्थान्तर की प्रतीति प्रकरणादि की सहायता से वाच्य से ही होती है।

व्यक्तिवादियों की ऐसी मान्यता है कि 'गङ्गायां घोषः' अथवा 'सिंहो माणवकः' जैसे उदाहरणों में जहाँ क्रमशः कई अर्थों की प्रतीति होती है, सर्वप्रथम अभिधा शक्ति सङ्केत की सहायता से वाच्यार्थमात्र देकर विरत हो जाती है। चूंकि ऐसी मान्यता है कि शब्द, बुद्धि और कर्म का एक बार विरत हो जाने पर पुनः उत्थान नहीं होता[५] अतः तात्पर्यशक्ति द्वारा पदार्थों के अन्वय का बोध होता है। अनन्तर मुख्यार्थ बाध अथवा अन्वयानुपपत्ति होने पर शब्द की लक्षणा नामक शक्ति द्वारा तट रूप तथा माणवक की सिंहधर्मवत्ता रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। किन्तु इन सारे ही अर्थों की प्रतीतियों के बाद भी घोष में शैत्य और पावनत्व का आधिक्यरूप अर्थ तथा माणवक में तैक्ष्ण्याति-शयरूप अर्थ जो कि इस प्रकार के शब्द-प्रयोग का प्रयोजनरूप अर्थ है, शेष रह जाता है।

---

१. 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।'—ध्व० १।२

२. 'अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः।···तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः। वस्तु-मात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति'—हि० व्य० वि०, पृ० ४७

३. (क) शब्दस्यैकभिधा शक्तिः अर्थस्यैकैव लिङ्गता। न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्।—हि० व्य० वि०, १।२७

(ख) 'तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेरुपपादयिष्यमाणत्वात्'।
—हि० व्य० वि०, पृ० १६।

४. (क) उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः। न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः—व्य० वि० १। २८

(ख) 'न चास्य स्वार्थाभिधानमात्रपर्यवसितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमुपपद्यते येनाय-मर्थान्तरमवगमयेत्···अर्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनात्।'—'हि० व्य० वि०, पृ० २६।

५. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

उसका बोध किससे माना जाय ? उपर्युक्त शब्दशक्तियों में से किसी से भी उसका बोध माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक बार विरत हुई उन शक्तियों का पुनरुत्थान सम्भव नहीं। अतः व्यक्तिवादियों ने एक तुरीया शक्ति की कल्पना की और उसको नाम दिया व्यञ्जना। द्योतन, प्रत्यायन, अवगमन तथा ध्वनन इस व्यञ्जना व्यापार के ही नामान्तर हैं।[1] इस प्रकार समयसापेक्ष होकर वाच्य का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। अपने अभाव में वाक्यार्थबोध की अनुपपत्ति की सहायता से अर्थबोध कराने वाली शक्ति तात्पर्यशक्ति है। मुख्यार्थबाधादि सहकारियों की अपेक्षा रखकर अर्थावबोध कराने वाली शक्ति लक्षणा है और उन तीनों ही शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमन रूप मूल से उत्पन्न तथा अभिधेयादि अर्थों के प्रतिभास से संस्कृत बोद्धा की प्रतिभा के साहाय्य से अर्थद्योतन कराने वाली शक्ति ध्वनन व्यापार कहलाती है।[2]

ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त के इन्हीं विचारों को मम्मट ने कारिकाबद्ध रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।
नाभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा ॥
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्रबाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

जो कि स्पष्ट ही लोचनकार की उपर्युक्त पङ्क्तियों तथा ध्वनिकार के—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥१।१७॥—(ध्वन्यालोक)

कारिका का प्रतिध्वनिमात्र है।

व्यक्तिवादियों की इस मान्यता को चुनौती दी व्यक्तिविवेककार ने। इनका कहना है कि शब्द में केवल एक शक्ति—अभिधा—है और अर्थ में केवल लिङ्गता है (व्यञ्जकता नहीं)। शब्द और अर्थ इन दोनों में ही व्यञ्जकत्व रहता ही नहीं अतः ध्वनिकार ने भी ध्वनिलक्षण में व्यर्थ ही 'शब्द' का ग्रहण किया है, इसलिए कि उसकी

---

१. 'यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नं वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। ...व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा उक्तादेव हेतोः स्खलितगतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधानिमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।'—लोचन पृ० ८४-८७।

२. तेनसमयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिः तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिः ध्वननव्यापारः'—लोचन-८८।

शक्ति से अर्थान्तर का बोध नहीं होता।[१] तो फिर प्रश्न उठता है कि अर्थान्तर का बोध किससे माना जाय ?

उसके लिए महिमा का यह समाधान है कि अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का तो एक ही व्यापार है—अभिधा। अतः (अर्थान्तर का प्रत्यायक) जो दूसरा व्यापार है वह सारा ही अर्थ का व्यापार है और अर्थ उस अर्थान्तर का व्यञ्जक न होकर लिङ्ग है।[२] अतः शब्द को अनेक शक्तियों का आश्रय मानकर शब्द में जो व्यञ्जना नामक व्यापारान्तर की कल्पना की गयी है, वह वस्तुतः अर्थ का व्यापार है इसलिए कि शब्द अनेक शक्तियों का आश्रय सिद्ध ही नहीं होता।[३] बात यह है कि जिन एकाधिक शक्तियों का आश्रय एक होता है उनकी प्रवृत्ति परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र होती है, उनमें पौर्वापर्य नहीं रहता। वे सब एक साथ ही अपना कार्य करती हुई देखी जाती हैं। जैसे—अग्नि की दाहकता और प्रकाशकता आदि शक्तियों में।[४] दाहकत्व, प्रकाशकत्व, पाचकत्व शक्तियाँ अग्निरूप एक ही आश्रय में रहती हैं पर इन तीनों ही शक्तियों को अपने कार्य में प्रवृत्त होने के लिए एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा भी नहीं होता कि इनमें से एक के कार्य-विरत हो जाने पर ही दूसरा अपना कार्य आरम्भ करे। प्रत्युत ये तो सभी एक ही समय में अपना-अपना कार्य करती हैं। किन्तु शब्दाश्रित शक्तियों में न तो ऐसा देखा ही जाता है और न माना ही जाता है क्योंकि शब्दाश्रित शक्तियाँ तो नियम से अभिधा के विरत हो चुकने के बाद ही प्रवृत्त होती देखी जाती हैं। अतः इन शक्तियों का आश्रय केवल एक शब्द नहीं हो सकता। निश्चित ही ये शक्तियाँ भिन्न आश्रयों वाली हैं।[५] इस प्रकार अभिधाशक्ति का आश्रय तो शब्द हुआ और तदितरशक्ति का आश्रय अर्थ हुआ। इस अर्थ के व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव स्वीकार किया जाना ही चाहिए[६] और वह इस प्रकार से—

---

१. 'शब्दस्यैकाभिधाशक्तिः अर्थस्यैकैव लिङ्गता। न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥ व्य० वि०, १।२७ उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः। न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः॥ व्य० वि०, १।२८।

२. अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दास्यार्थप्रकाशने। व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः॥ व्य० वि०, १।७१ वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः। तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम्॥ व्य० वि०,१।७२

३. यत् पुनरस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वाद् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैवोपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः।'—हि० व्य० वि०, पृ० ११३

४. तथा हि एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव स्वकार्यकारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयोऽग्नेः।—हि० व्य० वि०, पृ० ११३

५. 'न च शब्दाश्रयाः शक्तयस्तथा दृश्यन्तेऽभ्युपगम्यन्ते वा, नियोगतोऽभिधाशक्तिपूर्वकत्वेनेतरशक्तिप्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद्भिन्नाश्रया एव ता न शब्दैकसमाश्रया इत्यवसेयम्।—हि० व्य० वि०, पृ० ११३-११४

६. यश्चासावाश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति तद्व्यापारस्यानुमानान्तर्भावोऽभ्युपगन्तव्य एव —हि० व्य० वि०, पृ० ११४।

'गौर्वाहीकः' इत्यादि उदाहरण में 'गो' आदि अर्थ का वाहीकादि अर्थान्तर के साथ ऐकात्म्य (तादात्म्य) बाधित है। अतः ताद्रूप्यविधान को स्वीकार किए बिना अन्य किसी भी प्रकार से गो का वाहीकार्थ प्रयोग अनुपपन्न होने के कारण गो अर्थ वाहीक के साथ अपने आंशिक, न कि पूर्ण अभेद का अनुमान कराता है क्योंकि 'कोई भी समझदार व्यक्ति कहीं पर किसी भी प्रकार से कुछ भी साधर्म्य बिना देखे अकस्मात् अभेदारोप नहीं करता' वक्ता की ऐसी प्रवृत्ति का ज्ञान जिसे है, ऐसा प्रतिपत्ता (बोद्धा) तो तत्त्वारोप का निमित्त सादृश्यमात्र को मानता है, तत्त्व को नहीं। क्योंकि तत्त्व तो वाच्यरूप से आरम्भ में ही भासित होता है, वह चरमप्रतीति का विषय नहीं बन सकता। तब तक उसका बाध हो जाता है। कथन की इस प्रकार की प्रवृत्ति का हेतु साधर्म्यमात्र का प्रतिपादन है और उसका प्रयोजन है वाहीकादि में गोगतजाड्यादि धर्मों का लाघवात् प्रतिपादन।[1]

इस प्रकार वाहीकादि में जो गवादिसाधर्म्य का ज्ञान होता है, वह गोत्वारोप के अन्यथानुपपत्ति के कारण अवधारित होता है (अर्थात् प्रतिपत्ता यह सोचता है कि वाहीक गोगतजाड्यादि धर्मों वाला है अन्यथा वाहीक पर गोत्व का आरोप अनुपपन्न है), अतः (अर्थापत्तिरूप होने के कारण) अनुमान का विषय हुआ, शब्द-व्यापार का नहीं।[2]

इसी प्रकार 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्' में भी 'वदति' का प्रकाशन रूप अर्थ अनुमानगम्य है। अविनाभावसम्बन्ध के निश्चय द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान अनुमान का लक्षण बताया गया है जो कि प्रकृत प्रसङ्ग में भी लागू होता है।[3]

प्रकृत उदाहरण में 'वदति' से 'प्रकाशन' रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है। यहाँ वाच्य और अर्थान्तर के बीच कार्यकारणभावकृत अविनाभावसम्बन्ध है, क्योंकि

---

१. तथाहि। गौर्वाहीक इत्यादौ तावद्गवादयोऽर्था बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरैकात्म्यास्ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्त्या केनचिदंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना। न ह्यनुन्मत्तः कश्चित् क्वचित् किञ्चित् कथञ्चित् साधर्म्यमनुत्पश्यन्नेवाकस्मात् तत्त्वमारोपयतीति परिशीलितवक्तृस्वरूपः प्रतिपत्ता तत्त्वारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुर्हति न तत्त्वम्। तद्धि वाच्यतयोपक्रम एव भासते, न प्रतीतिपर्यवसानास्पदं भवितुर्हति, तस्य बाधोपपत्तेः। तस्य चैवंविधस्योपक्रमस्य निमित्तं साधर्म्यमात्रप्रतिपादनम्। प्रयोजनञ्च लाघवेन वाहीकादौ गवादिगतजाड्यादिधर्मप्रतिपादनम्। —हि० व्य० वि०, पृ० ११४।

२. तस्माद्योऽयं वाहीकादौ गवादिसाधर्म्यावगमः स तत्त्वारोपान्यथानुपपत्तिपरिकल्पितोऽनुमानस्यैव विषयः न शब्द-व्यापारस्येति स्थितम्।
गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद् बुधः॥—हि० व्य० वि०, पृ० ११८

३. एवं 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादाववगन्तव्यम्। अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तं, तच्चात्रोपलभ्यत एव।—हि० व्य० वि०, पृ० ११७

'प्रकाशन' 'वदन' के कार्यरूप से प्रसिद्ध है। 'प्रकाशन' को 'वदति' क्रिया का वाच्य तो कह नहीं सकते इसलिए कि 'प्रकाशन' अर्थ में वदति क्रिया का सङ्केत नहीं है और प्रकाशन वदन से अभिन्न है नहीं। ऐसा भी नहीं कह सकते कि 'वदति' क्रिया केवल स्वार्थ का ही प्रतिपादन कर रही है अर्थान्तर का नहीं, क्योंकि उसके स्वार्थ का उत्तर क्षण में बाध हो जा रहा है। अब यदि यह कहा जाय कि लक्षणया 'वदति' क्रियापद का वदन क्रिया के सदृश 'प्रकाशन' नामक तदितर क्रिया में तात्पर्य है, क्योंकि ऐसा न मानने पर अन्य किसी भी प्रकार से श्लोक में उसका ('वदति' का) उपादान उपपन्न नहीं होता तो अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा 'वदन' से प्रतीयमान 'प्रकाशन' अनुमेय ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है।[1]

'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में भी महिमभट्ट ने लक्षणा तथा व्यञ्जना की अपरिहार्यता का खण्डन कर लक्ष्यार्थ तट को अनुमेय सिद्ध किया है और व्यङ्ग्यार्थभूत शैत्यपावनत्व को इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य के परिग्रह का फल बताया है। उनका कथन है कि 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में गङ्गादिक अर्थ ही तटादिरूप अर्थ का अनुमान कराते हैं। वह इस प्रकार से कि – गङ्गा पदार्थ में घोषान्वय की असङ्गति के कारण उसका (गङ्गा अर्थ का) घोषादि के प्रति अधिकरणत्व बाधित है। ऐसी स्थिति में प्रतिपत्ता गङ्गा अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध, घोष के अधिकरण योग्य, तट रूप अर्थान्तर का अनुमान कर लेता है और तट रूप अर्थ पर गङ्गात्व के आरोप का हेतु वह गङ्गा के साथ तट के सामीप्य सम्बन्ध को मानता है। तत्त्वारोप का कारण केवल सादृश्य ही नहीं होता, अपितु वाच्यार्थ के साथ अर्थान्तर का सामीप्यादि सम्बन्ध भी होता है। इसीलिए गङ्गा के साथ सम्बन्धमात्र के कारण तटादि पर गङ्गात्व का आरोप किया गया है और ऐसा स्वीकार न करने पर गङ्गा अर्थ का घोष के अधिकरण रूप में उपादान अन्य किसी प्रकार से उपपन्न नहीं होता। अतः अर्थापत्ति के आधार पर यही स्वीकार करना होता है कि तट अनुमेय हुआ।[2]

---

१. 'तथा हि वदतीत्यादौ वदनादेरर्थान्तरस्य प्रकाशादेः प्रतीतिः। तयोश्चाविनाभावः कार्यकारणभावकृतः प्रकाशनस्य वदनकार्यत्वप्रसिद्धेः। न च वदतेः प्रकाशो वाच्य इति शक्यं वक्तुं तस्य तत्रासमितत्वात् प्रकाशस्य चातत्त्वात्। न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति तस्य बाधोपपत्तेः। अथोपचारत उपादानान्यथानुपपत्त्या वदनक्रियायाः सदृशे प्रकाशनाख्ये क्रियान्तरे वर्त्ततेऽयं वदतिरित्युच्यते तद्यन्यथानुपपत्त्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानोऽनुमेय एव भवितुमर्हति अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमात्।
—हि० व्य० वि०, पृ० ११८

२. 'गङ्गायां घोष इत्यादावपि गङ्गादयोऽर्थाः स्वात्मन्यनुपपत्तिबाधितघोषाद्यधिकरणभावाः तदुपादानसामर्थ्यात् सम्बन्धमात्रपरिकल्पिततत्त्वारोपंतदधिकरणभावोपगमयोग्यमर्थान्तरमेव तटादिरूपमनुमापयन्ति। न हि तत्सादृश्यमेवैकं तत्त्वारोपनिबन्धनमिष्यते किन्तर्हितत्सम्बन्धादिरपि, इति तत्सम्बन्धमात्रसमारोपिततद्भावः तटादिरेव घोषाद्यधिकरणभावोपादानान्यथानुपपत्त्या गङ्गादीनामर्थानाम् अनुमेय एव भवितुमर्हति।'
—हि० व्य० वि०, पृ० ११९

व्यक्तिवादियों की यह कल्पना बिल्कुल ही निराधार है कि तटरूप अर्थ अथवा शैत्यपावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति गङ्गा शब्द से होती है, इसलिए कि गङ्गा शब्द की सामर्थ्य तो प्रवाह रूप स्वार्थ के प्रत्यायन में ही पर्यवसित हो जाती है। अतः 'गङ्गा' शब्द तो तटरूप अर्थान्तर की वार्ता भी जानने में समर्थ नहीं, फिर वह तट रूप अर्थ का संस्पर्श कैसे कर सकता है।[1] इस प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य को स्वीकार करने का प्रयोजन है—आरोप के विषय तटरूप अर्थ में आरोप्यमाण गङ्गागतपुण्यत्वशीतलत्वादि धर्मों की प्रतीति, सादृश्य की प्रतीति नहीं। यही इसका 'गौर्वाहीकः' उदाहरण से अन्तर है। पर कारण दोनों ही उदाहरणों में एक है—तत्त्वारोप। क्योंकि तत्त्वारोप के कारण आरोप्यमाण के साथ आरोप-विषय के सादृश्य एवं सम्बन्धादि भेद से अनेक हैं। अन्य मतानुयायियों ने भी—

'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

कहकर इसी तथ्य को स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि तत्त्वारोप का सादृश्य अथवा सामीप्यादि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हुआ तभी तो तत्त्वारोपरूपहेतु के उपलब्ध होने पर आरोप्यमाण से सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति मानना सङ्गत होगा। व्याप्ति बनी—

'यत्र यत्र तत्त्वारोपः तत्र तत्र साम्यसामीप्यादिः'

पर यह व्याप्ति भी तो प्रमाण द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। महिमा का समाधान है कि तत्त्वारोप और साम्यादि का अविनाभाव सम्बन्ध तो लोक से ही निश्चित है, उसके निर्धारण के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। हम लोक में देखते हैं कि लोग तत्सदृश और तत्सम्बद्ध अर्थ को तद्रूप से पुकारते हैं जैसे लम्बी गरदन और विशाल शरीर वाले किसी को देखकर उसे करभ कहते हैं और मञ्च पर बैठे व्यक्तियों को चिल्लाते हुए सुनकर 'मञ्चें चिल्ला रहे हैं—ऐसा कहते हैं।[3]

गुणवृत्ति के इन स्थलों में शब्द तो उस अर्थान्तर की प्रतीति करा नहीं सकता, इसलिए कि उसमें शब्द का सङ्केत नहीं है। अतः इन स्थलों पर शब्द की अतिव्याप्ति के

१. 'शब्दः पुनः स्वार्थाभिधानमात्रव्यापारपर्यवसितसामर्थ्यो नार्थान्तरस्य तटादेर्वार्तामपि वेदितुमुत्सहते, किं पुनः संस्पर्शमित्युक्तम्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ११९

२. 'प्रयोजनं पुनरस्यैवंविधस्योक्तिवैचित्र्यपरिग्रहस्य तटादावारोपविषये वस्तुनि आरोप्यमाणगङ्गादिगतपुण्यत्वशीतलत्वादिधर्मप्रतिपत्तिः, न सादृश्यमिति पूर्वस्मादस्य विशेषः। उभयत्रापि च तत्त्वारोप एव हेतुः। स हि तत्साम्यतत्सम्बन्धादिनिबन्धनत्वाद् बहुविध इष्टः यदाहुः—अभिधेयेन सम्बन्धात्...पञ्चधा मता।'—हि० व्य० वि०, पृ० ११९

३. 'तस्य च तैरविनाभावनियमो लोकत एवावसित इति न तत्र प्रमाणान्तरापेक्षाप्रयासः। लोको हि तत्सदृशमर्थं तत्सम्बद्धं च तत्त्वेन व्यवहरन् दृश्यते, तद्यथा दीर्घग्रावं विकटकायं च कञ्चित् पश्यन् करभ इति व्यपदिशति, मञ्चसम्बद्धांश्च कांश्चित् क्रोशतो मञ्चाः क्रोशन्तीति।'—हि० व्य० वि, पृ० १२१

निवारणार्थ अर्थान्तर-प्रतीति का कुछ निमित्त अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए और उस निमित्त को ही हम लिङ्ग कहते हैं। यही मानना युक्तिसङ्गत भी है, इसलिए कि शब्द में अर्थान्तर के प्रति व्यापार का अभाव है और लिङ्ग से लिङ्गी की प्रतीति तो अनुमान ही है। अतः गुणवृत्ति में भी अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी नहीं है।[1] अर्थान्तर की प्रतीति वाचक से न होकर वाच्य से होती है अत. अर्थान्तर-प्रतीति का वाचकाश्रयत्व असिद्ध ही है।

इस पर यदि व्यक्तिवाद के समर्थक यह कहें कि अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी ही है, आर्थी नहीं, इसलिए कि शब्द में 'व्यञ्जना' नामक एक दूसरी शक्ति रहती है, अतः अभिधा के पर्यवसित हो जाने पर इस शक्ति द्वारा अर्थान्तर का बोध माना जा सकता है तो ठीक नहीं। शब्द का अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व नामक व्यापार बनता ही नहीं, जिससे कि अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से मानी जा सके, इसलिए कि व्यक्ति युक्तियों से सिद्ध नहीं होती और शब्द और अर्थ का अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध बनता नहीं और व्यक्ति अथवा सम्बन्धान्तर के अभाव में भी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति मानने पर तो शब्द के साथ अर्थ का नियत सम्बन्ध नहीं रह जायगा, इसलिए कि किसी विशिष्ट अर्थ को शब्दविशेष से सम्बद्ध करने वाला सङ्केत के समान कोई कारण नहीं रह जायगा।[2] अब यदि यह कहें कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है, अतः इस प्रकार के नियामक की कोई आवश्यकता नहीं तो यह भी ठीक नहीं, इसलिए कि जिस प्रकार गेय वस्तु का षड्जादि रागों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्द का रत्यादिक भावों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि शब्द का रत्यादिक भावों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करने पर व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न सभी को अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए जो कि होती नहीं।[3] शब्द और अर्थान्तर के बीच समयकृत सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, इसलिए कि (ध्वनिकार द्वारा स्वीकृत) व्यञ्जकत्व औपाधिक है। (अर्थात् उनके प्रस्थान में भी व्यञ्जना व्यापार भी अर्थप्रकरणादि उपाधियों से सहकृत होकर ही अर्थान्तर की प्रतीति कराता है)। ये उपाधियाँ भी अर्थ प्रकरणादि भेदों से अनन्त हैं और साथ ही अनियत भी हैं। फलस्वरूप एक ही शब्द के

---

१. 'किञ्चोपचारवृत्तौ शब्दस्य मा भूदतिप्रसङ्गः इत्यवश्यं किमपि निमित्तमनुसर्तव्यम् अन्यथाऽन्यत्रप्रसिद्धसम्बन्धः कथमसमितमेवार्थान्तरं प्रत्याययेत्। यच्च तद् निमित्तं तदेवास्माभिरिह लिङ्गमित्याख्यातम। युक्तं चैतत शब्दस्य तत्र व्यापाराभावात्। व्यापाराभावश्च सम्बन्धाभावात्। लिङ्गाच्च लिङ्गिनः प्रतीतिरनुमानमेवेति न गुणवृत्तावर्थान्तरप्रतीतिः शाब्दीति तस्या वाचकाश्रयत्वमसिद्धमेव।'—हि० व्य० वि०, पृ० १२१

२. 'नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते येनार्थान्तरं प्रत्याययेद् व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः। तदभावेऽपि तदभ्युपगमे तस्यार्थनियमो न स्याद् निबन्धनाभावात्'—हि० व्य० वि०, पृ० १४६

३. 'न ह्यस्य गेयस्येव रत्यादिभिर्भावैः स्वाभाविक एव सम्बन्धः सर्वस्यैव तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्'—हि० व्य० वि०, पृ० १४६

उपाधि-भेद से अनन्त प्रतीयमान अर्थ हो सकते हैं। अतः जिस प्रकार प्रत्येक पद पर शब्दानुशासन करना असम्भव है उसी प्रकार प्रत्येक पद पर सङ्केत का निर्धारण भी असम्भव है।[1] उदाहरणार्थ अधोलिखित प्रसङ्गों में एक ही 'राम' शब्द उपाधि-भेद से अनेक अर्थों का बोध कराता है—

(क) रामोऽस्मि सर्वं सहे।

(ख) रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।

(ग) रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते।

(घ) रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा।[2]

इन विभिन्न स्थलों में एक ही राम शब्द क्रमशः सकलदुःखभाजन, कायर अथवा भीरु, क्रूर तथा निष्ठुर और सर्वशक्तिमान होकर भी सहिष्णु होने की प्रतीति कराता है। शब्द का सङ्केत तो केवल 'राम' रूप अर्थ में ही नियत है, किन्तु उपर्युक्त प्रसङ्गों मेंउससे सर्वथा भिन्न चार भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति भी हो रही है, जिनमें शब्द का सङ्केत नहीं है। अब अगर इन सब में भी सङ्केतग्रह माना जाय तो आखिर कितने अर्थों में सङ्केत किया जा सकता है और यदि सभी अर्थों में सङ्केतग्रह मान लिया जाय तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ निकाला जा सकेगा, जिससे शब्द-प्रयोग का कोई फल ही नहीं रहेगा।

इस प्रकार शब्द और अर्थान्तर के बीच सङ्केतग्रह नहीं स्वीकार किया जा सकता और न ही इनके बीच कोई अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। अतः उस प्रकरणादि सामग्री के ही सम्बन्ध के बल पर अर्थ की गमकता सिद्ध होती है, शब्द की नहीं।[3]

इस प्रकार शब्द की व्यञ्जकता का आत्यन्तिक रूप से निषेध कर देने पर एक शङ्का स्वभावतः समुल्लसित होती है कि तब 'प्राप्त' इत्यादिक में 'प्र' आदि उपसर्गों का वाचकत्व न कह कर द्योतकत्व क्यों कहा गया है? उन प्रादिक को भी वाचक ही मान लिया जाय और उस दशा में एक असङ्गति यह उत्पन्न होगी कि तब 'प्राप्त' को हलादि मानना पड़ेगा। फलस्वरूप उससे 'यङादि' प्रत्यय की प्राप्ति होने लगेगी[4] जो कि

---

१. 'नापि समयकृतः व्यञ्जकत्वस्यौपाधिकत्वाद्, उपाधीनां चार्थप्रकरणादिसामग्रीरूपाणामानन्त्यादनियतत्वाच्च प्रतिपदमिव शब्दानुशासनस्य समयस्य कर्तुमशक्यत्वात्।' —हि० व्य० वि, पृ० १४७।

२. 'एक एव हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्यात् विभिन्नानर्थानवगमयति यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये! नोचितम्' इति, 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इति, रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन्! भवतो व्यपेक्षा' इत्यादावेक एव रामशब्दः। —हि० व्य० वि०, पृ० १४७।

३. 'न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्र्या एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति'—हि० व्य० वि०, पृ० १४८

४. 'ननु यदि शब्दस्यार्थनिरपेक्षस्य व्यञ्जकत्वं नेष्यते, तत् कथं प्राप्तमित्यादौ प्रादीनां द्योतकत्वमुक्तं न वाचकत्वम्। वाचकत्वे हि हलादित्वाद् धातोर्यङादिप्रसङ्गः स्यात्।' —हि० व्य० वि०, पृ० १५०

व्याकरण-विरुद्ध है। इसके विपरीत 'प्रादिक' को द्योतक स्वीकार करने पर 'प्राप्तादिक' में वे 'आप्' आदि क्रियापदों के समान क्रियावाचक नहीं माने जाकर स्वतन्त्र होंगे और तब 'आप्' आदिक हलादि न होकर अजादि ही रहेंगे। फलस्वरूप उनसे यङादि की प्राप्ति भी नहीं होगी। अतः शब्द ही द्योतक होते हैं और द्योतकत्व, प्रकाशकत्व, व्यञ्जकत्व—ये सब एक ही अर्थ के पर्याय[1] हैं अतः शब्द के व्यञ्जकत्व का निषेध असम्भव है।

व्यक्तिवादी के इस आक्षेप का महिमभट्ट के पास यह समाधान है कि प्रादिक उपसर्गों को जो द्योतक कहा गया है, वह उपचारतः न कि वस्तुतः, इसलिए कि वास्तविक द्योतक तो प्रदीपादि ही हैं, शब्दार्थविषयक द्योतकत्व तो आक्षिप्त है, औपचारिक है।[2] इस पर यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि—'निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवद्' सिद्धान्त के अनुसार क्रियासामान्य के वाचक 'पच्' आदि धातुपदों से क्रियासामान्य की प्रतीति के साथ-साथ ही अविनाभूतरूप से तद्गत विशेषों की भी प्रतीति हो जाती है, क्योंकि सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेष अनुस्यूत होते हैं, पर अर्थसामर्थ्य से सिद्ध भी वे 'विशेष' द्योतन की अपेक्षा रखते हैं और यह कार्य चूँकि प्रादिक उपसर्ग करते हैं अतः वे द्योतक ही हुए, वाचक नहीं[3]। तो उचित नहीं, इसलिए कि जिन विशेषों की प्रतीति के अभाव में सामान्य की प्रतीति ही पर्यवसित न हो केवल उन्हीं विशेषों को क्रियासामान्य के वाचक पचादि से प्रतीत हुआ माना जा सकता है पर इतने से किसी व्यवहार की सिद्धि तो नहीं होती, कारण कि व्यवहार की सिद्धि तो निश्चित विशेष के निश्चयात्मक ज्ञान से होती है। किसी निश्चित विशेष का निश्चयात्मक ज्ञान प्रादि के प्रयोग के बाद ही होता है। अतः वह वैशिष्ट्य उसी से उत्पन्न माना जाना चाहिए, न कि 'पच्' आदि से[4]। अतः जिस किसी अर्थ की प्रतीति जिस शब्द के प्रयोग के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करे उन दोनों के बीच वाच्यवाचकभाव ही स्वीकार किया जाना चाहिए, व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव नहीं। जैसे घट अर्थ 'घट' शब्द के प्रयोग के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करता है, अतः उन दोनों के बीच वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध माना जाता

---

१. 'द्योतकत्वं प्रकाशकत्वं व्यञ्जकत्वं चेत्येक एवार्थ इति'। —हि० व्य० वि०, पृ० १५०
२. 'सत्यम्। उक्तमुपचारतो न परमार्थत इति तस्य प्रदीपादिनिष्ठस्य वास्तवस्य शब्दार्थविषयत्वस्य प्रतिक्षेपात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० १५०।
३. 'अथोच्यते पचत्यादयः क्रियासामान्यवचनाः। सामान्यानि चाशेषविशेषान्तर्भावभाञ्जि भवन्तीति तत्प्रतीतिनान्तरीयकतयैव विशेषसद्भावः सिद्ध एव। यदाहुः 'निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवद्' इति केवलमर्थसामर्थ्यसिद्धोऽपि विशेषो द्योतनमपेक्षत इति तन्मात्रव्यापाराः प्रादयो द्योतका एव भवितुमर्हन्ति न वाचका इति।'—हि० व्य० वि०, पृ० १५१।
४. 'सत्यम्। किन्तु यदप्रतीतौ सामान्यप्रतीतिरेव न पर्यवस्यति तद्विशेषमात्रं तेभ्यः प्रतीयतां नाम। न तु तावता व्यवहारसिद्धिः काचित्। तस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात्। स त्वपूर्वतया प्रादिभ्य एवोद्भवन्नवधार्यते। न पचत्यादिभ्यः।' —हि० व्य० वि०, पृ० १५१।

है[1]। इसी प्रकार 'पचति' आदि के प्रयोग में प्रकर्षादि अर्थों की प्रतीति प्रादि के भावाभाव का अनुविधान करने वाली है। अतः प्रादि शब्द तथा प्रकर्षादिक अर्थ के बीच वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ही हुआ[2]। और यदि ऐसा स्वीकार नहीं करते तब तो नीलोत्पलादि प्रयोगों में विशेषणरूप से अभिमत नीलादि शब्दों का तथा विशेष्यरूप से अभिमत उत्पलादि शब्दों का विशेषणविशेष्य भाव ही समाप्त हो जायगा। क्योंकि वहाँ भी यही तर्क उपस्थित किया जा सकता है। उत्पलादिक शब्द पुष्प-सामान्य के वाचक हैं और सामान्य के अन्तर्गत समस्त विशेष अन्तर्भूत होते हैं। अतः नीलादि विशेष अर्थों का उत्पलादि सामान्य अर्थों में सद्भाव पूर्वसिद्ध होने के कारण नीलादि शब्द प्रादि शब्दों की भाँति ही नीलादि अर्थों के द्योतकमात्र रह जाएँगे, अभिधायक नहीं।[3] इसके अतिरिक्त दूसरी असङ्गति यह उत्पन्न होती है कि वाच्यवाचकभाव भी उच्छिन्न हो जायगा। अन्तः में विद्यमान होने के कारण घटादि पदार्थों की भी सत्ता पूर्वसिद्ध हुई अतः घटादि शब्द भी घटादि अर्थ के द्योतकमात्र रह जाएँगें, वाचक नहीं।[4] अतः यही निश्चित हुआ कि प्रादिक शब्द प्रकर्षादिक अर्थ के वाचक हैं, उनकी द्योतकता औपचारिक है, उपचार का प्रयोजन वाच्यार्थ की स्फुट प्रतीति है तथा इस औपचारिकता के मूल में है विशेषण और विशेष्य की प्रतीतियों के आशुभावित्व के कारण क्रमलक्षित न होने से उनके सहभाव की प्रतीति।[5]

विशेषण और विशेष्य की सहभावप्रतीति की विशेष मीमांसा करते हुए महिमभट्ट का कथन है कि विशेषण दो प्रकार के होते हैं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। इनमें से अन्तरङ्ग विशेषण विशेष्य से अव्यवहित रहकर ही उसमें वैशिष्ट्य लाते हैं, जैसे लाक्षा समीप रहकर ही स्फटिक में अपना रङ्ग सङ्क्रान्त कर सकती है। बहिरङ्ग

---

१. 'तस्माद् यत्प्रयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी यस्य प्रतीतिस्तयोर्वाच्यवाचकभावव्यवहारविषयत्वमेवोपगन्तुं युक्तं नाभिव्यक्तिविषयत्वम्। यथा घटशब्दतदर्थयोः। —हि० व्य० वि०, पृ० १५२।

२. 'प्रादिप्रयोगानुविधायिनी तत्र पचतीत्यादौ प्रकर्षादिप्रतीतिरिति तेऽपि तथा भवितुमर्हन्त्येव।'— हि० व्य० वि०, पृ० १५२।

३. 'अन्यथा नीलोत्पलादौ सर्वस्यैव विशेषणाभिमतस्य नीलादिशब्दस्य विशेष्यवाचिनश्चोत्पलादेः विशेषणविशेष्यभावव्यवहारोऽस्तमुपगच्छेत्। तत्रापि ह्येतच्छक्यं वक्तुम्। उत्पलादयः शब्दाः सामान्यवचनाः। सामान्यानि च गर्भीकृतविशेषाणि भवन्तीति तेषां तत्र सद्भावसिद्धौ सत्यां नीलादिशब्दा अपि तत्तद्द्योतनमात्रव्यापाराः प्रादिवद् द्योतका भवितुमर्हन्ति नाभिधायका इति।'—हि० व्य० वि०, पृ० १५२।

४. एवञ्चान्तर्मात्रविपरिवर्तितया सिद्धसद्भावानां घटादीनां घटादिशब्दा अपि द्योतका एव स्युः न वाचका इति वाच्यवाचकव्यवहारोऽस्तमियात्।'— हि० व्य० वि०, पृ० १५३।

५. तस्मात् भाक्तमेव द्योतकत्वमुपगन्तव्यं न मुख्यम्। भक्तेश्च प्रयोजनं वाच्यस्यार्थस्य स्फुटत्वप्रतिपत्तिः। निमित्तं च विशेषणविशेष्यप्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावप्रतीतिः।—हि० व्य० वि०, पृ० १५३

विशेषण वे हैं, जो विशेष्य से दूर रहकर भी उसमें वैशिष्ट्य का आधान करते हैं, पास रहकर तो करते ही हैं। जैसे अयस्कान्त दूर तथा व्यवहित रहकर भी लौह में अपनी शक्ति का सञ्चार कर देता है।[1] इसी प्रकार विशेष्य भी द्विविध होते हैं—धात्वर्थ और नामार्थ। इनमें उपसर्गों का विशेष्य प्रायः क्रियापदार्थ ही होता है, नामार्थ नहीं, जबकि च आदि निपातों के विशेष्य धात्वर्थ और नामार्थ दोनों ही होते हैं। उपसर्गों का प्रयोग उसके विशेष्य क्रियापदार्थ से पूर्व होता है, जबकि निपातों का प्रयोग उनके अपने विशेष्यों के बाद होता है।[2] ये दोनों ही चूँकि अपने विशेष्य से अव्यवहित पूर्व या पश्चात् रहकर उनमें वैशिष्ट्याधान करते हैं, अतः अन्तरङ्ग विशेषण की कोटि में आते हैं। अन्य विशेषणों का प्रयोग कहीं भी हो सकता है, अतः वे बहिरङ्ग हुए।

इनमें अन्तरङ्ग विशेषण विशेष्य के स्वरूप में इस प्रकार विलीन सा रहता है जैसे गो द्रव्य में गोत्व जाति। फलस्वरूप दोनों का ज्ञान इतनी शीघ्र हो जाता है कि उनका क्रम परिलक्षित नहीं हो पाता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उन दोनों (अन्तरङ्ग विशेषण और विशेष्य) की प्रतीति साथ-साथ हो रही है और यह सहभाव-प्रतीति ही द्योत्यद्योतकभाव के भ्रम का कारण है।[3] इस सहभावप्रतीति के कारण ही कुछ लोगों ने (भर्तृहरि ने) इनका धातु में अन्तर्भाव सा मानते हुए यहाँ तक कह डाला है कि—शास्त्र में धातु और उपसर्ग की पृथक्-पृथक् होने की कल्पना 'अट्' आदि की व्यवस्था के लिए की गई है। वस्तुतः तो वह पूरा ही (उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर ही) धातुरूप ही है।[4] इस प्रकार भर्तृहरि के अनुसार तो 'अवापत्' इस क्रियापद में 'अवाप्' पूरा क्रियापद हुआ। इसमें अव् आप् इस प्रकार अव् उपसर्ग और 'आप्' क्रिया है, ऐसा विभाजन केवल लङ् लकार लुङ् लकार तथा लृङ् लकार में धातु के पहले अट् अथवा आट् आगमों के व्यवस्थार्थ है। उस समय यदि उपसर्गों को धातुरूप ही स्वीकार कर लिया जायगा तो इन आगमों की प्राप्ति उपसर्ग से पूर्व होनी चाहिए पर उपर्युक्त

---

१. 'द्विविधं हि विशेषणमिष्टम् अन्तरङ्गं बहिरङ्गं चेति। तत्राद्यमव्यवहितमेवार्थकारि लाक्षादिवत् स्फटिकादेः। द्वितीयमुभयरूपमयस्कान्तमिव लोहस्य। तद्धि व्यवहितमपि लोहे स्वां शक्तिमुपदधात्येव।'—हि० व्य० वि०, पृ० १५४

२. 'विशेष्योऽपि द्विविधो धात्वर्थो नामार्थश्चेति। तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो न नामार्थः। चादीनां तु निपातानामुभयमपि। केवलं तेषां विशेष्यात् पूर्वं पश्चाच्च क्रमेण प्रयोगो नियोगतोऽवगन्तव्यः। नान्येषां विशेषणानाम्।'—हि० व्य० वि०, पृ० १५४

३. 'तदेवं विशेषणविशेष्यस्वरूपेऽवसिते यदेतदन्तरङ्गविशेषणमुक्तं तद् गवादौ गोत्वादिवत् विशेष्यस्वरूपान्तर्भूतमिवेति तत्प्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावावगमो द्योत्यद्योतकभावभ्रमहेतुः।'—हि०व्य० वि०, पृ० १५५

४. 'अतएव केचिदेषां धात्वन्तर्भावमिव मन्यमाना.—

अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः॥ (इत्याद्यवोचन्)'

—हि० व्य० वि०, पृ० १५५

लकारों में ऐसा देखा नहीं जाता। इसके विपरीत ये आगम सदैव उपसर्ग और धातु के बीच में जोड़े जाते हैं। अतः इस व्यवस्था को बनाए रखने की दृष्टि से उपसर्गों को धातु से अलग मान लिया गया, पर वस्तुतः उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर एक विशेष अर्थ के वाचक होते हैं।[1] पर महिमा के अनुसार प्रादि उपसर्ग अपने अर्थ के वाचक हैं और क्रिया अपने अर्थ की वाचक हैं और भर्तृहरि के उपर्युक्त प्रतिपादन का मूल वस्तुतः दोनों के अर्थों की प्रतीति का समकालिक बोध ही है। इस सारे विवेचन का सार यह रहा कि उपसर्गों को वाचक स्वीकार करने के बावजूद भी 'प्राक्षम्' इत्यादि को हलादि मानकर उनसे यङादि प्रत्यय होने का प्रसङ्ग नहीं उठता, इसलिए कि जिस प्रकार अडादि की व्यवस्थार्थ उपसर्ग धातु से पृथक् समझे जाते हैं उसी प्रकार यङादि प्रत्ययों का प्रसङ्ग उठने पर भी उन्हें धातु से अलग स्वीकार कर लेने पर कोई अव्यवस्था नहीं होगी। इस प्रकार महिमा का आशय यह है कि शब्द में व्यञ्जकत्व अथवा द्योतकत्व का सर्वथा निषेध कर देने पर व्याकरणादि शास्त्रों में भी किसी प्रकार की असङ्गति नहीं उत्पन्न होती और इस प्रकार 'मूलं नास्ति कुतो शाखा' इस न्याय से व्यक्ति की अनुपपन्नता के कारण शाब्दी व्यञ्जना की कल्पना ही निर्मूल सिद्ध होती है।

ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य में अभेद

महिमभट्ट के अनुसार काव्य का लक्षण केवल इतना है—जहाँ वाच्य एवं प्रतीयमान के बीच गम्य-गमक-भाव का संस्पर्श हो वहाँ काव्य होता है।[2] वाच्य एवं प्रतीयमान के बीच गम्य-गमक-भाव का यह संस्पर्श गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी होता ही है। अतः महिमभट्ट को ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य-भेदों में भी कोई अन्तर नहीं दिखायी देता। अतः वे ध्वनिकार द्वारा किये गये काव्य के इस द्विविध विभाजन का भी खण्डन करते हैं।[3] उनका कहना है कि काव्य के इन दोनों ही भेदों में अनुमेय वस्तुमात्र, अलङ्कार अथवा रसादि में कोई ऐसा अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है जो कि बुद्धिमान को चमत्कृत करे। उनके अनुसार व्यङ्ग्य अथवा अनुमेय वस्तुमात्र का प्राधान्य

---

१. 'वस्तुस्तु धातुरेव तादृशः सोपसर्गस्यैव धातुत्वं विशिष्टक्रियावाचित्वमिति भावः। यथोक्तम्—

तथाहि सङ्ग्रामयतेः सोपसर्गाद्विधिः स्मृतः।
क्रियाविशेषाः सङ्घातैः प्रकम्प्यन्ते तथाविधाः॥

असङ्ग्रामयत् सिसङ्ग्रामयिषते इत्यादौ सोपसर्गस्यैव अड् द्विवचनं च दृश्यते अतः सोपसर्गस्यैव धातुत्वमिति। सङ्घातैः धातूपसर्गसमुदायः तथाविधाः भिन्नाः अभिन्नाः वा क्रियाविशेषाः। अतः विशिष्टैव धातुवाच्या क्रियेति च।'—मधुसूदनी विवृतिः पृ० १३२

२. 'यत्र वाच्यप्रतीयमानयोः गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत् काव्यम्' इति तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः'—हि० व्य० वि०, पृ० १६०।

३. 'यत्तु तदनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव।··· अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुर्निश्चितम्। अतस्तदेव वक्तव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः।'—हि० व्य० वि०, पृ० १६७

होने पर अथवा अप्राधान्य होने पर समान चमत्कार की अनुभूति होती है। इसी प्रकार अनुमेय अलङ्कार तथा रसादिक के भी प्राधान्याप्राधान्य होने पर चमत्कार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः अनुमेय अथवा व्यङ्ग्य के प्राधान्याप्राधान्य पर आधारित काव्य का यह विभाजन भी ठीक नहीं।

ध्वनिकार का उक्त खण्डन भी महिमभट्ट ने स्वनिर्मित काव्यलक्षण को आधार मानकर किया है अतः ठीक नहीं। आनन्दवर्धन का उद्देश्य काव्यशास्त्र लिखना नहीं था कि वे काव्य का सामान्य लक्षण करते और तब उसके विशेष भेद – ध्वनि—का लक्षण करते। उनका उद्देश्य था ध्वनि का प्रकाशन जो कि काव्य का एक विशेष भेद है। अतः इस काव्य-विशेष—ध्वनि —के विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने तद्भिन्न काव्यों — गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं चित्र—का भी विवेचन कर दिया है। वे प्रतीयमान के संस्पर्श को चारुत्वाधायक अवश्य मानते हैं, किन्तु प्रतीयमान के संस्पर्श से रहित को भी वे काव्य कहते हैं, भले हो उसे वे काव्य की प्रतिकृतिमात्र मानते हों। साथ ही ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी भेद सुस्पष्ट है, उस भेद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ध्वनि-काव्य में प्रतीय-मान उपकार्य अतश्च प्रधान होता है, जबकि गुणीभूतव्यङ्ग्य में वह उपकारकत्वात् अप्रधान होता है। किन्तु ये दोनों ही काव्य-भेद उच्चकोटि के काव्य हैं। यही कारण है कि जहाँ मम्मट इनका उल्लेख क्रमशः उत्तम और मध्यम काव्य के नाम से करते हैं, पण्डितराज जगन्नाथ को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की मध्यम संज्ञा मान्य नहीं। वे गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का उल्लेख उत्तम काव्य के नाम से करते हैं और उसकी तुलना में वे ध्वनिकाव्य को उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा देते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतीयमान के संस्पर्श को ही काव्यत्व का प्रयोजक मान लेने पर स्वयं महिमभट्ट के सिद्धान्त में भी असङ्गति आती दिखायी देती है। क्योंकि तब तो 'शिखिपिच्छकर्णपूरा···सपत्नीनाम्' तथा 'वणिजक हस्तिदन्ता···स्नुषा' एवं 'विपरीतसुरतसमये···लक्ष्मीः' इत्यादिक अन्तरित वस्तु-ध्वनि के उदाहरण भी, जिन्हें महिमा प्रहेलिकाप्राय कहकर अकाव्य बताते हैं,[1] काव्य बन जायँगे, क्योंकि इन उदाहरणों में भी प्रतीयमान का संस्पर्श है ही।

भक्ति और व्यक्ति की एकरूपता

महिमभट्ट शब्द को केवल एक शक्ति अभिधा को स्वीकार करते हैं।[2] उनकी दृष्टि में लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ दोनों ही अनुमानगम्य हैं। अतः लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों को वे मान्यता नहीं प्रदान करते। अतः 'व्यक्तिविवेक' में व्यञ्जना-खण्डन के प्रसङ्ग में अवसरप्राप्त लक्षणा का भी खण्डन वे करते हैं और भक्ति तथा व्यक्ति की एकरूपता का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः महिमकृत लक्षणा का यह विवेचन ध्वनिकार आनन्दवर्धन के उस लक्षणा-विवेचन का खण्डन है, जिसका पल्लवन 'ध्वन्यालोक' के प्रथम तथा तृतीय दोनों ही उद्योतों में किया गया है। महिमकृत इस खण्डनात्मक

---

१. 'तदियमुपायपरम्परोपारोहनिस्सहा न रसास्वदान्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्राय-मेतत् काव्यमित्यतिव्याप्तिः।'—हिन्दी० व्य० वि०, पृ० ८१-८२

२. 'शब्दस्यैकाभिधाशक्तिः अर्थस्यैकैवलिङ्गता'—हि० व्य० वि०, पृ० १११

विवेचन को समझने के लिए ध्वनिकार के लक्षणा-विवेचन का उपन्यास आवश्यक है, इसलिए कि महिमभट्ट की ये खण्डनात्मक कारिकाएँ या तो ध्वनिकार की कारिकाओं का आंशिक परिवर्तन के साथ निषेधात्मक प्रतिरूपमात्र हैं या तृतीय उद्योत के वृत्ति भाग में आए गद्यात्मक विवेचन का सार-सञ्चय और खण्डनरूप हैं।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप-विवेचन के पूर्व ही 'ध्वन्यालोक' के आरम्भ में पूर्वपक्ष के रूप में ध्वनि के अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद के उल्लेखपूर्वक यह बताया था कि कुछ प्रतिवादी ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति में ही करते हैं।[1] इस भाक्तवाद का खण्डन भी आचार्य ने प्रथमोद्योत की अन्तिम पाँच कारिकाओं में तथा तृतीय उद्योत में किया है। उनका कहना है कि भक्ति और ध्वनि एक नहीं हो सकते इसलिए कि दोनों के स्वरूप भिन्न हैं।[2] अभिनवगुप्त ने भक्ति एवं ध्वनि के ताद्रूप्य के निराकरणार्थ पूर्वपक्ष के रूप में तीन पक्षों की उपस्थापना की है—

(१) क्या भक्ति और ध्वनि का ताद्रूप्य घट एवं कलश के समान पर्याय जैसा है?[3]

(२) अथवा क्या भक्ति ध्वनि का इतरव्यावर्तक धर्मरूप लक्षण है, जैसे कि पृथिवी का लक्षण पृथिवीत्व है?[4]

अथवा

(३) भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है, जैसे कि कौआ देवदत्त के घर का उपलक्षण है।[5] आनन्दवर्द्धन ने उपर्युक्त तीनों ही पक्षों का यथास्थान खण्डन किया है।

ध्वनि और भक्ति का पर्यायवत् ताद्रूप्य सम्भव नहीं है, इसलिए कि दोनों का स्वरूप भिन्न है। जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य-व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्येण प्रकाशन हो, वहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि होती है और भक्ति तो केवल उपचार को कहते हैं।[6] दोनों के इस स्वरूप-भेद का ही विशदीकरण करते हुए आचार्य ने तृतीय उद्योत में तीन तर्क उपस्थित किए हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ही वृत्तियों में रूप-भेद इस प्रकार है—

(१) गुणवृत्ति अमुख्य व्यापार है और व्यञ्जकत्व तो मुख्यरूप से ही शब्द का व्यापार है। अर्थ से जो वस्त्वलङ्काररसादि रूप तीन व्यङ्ग्यों की प्रतीति होती है, उनका

---

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।'—ध्व०, पृ० ४८।

२. 'भक्त्या विभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।'—ध्व० १।१४

३. 'भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं, पर्यायवत्ताद्रूप्यम्' ध्व० लोचन,——पृ०२८८

४. 'अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्याः अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम्'—ध्व० लोचन, पृ० २८८

५. 'उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्'—ध्व० लोचन पृ०, २८८

६. 'अयमुक्तप्रकारो ध्वनिः भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।'—ध्व०, पृ० २८८

अमुख्यत्व तनिक भी लक्षित नहीं होता ।[1] तात्पर्य यह कि गुणवृत्ति मुख्यार्थ-बाधसापेक्ष है और मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश तत्सम्बद्ध अमुख्यार्थ (अमुख्यार्थ इसलिए कि वक्ता का तात्पर्य लक्ष्यार्थ में नहीं हुआ करता, अपितु प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्यार्थ में हुआ करता है और इसके साथ ही शब्द भी इस अर्थ को देने में स्खलद्गति होता है जब कि व्यङ्ग्यार्थ देने में शब्द सर्वथा समर्थ होता है और ऐसा न होने पर तो वह प्रयोग ही दूषित समझा जायगा । 'गङ्गायां घोषः' में वक्ता का तात्पर्य तटरूप अर्थ में न होकर शैत्य-पावनत्व रूप व्यङ्ग्यार्थ में है, जिसे देने में शब्द सर्वथा समर्थ है अतः वह प्रयोजनभूत अर्थ शब्द का मुख्य अर्थ ही हुआ और उसकी प्रत्यायिका वृत्ति शब्द की वृत्ति मुख्यरूप से ही हुई । इसके विपरीत लक्ष्यार्थ की प्रतीति चूँकि मुख्यार्थ के द्वारा होती है, अतः शब्द का आरोपित व्यापार होने के कारण वह शब्द का अमुख्य व्यापार ही हुआ, मुख्य नहीं) का बोध कराती है,[2] अतः अमुख्य वृत्ति हुई जबकि व्यञ्जना द्वारा प्रत्यायित अर्थ मुख्य ही हुआ करता है—रस तो कभी अमुख्य कहा ही नहीं जा सकता, पर वस्तु और अलंकाररूप व्यङ्ग्य भी चमत्कारपर्यवसायी होने पर प्रधान ही होते हैं, अप्रधान नहीं । साथ ही व्यञ्जना को मुख्यार्थ-बाध की अपेक्षा भी नहीं होती । (आचार्य मम्मट ने भी लक्षणारोपिता क्रिया तथा वृत्ति में 'आरोपितः शब्दाव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा' कहकर गुणवृत्ति के अमुख्यव्यापारत्व का ही समर्थन किया है) । इस प्रकार लक्षणा शब्द का मुख्य व्यापार नहीं है; क्योंकि शब्द लक्ष्यार्थ को देने में स्खलद्गति है । वह व्यापार है अर्थ का, शब्द का तो वह आरोपित व्यापार है अतश्च शब्द का वह अमुख्य व्यापार हुआ, पर व्यङ्ग्यार्थ को देने में शब्द स्खलद्गति नहीं है अतः 'व्यञ्जना' शब्द का मुख्य व्यापार हुआ ।[3]

(२) दूसरा स्वरूप-भेद यह है कि गुणवृत्ति अमुख्यरूप में स्थित वाचकत्व ही है, अर्थात् वह एक प्रकार की अभिधा ही है, अन्तर केवल इतना है कि अभिधा केवल मुख्य सङ्केतितार्थ का बोध कराती है, लक्षणा अमुख्यार्थ का । किन्तु व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अत्यन्त भिन्न है ।[4]

(३) दोनों वृत्तियों में तीसरा स्वरूप-भेद यह है कि गुणवृत्ति में जहाँ एक अर्थ दूसरे अर्थ को उपलक्षित करता है, वहाँ वह अपने को बिल्कुल खो देता है और उपलक्षणीय अर्थ के रूप में सर्वात्मना परिणत हो जाता है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' शब्द का प्रवाहरूप मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ 'तट' रूप अर्थ को उपलक्षित करते समय अपने को सर्वात्मना

---

१. 'रूपभेदस्तावदयम् यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः । न ह्यर्थाद्व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते ।'—ध्व० तृतीय उद्योत, पृ० १०४९

२. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ २ । ९ ॥—काव्यप्रकाश

३. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ ध्व० १ । १७ ॥

४. 'अयं चान्यः स्वरूपभेदः—यद्गुणवृत्तिमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते । व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव ।'—ध्व० पृ० १०५०

तद्रूप अर्थ में ही खो देता है, किन्तु व्यञ्जकत्वमार्ग में जब एक अर्थ दूसरे अर्थ को द्योतित करता है तब अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही वह दूसरे का प्रकाशक बनता है, जैसे दीपक घट का प्रकाशक है पर साथ ही अपना भी अस्तित्व रखता है। उदाहरणार्थ 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' में पार्वती का मुखनमन इत्यादि वाच्यार्थ है और पार्वतीगत लज्जा व्यङ्ग्य है। यहाँ पर पार्वती की लज्जा की अभिव्यक्ति के समय मुखनमन रूप वाच्यार्थ अपने को खो नहीं देता अपितु अभिव्यक्ति-काल में स्वयं भी बना रहता है।[1] पर लक्षणा में तो मुख्यार्थबाध उसके आवश्यक शर्तों में से एक है। लक्षणा का मुख्यार्थबाधरूप शर्त भी साभिप्राय है, क्योंकि यदि लक्षणा के अवतरण के लिए इसे अनिवार्य नहीं मानते सुतरां यह मान लिया जाय कि अर्थ अपने को तिरस्कृत किए बिना ही जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति कराए वहाँ लक्षणा होगी तब तो लक्षणा अमुख्य व्यापार न रहकर मुख्य व्यापार ही बन जायगी, क्योंकि अधिकांश वाक्यों में शब्दार्थ की अपेक्षा तात्पर्यार्थ अतिरिक्त होता है, जिसकी प्रतीति वाक्यगत सभी शब्दार्थ मिलकर कराते हैं। ऐसी दशा में उन सभी वाक्यों का तात्पर्यार्थ लक्षणा-गम्य ही सिद्ध होगा और शब्दों से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण लक्षणा भी मुख्य शब्दवृत्ति हो जायगी। अतः लक्षणा वहीं मान्य है जहाँ मुख्यार्थबाध हो तथा मुख्यार्थ अपने को लक्ष्यार्थ में परिणत कर दे। पर व्यञ्जना में चूँकि ऐसा नहीं होता अतः वह लक्षणा से स्वरूपतः भिन्न है।[2]

इस प्रकार ध्वनि और भक्ति का पर्यायवत् ताद्रूप्य सम्भव नहीं।

(२) भक्ति को ध्वनि का लक्षण भी नहीं माना जा सकता।[3] क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'भक्ति' रूप लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष की प्रसक्ति होती है। इसलिए कि लक्षण किसी भी पदार्थ का वह धर्म है जो उसे (अपने आश्रय को) सजातीय और विजातीय समस्त तद्भिन्न पदार्थों से अलग सिद्ध कर सके।[4] अतः किसी भी वस्तु का लक्षण वह हुआ जो उस वस्तु की प्रत्येक इकाई में व्याप्त हो और साथ ही उस वस्तु से भिन्न किसी भी वस्तु में न पाया जाता हो। दूसरे शब्दों में लक्षण को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने पृथिवी का लक्षण पृथिवीत्व (गन्धत्व) जो दिया है वह पृथिवी के प्रत्येक इकाई—वृक्ष, पुष्प,

१. अयञ्चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्ष्यति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदा पदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ—ध्व०, पृ० १०५०

२. 'यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम्।' ध्व०, पृ० १०५०

३. अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेः न चासौ लक्ष्यते तया॥ ध्व० १।१४॥

४. (क) समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः (सांख्यकारिका—५)

(ख) तत्र…गुणालङ्कारादिभिः निरूपणीये तस्मिन् (काव्ये) विशेष्यतावच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते…रसगङ्गाधर, पृ० ८

पल्लव आदि में व्याप्त है, साथ ही तदितर तत्त्व जलादि में व्याप्त नहीं है, किन्तु भक्ति में ध्वनि के प्रति ये दोनों ही सीमाएँ नहीं दीखतीं। भक्ति ध्वनि के प्रत्येक स्थल में नहीं दिखायी देती और साथ ही ऐसे स्थलों में भी देखी जाती है जहाँ ध्वनि का सर्वथा अभाव रहता है। उदाहरणार्थ 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्' में जडगतत्वेन चेतन-सुलभ 'वदति' क्रिया का प्रयोग अनुपपन्न होने के कारण लक्षणा तो है किन्तु यहाँ ध्वनि नहीं है। ध्वनि तो उन्हीं शब्दों में होती है जो व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर उक्त्यन्तर के द्वारा अशक्य चारुत्व का प्रकाशन करें। पर प्रकृत में 'वदति' शब्द ऐसे चारुत्व का प्रकाशन नहीं कर रहा है जो उक्त्यन्तर के द्वारा सम्भव न हो।[1] वस्तुतः व्यङ्ग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि होती है, पर प्रकृत में तो जडगतत्वेन चेतनसुलभ व्यापार—'वदति'—का प्रयोग जितना चमत्कारकारी है, उतना उससे प्रकाशित 'प्रकटयति' रूप व्यङ्ग्यार्थ नहीं। अतः यहाँ ध्वनि नहीं है। इसी प्रकार लावण्यादिक रूढा लक्षणा के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ ध्वनि के अभाव में भी भक्ति है।[2] अतः ध्वनिभिन्न स्थल में भी होने के कारण भक्ति अतिव्याप्ति दोष से दूषित हुई।[3] साथ ही भक्ति अव्याप्ति दोष से भी दूषित हुई, इसलिए कि ध्वनि के विवक्षितान्यपरवाच्य नामक भेद तथा अन्य बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। ऐसी दशा में भक्ति ध्वनि का लक्षण कैसे बन सकती है।[4]

इतने पर भी यदि तुष्यद्दुर्जनन्यायेन यह स्वीकार कर लिया जाय कि जहाँ-जहाँ भक्ति है वहाँ-वहाँ ध्वनि भी होती है तो भी भक्ति को ध्वनि का लक्षण तो नहीं ही माना जा सकता है, इसलिए कि दोनों ही वृत्तियों के विषय भी भिन्न हैं और भिन्नविषयक वृत्तियों में धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं। धर्म ही लक्षण कहा गया है। लक्षणा का विषय है अमुख्यार्थ जबकि ध्वनि का विषय है, प्रयोजन। प्रयोजन को भी द्वितीय लक्षणा का विषय मानना उचित नहीं इसलिए कि यहाँ लक्षणा की सामग्री मुख्यार्थबाधादित्रय का अभाव है[5] और साथ ही प्रयोजन रूप अर्थ को देने में शब्द स्खलद्गति नहीं है,[6] क्योंकि यदि

---

१. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥१।१५॥
अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः। ध्व०, पृ० २८८

२. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ ध्व० १।१६

३. तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्।—ध्व० १।१४ का वृत्ति।

४. अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद्भक्तिः अलक्षणम्। ध्व०, पृ० ३११

५. 'अभ्युपगम्यापि ब्रूमः - भवतु यत्र तत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः। तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः। न च भिन्नविषययोः धर्मधर्मिभावः। धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणा व्यापारो युक्तः लक्षणासामग्र्यभावात्।'—ध्व० लो०, पृ० ३०४।

६. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्। यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्-गतिः। ध्व० १।१७

शब्द उस प्रयोजनभूत अर्थ को भी देने में स्खलद्गति हो जाता है तब तो वह प्रयोग ही दूषित होगा।[१] इसके अतिरिक्त दोनों के मूल अथवा आश्रय भी भिन्न हैं। गुणवृत्ति वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित है, जबकि ध्वनि का मूल व्यञ्जकत्व है।[२] गुणवृत्ति का उत्थान ही मुख्यार्थबाध पर आधारित है, अतः वह अभिधाश्रित तथा अभिधा-पुच्छभूता हुई अतः वह व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है?[३] इसलिए ध्वनि गुणवृत्ति से सर्वथा भिन्न है।[४] पर चूंकि ध्वनि के कुछ भेदों में जैसे अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेद-प्रभेदों में लक्षणा और ध्वनि दोनों की स्थिति साथ-साथ होती है, अतः उसे किसी ध्वनि-भेद का उपलक्षणमात्र स्वीकार किया जा सकता है।[५]

पर महिमभट्ट को ध्वनिकार की ये सारी ही मान्यताएँ मान्य नहीं हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि भक्ति और ध्वनि में भेद नहीं है, इसलिए कि दोनों के स्वरूप एक से हैं और साथ ही भक्ति ध्वनि का लक्षण भी बन सकती है और ऐसा मानने से वह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से दूषित नहीं होती।[६] तद्भिन्न में तत् का आरोप ही भक्ति का लक्षण है जो कि अर्थान्तरप्रतीति का एक प्रकारमात्र है।[७] इस प्रकार आरोप के विषयभूत अर्थ में जहाँ आरोपित अर्थ के कारण 'विशेष' का आधान होता है, वहाँ पर गुणवृत्ति होती है।[८] यह गुणवृत्ति भी द्विविध होती है, क्योंकि भक्ति के प्रयोजक तत्त्वारोप के हेतु दो हैं—(१) तत्साम्य और (२) तत्सम्बन्ध।[९] इनमें 'गौर्वाहीकः' प्रथम प्रकार के गुणवृत्ति का उदाहरण है और 'गङ्गायां घोषः' द्वितीय वर्ग के गुणवृत्ति का उदाहरण है। शब्द का अपने अर्थ के प्रति जो साक्षात् वृत्ति है, वह शब्द की मुख्या-

---

१. तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्—ध्व०, पृ० ३०८।

२. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्। ध्व०, १।१८।

३. यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोः वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः। सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् - ध्व० लोचन ३१०

४. तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। ध्व०, पृ० ३११

५. 'कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्। ध्व० १।१९

६. भक्त्या बिभर्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः। न च नाव्याप्त्यति-व्याप्त्योरभावाल्लक्ष्यते तया। हि० व्य० वि० १।५८।

७. अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्णलक्षणमिष्यते। अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते।—हि० व्य० वि०, १।६०

८. आरोपविषये यत्र विशेषः सम्प्रतीयते। अर्थादारोपितात् तत्र गुण-वृत्तिरुदाहृता॥ —हि० व्य० वि०, १।५४

९. तत्साम्यतत्सम्बन्धौ हि तत्त्वारोपैककारणम्। गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा॥१।४७॥—हि० व्य० वि०

वृत्ति है, किन्तु अर्थानुसारी यह व्यापार अर्थ के व्यवधान के कारण गौणी वृत्ति कहलाता है।[१] वस्तुतः यह शब्द का व्यापार है ही नहीं, इसलिए कि शब्द द्वारा अपनी मुख्य वृत्ति अभिधा का परित्याग युक्ति-सिद्ध नहीं है। 'गौर्वाहीकः' इत्यादि गौणीवृत्ति के स्थलों में तो आरोपित अर्थ ही (आरोप, विषय के साथ) अपने साम्य का अनुमान कराता है।[२] लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि जो पदार्थ तुल्य होते हैं उन्हीं पर उनके दर्शन से स्मृत अन्य पदार्थ का आरोप लोग करते हैं, शब्द का आरोप नहीं करते, वह तो केवल अपने अर्थमात्र को देने में ही पर्यवसितसामर्थ्य होता है।[३] शब्दों की गुणवृत्ति में जितनी सामग्री (व्यक्तिवादियों को) हेतुरूप से अभिप्रेत है, उसे हम अर्थान्तर के प्रति लिङ्गरूप से स्वीकार करते हैं।[४] और लिङ्ग से लिङ्गी की प्रतीति अनुमान ही है। अतः गुणवृत्ति में अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी नहीं है इस प्रकार उसका वाचकाश्रयत्व सिद्ध नहीं होता।[५] वह जो अर्थान्तर है वह शब्द का वाच्यार्थ तो कहा नहीं जा सकता, इसलिए कि शब्द का उसमें सङ्केत नहीं है और यदि उसे प्रतीयमान स्वीकार किया जाता है तो उसकी अनुमेयता स्पष्ट ही है।[६] शब्द तथा अर्थ के बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न बनने के कारण व्यङ्ग्यार्थ भी अनुमेय ही है। ऐसी दशा में जब (लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ) दोनों ही अनुमानगम्य है तो इनमें स्वरूपकृत भेद कैसे सम्भव है? इसके अतिरिक्त गुणवृत्ति और ध्वनि दोनों का गुण भी जब एक—गमकत्व—है तो फिर इनके आश्रय एक होने पर इनमें धर्मधर्मिभाव और तदाश्रित लक्षणलक्ष्यभाव भला क्यों नहीं सिद्ध होगा?[७] भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने से उसमें अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आते, इसलिए कि 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं' इत्यादि ध्वनि के स्थानों में भी

---

१. व्यापारोऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुख्या वृत्तिरुदाहृता। अर्थारोपानुगस्त्वेष गौणी तद्व्यवधानतः—हि० व्य० वि० १।५१।

२. मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते। विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत्॥ —हि० व्य० वि० १।४८॥

३. तुल्यादिषु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनस्मृतम्। आरोपयेन्न शब्दं तु स्वार्थमात्रानुयायिनम् —हि० व्य० वि० १।४९

४. गुणवृत्तौ गिरां यावद् सामग्रीष्टा निबन्धनम्। सैव लिङ्गतयाऽस्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति। —हि० व्य० वि० १।५५

५. लिङ्गाच्च लिङ्गिनः प्रतीतिरनुमानमेवेति न गुणवृत्तावर्थान्तरप्रतीतिः शब्दीति तस्या वाचकाश्रयत्वमसिद्धमेव। —हि० व्य० वि०, पृ० १२१।

६. न हि तत् समयाभावाद्वाच्यं शब्दस्य कल्प्यते। प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्यानुमेयता॥ —हि० व्य० वि० १।५६

७. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिरसङ्गता। गमकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद् विषयो न किम्। व्यञ्जकत्वैकमूलत्वमसिद्धंञ्च ध्वनेर्यतः। गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रयः। व्य० वि०, १।६३, ६४

भक्ति है, तथा लावण्यादिक रूढा लक्षणा के स्थलों में भी ध्वनि है, इसीलिए तो समित् इध्म आदि शब्द पदादि-व्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण बताए गए हैं। अतः उसपर अतिव्याप्ति का आक्षेप उचित नहीं।[1]

विचार करने पर महिमकृत यह खण्डन तथा भक्ति एवं ध्वनि की एकरूपता का प्रतिपादन उनका पौरोभाग्य ही अधिक प्रतीत होता है, इसलिए कि स्वकल्पित लक्षण के द्वारा परमत का खण्डन उचित नहीं। महिमभट्ट की गुणवृत्ति का लक्षण उनका सर्वथा अपना है। वस्तुतः ध्वनिकार का ही विवेचन अधिक सूक्ष्म, वैज्ञानिक और हृदयग्राही है।

महिमा द्वारा तात्पर्यवाद का खण्डन

अपनी काव्यानुमिति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ध्वनि-खण्डन के साथ-साथ उस समय तक प्रचलित अन्य प्रस्थानों का भी खण्डन महिमभट्ट के लिए आवश्यक था। काव्य के क्षेत्र में उस समय तक प्रचलित ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रस्थान थे—तात्पर्यवाद तथा वक्रोक्तिवाद। महिमभट्ट ने जिस तात्पर्यवाद का खण्डन किया है, वह सम्भवतः धनिक द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवाद ही था, इसलिए कि जिस विष-भक्षण-वाक्य की अनुमानगम्यता का प्रतिपादन महिमभट्ट ने किया है, उसमें 'उसके घर भोजन करना विष-भक्षण से भी दारुणतर है', रूप अर्थ की प्रतीति को तात्पर्यशक्तिलभ्य धनिक ने ही प्रतिपादित किया था।[2] साथ ही धनिक महिमभट्ट के ज्येष्ठ समसामयिक थे।[3] अतः उक्त खण्डन को धनिक का खण्डन मानना अनुचित न होगा।

महिमभट्ट का कहना है कि कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि वाच्य अर्थ की प्रतीति से लेकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति पर्यन्त शब्द का एक ही व्यापार क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार बलवान् धनुषधारी द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण शत्रु के कवच एवं वक्ष का भेदन करके प्राण-हरण भी करता है, उसी प्रकार सत्कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द स्वार्थ का अभिधान और अर्थान्तर की प्रतीति एक ही व्यापार द्वारा कराता है। ऐसा इसलिए माना गया है क्योंकि जिस शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, वही उस शब्द का वास्तविक अर्थ होता है। अतः प्रतीयमान अर्थ शब्द-व्यापार का ही विषय है, अर्थ-व्यापार का नहीं।[4] पर ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, इसलिए कि शब्द साक्षात् रूप से अर्थान्तर की प्रतीति करा नहीं सकता। साक्षात् रूप से तो वह स्वार्थ का ही प्रत्यायन कराता है। परम्परया उसे अर्थान्तर-प्रतीति का हेतु स्वीकार करने पर कारण-कार्य-

---

१. सुवर्णपुष्पामित्यादौ न चाव्याप्तिः प्रसज्यते।
यतः पदार्थवाक्यार्थभेदात् भक्तिर्द्विधा मता॥ १।५८॥ हि० व्य० वि०
रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रसक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१।६१ (भवन्त्येवेत्यर्थः)
समिदिध्मादयः शब्दाः प्रसिद्धाः गुणवृत्तयः।
ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणीकृताः। हि० व्य० वि० १।६५

२. दशरूपक—अवलोक, पृ० २४९-२५०

३. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० २३६

४. हिन्दी व्यक्तिविवेक पृ० १३७

व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जायगी, क्योंकि तब तो सिंचाई के साधनभूत घट का निर्माण करने वाला कुम्भकार भी वसन्त ऋतु के समान ही पुष्पों के विकास का मुख्य कारण बन जायेगा। अत: अर्थान्तर की प्रतीति अर्थ-व्यापार का विषय मानी जानी चाहिए, शब्द-व्यापार का नहीं[1] इसलिए कि जिस प्रकार सायक स्वभावत: छेद्य भेद्य आदि पदार्थों का छेदन-भेदन आदि एक ही वृत्ति के द्वारा करता है, उसी प्रकार शब्द नहीं करता। शब्द तो सङ्केत की सहायता से अपना कार्य करता है, अत: यह उसी अर्थ में प्रवृत्त होता है, जिसमें इसका सङ्केत रहता है। अत: शब्द की शक्ति केवल अभिधेयार्थ तक है, अर्थान्तर तक नहीं, इसलिए कि अर्थान्तर में शब्द का सङ्केत नहीं होता। सङ्केत के अभाव में भी अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से मानने पर किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ के ज्ञान का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अत: अर्थान्तर की प्रतीति अर्थ के व्यापार का विषय मानी जानी चाहिए।[2]

'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था' वाक्य में जो विष-भक्षण की अनुज्ञारूप अर्थ है, वही प्रकरणादि की सहायता से 'इसके घर भोजन करना विष-भक्षण से भी दारुणतर है' इस अर्थान्तर का अनुमान कराता है। क्योंकि ऐसा तो होता नहीं कि कोई भी व्यक्ति, जो कि उन्मत्त नहीं है और अपने मित्र का हित-चिन्तक है, कहीं पर अपने मित्र के लिए भोजन का निषेध करता हुआ अकारण उसे विष-भक्षण की अनुमति प्रदान करने लगे। अत: वक्ता के स्वरूप एवं प्रकरणादि का ज्ञान रखने वाला प्रतिपत्ता विष-भक्षण की अनुज्ञा के कारण इसके घर भोजन करने के दारुणतरपरिणामत्व का अनुमान कर लेता है। प्रतिपत्ता के इस अनुमान में अप्रस्तुत भी विष-भक्षण की अनुज्ञा से युक्त वाक्यार्थ का उपन्यास ही हेतु समझा जाना चाहिए, इसलिए कि अप्रस्तुत अर्थ के उपन्यास का उद्देश्य ही प्रस्तुत से अतिरिक्त अर्थ का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार विष-भक्षण वाक्य में भी अर्थान्तर की प्रतीति अनुमानगम्य है अत: उसे शब्द-व्यापार का विषय बताना उचित नहीं।[3]

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का खण्डन

महिमा के अनुसार कुन्तककृत काव्य-लक्षण भी भङ्ग्यन्तर से अभिहित ध्वनि-लक्षण ही है। अत: ध्वनि-लक्षण के खण्डन से उसका भी खण्डन स्वत: हो जाता है। कुन्तक ने 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद-कारिणि'॥ इत्यादि काव्य-लक्षण करते हुए शास्त्रादि में प्रचलित शब्द और अर्थ की योजना से भिन्न जो वैचित्र्य है, उस वैचित्र्य को 'वक्रत्व' संज्ञा से अभिहित करते हुए उसे काव्य का जीवित बताया है। महिमा के अनुसार उनकी यह मान्यता ठीक नहीं इसलिए कि शास्त्रों की शब्दार्थ-योजना से भिन्न यह जो वैचित्र्य होगा वह या तो औचित्य में पर्यवसित होने वाला होगा या शास्त्रों के अभिधेयार्थ से भिन्न प्रतीयमान की अभिव्यक्ति

---

१. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' पृ० १४०
२. वही, पृ० १४०-१४१
३. वही, पृ० १३३

करने के कारण होगा। क्योंकि प्रचलित सर्वसामान्य योजना से भिन्न शब्दार्थ-योजना के वैचित्र्य का कोई तीसरा प्रकार नहीं है। इनमें से काव्यगत शब्दार्थ-योजना के वैचित्र्य के प्रथम पक्ष की सम्भावना नहीं। इसलिए कि उस औचित्य का अलग से उल्लेख व्यर्थ है, क्योंकि वह तो काव्य के स्वरूप-निरूपण से ही सिद्ध है। कवि का कार्य विभावादि की योजना करना है और शास्त्रों के अनुसार ही उपनिबद्ध हुए ही वे विभावादिक रसाभिव्यक्ति के हेतु बनते हैं। और काव्य रसात्मक ही होता है। अत रसात्मक काव्य में अनौचित्य के लिए अवकाश ही कहाँ है, जिसके निराकरण के लिए इस प्रकार का (वक्रताविशिष्ट) काव्यलक्षण किया जाय और यदि उस वैचित्र्य का अर्थ प्रतीयमान की अभिव्यक्ति से युक्त होना है तब तो यह प्रकारान्तर से कहा गया ध्वनि का ही लक्षण हुआ। यही कारण है कि कुन्तक ने भी काव्य के वे ही भेद-प्रभेद और वे ही उदाहरण दिखलाये हैं। ध्वनि का खण्डन तो पहले ही किया जा चुका है, अतः वक्रोक्ति का खण्डन भी उसी से गतार्थ हो जाता है।[1]

इस प्रकार काव्यानुमिति के स्वरूप-निर्देश के साथ-साथ महिमभट्ट उस समय तक प्रचलित समस्त मुख्य प्रस्थानों की अनुपयुक्तता सिद्ध करते हैं। अन्य प्रस्थानों के खण्डन से सम्बद्ध उनके तर्कों का उत्तर देना कठिन अवश्य है पर असम्भव नहीं, क्योंकि ध्वनि-प्रस्थान के खण्डन से सम्बद्ध उनके तर्कों का उत्तर पीछे यथास्थान दिया जा चुका है। स्वयं उनकी भी काव्यानुमिति सर्वथा निर्दोष नहीं है। उसके स्वरूप का विवेचन प्रकृत प्रबन्ध के 'काव्यशास्त्र में अनुमितिवाद' नामक तृतीय अध्याय में किया गया है अतः वहीं द्रष्टव्य है।

———

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक' पृ० १४२

तृतीय अध्याय

काव्यशास्त्र में अनुमितिवाद

'काव्य का आत्मभूत तत्त्व रस है', इस प्रश्न पर किसी भी वादी को विप्रतिपत्ति नहीं है[1]—चाहे वे ध्वनिवादी आचार्य रहे हों या वक्रोक्तिवादी, अनुमितिवादी आचार्य हों अथवा अलङ्कारवादी। यहाँ पर अलङ्कारवादी आचार्यों से तात्पर्य भामह, दण्डी आदिक प्रारम्भिक अलङ्कारवादियों से नहीं है, अपितु जयदेव जैसे अलङ्कारवादियों से है, जिनकी दृष्टि में अलङ्कार का महत्त्व कम नहीं हुआ पर जिन्होंने रस का मूल्य पहिचाना और उसका विवेचन किया। यद्यपि भामह और दण्डी से बहुत पूर्व ही भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र में रस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर चुके थे तो भी इन आचार्यों ने सम्भवतः भ्रान्तिवश उसका सम्बन्ध मूलतः नाटक से ही मानते हुए काव्यशास्त्र में उसकी उपेक्षा की और उसे प्रधान स्थान न देकर रसवद्लंकार में उसका अन्तर्भाव दिखाते[2] हुए उसे गौण स्थान का भागी बनाया। रीतिवादी आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया और रस को रीति के आधारभूत बीस गुणों में एक अर्थगुण कान्ति का मूलतत्त्व बताया।[3] इस प्रकार निमित्तनैमित्तिक के क्रम का विपर्यय कर देने के फलस्वरूप ही ये सिद्धान्त मान्य नहीं रहे।

इनके अनन्तर आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने तो स्पष्टरूप से रस के महत्त्व को स्वीकार किया और उसे काव्यात्मत्व की उपाधि से विभूषित किया।[4] वक्रोक्ति-जीवितकार ने काव्य के प्रयोजन के अन्तर्गत रस के महत्त्व की मुक्त कण्ठ से प्रतिष्ठा की।[5] रसवदलङ्कार के खण्डन के प्रसङ्ग में वे रस को स्पष्टरूप से अलङ्कार्य कहते हुए उसकी प्रधानता को स्वीकार करते हैं।[6] औचित्य सम्प्रदाय का तो रस सर्वस्व है—औचित्य की विचारधारा ही रससापेक्ष्य है। रस की अनुपस्थिति में औचित्य का आधार ही क्या होगा ? आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा था—

---

१. 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।'
— 'हिन्दी व्यक्तिविवेक', पृ० १११

२. (क) 'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा' - भामह काव्यालङ्कार ३।६
(ख) 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः'—दण्डी काव्यदर्श १।५१

३. 'दीप्तरसत्वं कान्तिः'—काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ३।२।१५

४. काव्यास्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ —ध्वन्यालोक १।५ तथा लोचन।

५. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥—वक्रोक्तिजीवित १।५

६. वक्रोक्तिजीवित ३।११

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

इस प्रकार यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि रस-सिद्धान्त काव्याशास्त्र के प्राचीनतम, व्यापकतम और मान्यतम सिद्धान्तों में से रहा है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादक प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है। परवर्ती काव्यशास्त्र में हमें रस-निष्पत्ति की जो प्रक्रिया उपलब्ध होती है, उसका मूलस्रोत भरत का नाट्यशास्त्र ही है। यों भी नाट्य और काव्य में केवल उपायभेद है, फल-भेद नहीं। अतः दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।[1]

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अनुमितिवाद का प्रतिपादक प्रथम और अन्तिम ग्रन्थ आचार्य महिमकृत 'व्यक्तिविवेक' ही है तो भी रस को अनुमेय सिद्ध करने की विचार-धारा का श्रीगणेश नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही श्रीशङ्कुककृत नाट्यशास्त्र की व्याख्या के साथ ही हो चुका था, किन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में श्रीशङ्कुक के केवल पूर्ववर्तित्व के आधार पर महिमा को उनका अनुयायी मान लेना[2] उचित न होगा। विश्वनाथकृत साहित्य-दर्पण के टीकाकार रामचरण की उक्ति[3] भी बहुत विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती, इसलिए कि वे महिमभट्ट से लगभग ७०० वर्ष बाद अठारहवीं शताब्दी में हुए हैं। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने भी पूर्वपक्ष के रूप में 'ध्वन्यालोक' में अनुमितिवाद का उपस्थापन कर उसका खण्डन किया है। महिमभट्ट की काव्यानुमिति की प्रेरणा का स्रोत ध्वन्यालोक में उपस्थापित अनुमितिवाद भी हो सकता है। महिमभट्ट की काव्यानुमिति विषयक मौलिकता के मूल्याङ्कन के हेतु श्रीशङ्कुक की रसानुमिति के स्वरूप का तथा आनन्दवर्धन द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित अनुमितिवाद का उपस्थापन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है।

जैसा कि प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है, श्रीशङ्कुक ने काव्य-शास्त्र के ऊपर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा है, अपितु वे नाट्यशास्त्र के टीकाकारों में से हैं। उनकी टीका आज हमें उपलब्ध भी नहीं है। रसानुमिति सम्बन्धी उनके विचारों के ज्ञान का एकमात्र साधन अभिनवभारती है। इस अभिनवभारती के ही आधार पर परवर्ती आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ आदि ने श्रीशङ्कुक के रस विषयक विचारों का उल्लेख तथा उसकी आलोचना की है। अतः प्रकृति प्रबन्ध में उपस्थापित उनके रसविषयक विचारों का आधार मुख्यरूप से 'अभिनवभारती' तथा गौणरूप से ये सभी ग्रन्थ हैं।

---

१. केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः ।—हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १०१

२. "सम्भवतः इसने श्रीशङ्कुक के अनुमानवाद का अनुसरण किया है"—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २०५ : सेठ कन्हैयालाल–पोद्दार।

३. शङ्कुकमतानुयायिनां व्यक्तिविवेककारादीनां मतं दूषयति'—सा० द० ५।४ की वृत्ति पर टीका।

नाट्यशास्त्र में उल्लिखित श्रीशङ्कुक की रसानुमिति

भरत के प्रसिद्ध रसविषयक सूत्र 'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के व्याख्याताओं की परम्परा में श्रीशङ्कुक का स्थान द्वितीय है। अपने पूर्ववर्ती भट्टलोल्लट के रसोत्पत्तिवाद के प्रति अपनी असहमति अभिव्यक्त करते हुए इन्होंने रस को अनुमेय सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार विभावानुभावव्यभिचारी गम्य अथवा साध्य रस के गमक हैं तथा रस—जो कि अनुकार्यगत रत्यादि स्थायी भावों का नटकृत अनुकरणमात्र है—गम्य है, अनुमेय है। सामाजिक रङ्गमञ्च पर उपस्थित अनुकर्ता नटादि को चित्रतुरगन्यायेन अनुकार्य रामादि समझता हुआ, उसके द्वारा उपस्थापित अनुभाव तथा सहचारियों के सहारे अनुकार्य रामादिक के अनुकृत रत्यादिभावों का नट में अनुमान करके चमत्कृत होता है। नाटक देखते समय दर्शक की मनोवृत्ति कुछ इस प्रकार की होती है—

"रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् सीताद्यात्मकविभावादिसम्बन्धित्वात् सीताविषयक कटाक्षादिमत्वाद्वा यन्नैवं तन्नैवं यथाहम्।

इस प्रकार रस अनुकार्यगत रत्यादिभावों का नटकृत अनुकरण है और उपर्युक्त ढङ्ग से ये अनुकृत रत्यादिक (रस) अनुमेय हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में महिमभट्ट की काव्यानुमिति का शङ्कुक की रसानुमिति से भेद के ज्ञानार्थ इनकी रसानुमिति का विशदीकरण अपेक्षित प्रतीत होता है।

श्री शङ्कुक के रसविषयक विचार इस प्रकार हैं—(रस के) कारणभूत विभावों, कार्यभूत अनुभावों तथा सहचारिभूत व्यभिचारी भावों के द्वारा (जो विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव नट के द्वारा) प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने के कारण कृत्रिम (होते हैं पर कृत्रिम) होते हुए भी उस प्रकार के न प्रतीत होने वाले (विभावादिक रूप) लिङ्ग की सामर्थ्य से अनुकर्ता नट में स्थितरूप से प्रतीत होने वाला स्थायिभाव अनुकार्यरामादिगतस्थायी का अनुकरणस्वरूप होता है (लिङ्ग-सामर्थ्य से प्रतीत होने वाला यह नटगत स्थायी) अनुकरणत्व के कारण ही 'रस' इस भिन्न नाम के द्वारा व्यपदिष्ट होता है।[1]

इनमें (रसानुमिति में कारणभूत) विभाव काव्य के द्वारा अनुसन्धेय होते हैं। (नट द्वारा प्रस्तुत) अनुभाव शिक्षा (अभ्यास) के द्वारा उपस्थित होते हैं। व्यभिचारी भाव (नट के) अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा उपस्थित होते हैं। किन्तु स्थायी काव्यबल से भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। रति, शोक इत्यादिक शब्द अभिधा शक्ति द्वारा रत्यादि को बोधित करते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में (उन रत्यादिक भावों का) अवगमन नहीं करा सकते।[2] इस प्रकार—

---

१. 'हेतुभिः विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।'—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४६

२. "विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः व्यभिचारिणः कृत्रिम निजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। रतिः, शोकः इत्यादयो हि शब्दाः रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति।'
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४६

"भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।
स्वेदोद्गम् इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥'

श्लोक अपने अर्थ का अभिधया प्रतिपादन करता हुआ उदयनगत रति स्थायिभाव को अभिनय द्वारा उपस्थित कर रहा है, शब्द द्वारा उसका (रति का) प्रतिपादन नहीं कर रहा है। यह अभिनय (रत्यादि भावों का) अवगमन या प्रत्यायन कराने वाली शक्ति है और शब्द की वाचक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। (चूँकि स्थायिभाव की प्रतीति शब्द द्वारा सम्भव नहीं है) इसीलिए सूत्र में 'स्थायि' पद का ग्रहण (आचार्य भरत ने) भिन्न विभक्ति में भी नहीं किया है। वह सर्वथा गम्य है वाच्य नहीं।[1] इसलिए अनुक्रियमाण रति ही शृङ्गार है। अतः रस न तो स्थायिभावरूप है और न ही तद्जन्य है।[2]

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि लिङ्गी रस के लिङ्गभूत कृत्रिम हेतुओं (विभावादिकों) से जिन रत्यादिक का अनुमान सामाजिक करता है वे वास्तविक न होकर कृत्रिम हैं, अनुकृत हैं। ऐसी दशा में अवास्तविक रत्यादिकों से आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है, क्योंकि वह तो वास्तविक है और वास्तविक रत्यादि के फलस्वरूप ही उत्पन्न होने वाला है। इसका समाधान शङ्कुक के अनुसार यह है कि मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया देखी जाती है।[3] लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि अंधेरे में पड़ी हुई रज्जु में होने वाली सर्पभ्रान्ति मिथ्या है किन्तु तद्जन्य भय मिथ्या नहीं है, अर्थात् भ्रान्ति भी जिस प्रकार वास्तविक भय को उत्पन्न कर सकती है, उसी प्रकार अनुकृत रत्यादिक की अनुमिति भी वास्तविक आनन्द की अनुभूति सहृदय को करा सकती है। अपने इस मत की पुष्टि में वे बौद्ध आचार्य की इस कारिका को उद्धृत करते हैं—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥'

जिसका अभिप्राय यह है कि किसी दरवाजे के छिद्र से दिखायी देने वाली मणिप्रभा को तथा प्रदीपप्रभा को भ्रान्तिवश मणि समझकर दो व्यक्ति उन्हें लेने के लिए दौड़ते हैं। मणिप्रभा को मणि समझकर दौड़नेवाले व्यक्ति को दरवाजा खोलने पर मणि की उपलब्धि होती है, जब कि प्रदीपप्रभा को मणि समझकर प्रवृत्त होने वाले को दरवाजा खोलने पर मणि की प्राप्ति नहीं होती। जहाँ तक भ्रान्ति का प्रश्न है, दोनों को ही भ्रान्ति हुई है—इसलिए कि दोनों ने ही मणिभिन्न वस्तु को मणि समझने की भूल की है किन्तु इस साम्य के बावजूद भी दोनों की अर्थक्रिया (फलप्राप्ति) में अन्तर है। एक को फल-लाभ (मणि-प्राप्ति) होता है दूसरे को नहीं। इस प्रकार यद्यपि प्रतिपक्षी का यह आक्षेप सत्य है कि अवास्तविक अथवा कृत्रिम वस्तु से वास्तविक वस्तुजन्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकती तो भी लोक में ही हम यह भी देखते हैं कि मिथ्याज्ञान या भ्रान्ति से वास्तविक वस्तु की प्राप्ति होती है। अतः निश्चित ही भ्रान्ति

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४८
२. 'तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं नायुक्तम् ।' पृ० ४४८
३. 'अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा' वही पृ० ४४९

से भी अर्थक्रिया होती है। अतः यदि नटगत अनुकृत रत्यादि की अनुमिति को मिथ्या प्रतीति मान भी लें तो भी उससे आनन्दानुभूति में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता किन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि नटगत अनुक्रियमाण रत्यादि की अनुमिति मिथ्या प्रतीति या भ्रान्ति है ही नहीं। इसके विपरीत अनुकार्य रामादि की भूमिका में उपस्थित नटादि को देखकर सहृदय को उन (नटादिक) की रामादिरूपेण जो प्रतिपत्ति होती है, वह सम्यङ् मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की होती है। जिस प्रकार दर्शक चित्रस्थ तुरग को तुरगभिन्न होने पर भी तु॰ग समझता है, उसी प्रकार राम की भूमिका में उपस्थित नट को दर्शक राम समझता है। रामवेशधारी उस नट को देखकर सामाजिक को इस प्रकार की सम्यक् प्रतीत नहीं होती कि यह नर्तक ही सुखी (राम) है। दर्शक की मिथ्या या विपरीत प्रतीति 'यह सुखी (राम) नहीं है'—नहीं होती। 'यह राम है अथवा नहीं' इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी दर्शक की नहीं होती है और 'यह राम के सदृश है' इस प्रकार की सादृश्य-प्रतीति भी दर्शक की नहीं हाती। दर्शक की प्रतीति इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण चित्रतुगादिन्यायेन 'जो सुखी राम है वह यह (नट) है' इस स्वरूप की होती है।[१] अतः इस प्रतीति को भ्रम नहीं कहा जा सकता। अपने इस मन्तव्य का समर्थन वे वेणीसंहार के इन श्लोकों द्वारा करते हैं—

"प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्तया पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥

शङ्कुक के रस-विवेचन का संक्षेप में आशय यह है—

विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव वस्तुतः कृत्रिम हैं पर वे कृत्रिम से प्रतीत नहीं होते। ये कृत्रिम विभावादिक रस के गमक अथवा लिङ्ग हैं। इनमें तथा रस में गम्यगमकभाव सम्बन्ध है। अनुक्रियमाण रत्यादिक भाव ही वस्तुतः रस हैं जो कि विभावादिक लिङ्ग के द्वारा नटगत रूप में प्रतीत होते हैं। रत्यादिक स्थायीभाव वस्तुतः मुख्यरूप से अनुकार्य रामादिक में रहते हैं। नट उनका अनुकरणमात्र करता है। विभावादि रूप लिङ्ग के द्वारा सामाजिक नट द्वारा अनुक्रियमाण तथा नट में स्थित अनुकृत रत्यादि रूप रस की अनुमिति करके आनन्दानुभूति करता है। नट की रामरूप में होने वाली सामाजिक की प्रतीति सम्यङ् मिथ्या संशय और सादृश्य चारों ही प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होने के कारण भ्रान्ति नहीं कही जा सकती अतः तद्जन्य रसानुमिति से आनन्दानुभूति भी अवश्य होगी।

---

१. "न चात्र नर्तक एवसुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ् मिथ्या-संशय-सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, यः सुखी रामः असावय-मिति प्रतीतिरस्तीति।' —हि० अ० भा०, पृ० ४४८

यह सर्वजनविदित ही है कि श्रीशङ्कुक का यह रस-विवेचन मान्य नहीं हुआ। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने श्रीशङ्कुक की इस व्याख्या की तीक्ष्ण आलोचना की है और दोष दिखाए हैं। प्रकृत में अप्रासङ्गिक होने के कारण उन दोषों का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

आनन्दवर्धन के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित अनुमितिवाद

यद्यपि ये अनुमितिवाद के पोषक आचार्य तो नहीं हैं, तथापि इनके द्वारा खण्डनार्थ पूर्व-पक्ष के रूप में उपस्थापित अनुमितिवाद का स्वरूप श्रीशङ्कुक के रसानुमितिवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इस कारण से इसको अनुमितिवाद के विकासक्रम में द्वितीय सोपान समझा जा सकता है। ध्वनि की स्थापना के लिए जिस प्रकार वे अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद का उल्लेखपूर्वक खण्डन करते हैं, उसी प्रकार ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में स्थूणानिखननन्यायेन ध्वनि की प्रतिष्ठा के हेतु ही अनुमितिवाद की भी पूर्वपक्ष के रूप में उद्भावना करते हुए ध्वनि की अनुमेयता का निषेध करते हैं। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित अनुमितिवाद तथा उसके खण्डन के आधार पर अनुमितिवाद (काव्यानुमिति) का स्वरूप इस प्रकार का होगा—

व्यञ्जकत्व शब्दों के गमकत्व को ही कहते हैं और यह गमकत्व लिङ्गत्व ही है, अतः व्यङ्ग्यप्रतीति का अर्थ हुआ लिङ्गिप्रतीति और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव लिङ्गि-लिङ्गभाव से अभिन्न हुआ।[1] आचार्य के इस कथन से अधोलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) शब्द लिङ्ग या गमक है।

(२) व्यङ्ग्यार्थ लिङ्गी या गम्य है।

(३) अतः व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव भी वस्तुतः लिङ्गिलिङ्गभाव है।

अतः काव्यार्थ के ज्ञान के लिए व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं, अनुमान से ही काव्यार्थ का ज्ञान हो जायगा।

वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा करते हुए व्यञ्जकत्व होता है। वक्ता का अभिप्राय तो अनुमान रूप ही होता है,[2] क्योंकि वक्ता के व्यङ्ग्य अभिप्राय के प्रकाशन में शब्द लिङ्ग होता है। इस प्रकार व्यञ्जना व्यापार अनुमिति से भिन्न कुछ नहीं है।

---

१. व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिलिङ्गि-प्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरःकश्चित्।' ध्वन्यालोकः डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ११०३

२. "अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वम् इदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।"—ध्वन्यालोक :डा० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ११०३

अनुमितिवादियों की उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए ध्वनिकार ने दोनों की भिन्न-विषयता का प्रतिपादन[१] इस प्रकार किया है—

शब्दों के विषय द्विविध होते हैं—अनुमेय तथा प्रतिपाद्य। इनमें से अनुमेय विवक्षारूप होता है और यह विपक्षा द्विविध होती है—

'शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा और शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा।'

इनमें प्रथम का फल है प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति अतः वह शब्द-व्यवहार का अङ्ग नहीं तथा द्वितीय प्रकार की इच्छा में वक्ता को अर्थप्रतिपादन अभीष्ट होता है, जिसमें शब्द कारण होता है। श्रोता वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्दरूप करण के माध्यम से यह अनुमान लगा लेता है कि वक्ता अमुक अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है। इस विवेचन का सार यह है कि वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द को सुनकर श्रोता दो बातों का अनुमान लगा सकता है—(१) वक्ता की शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा का जो कि परगत (वक्ता के हृदय में विद्यमान) होने के कारण अनुमान का ही विषय बन सकती है और श्रोता यह समझ लेता है कि प्रयोक्ता व्यक्ति चेतन है और शब्द का प्रयोग कर सकता है। (२) इसके अनन्तर अर्थ-प्रतिपादनेच्छा का अर्थात् श्रोता प्रयुक्त शब्दविशेषों का निश्चय करता है और तब व्यवधान के बाद उसे यह ज्ञात होता है कि सार्थक शब्दों के प्रयोग के द्वारा वक्ता विशेष-अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है। वक्ता को अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट होता है। अतः प्रतिपादन की इच्छा में कर्म अर्थ ही होता है और उस अर्थ के प्रतिपादन में शब्द करण होता है। इस प्रकार शब्दस्वरूप प्रकाशनेच्छा और अर्थप्रतिपादनेच्छा दोनों ही अनुमान का विषय होती हैं, क्योंकि परगत इच्छा का ज्ञान अनुमान द्वारा ही हो सकता है। इस अनुमान की प्रक्रिया में शब्द करण होता है और शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा तथा अर्थप्रतिपिपादयिषा साध्य होती है। इनमें से प्रथम प्रकार की विवक्षा शब्द से सीधे सम्बद्ध होती है, किन्तु द्वितीय प्रकार की विवक्षा वाक्यानुसन्धान से व्यवहित होती है तो भी हेतुता तो उसमें रहती ही है। अवधेय है कि प्रतिपादनार्थ अभीष्ट अर्थ अनुमान का विषय नहीं, वह तो अनुमेय अर्थप्रतिपादनेच्छा का कर्म ही है।[२] इस प्रकार प्रयोक्ता

---

१. 'न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गि-प्रतीतिरेव।' इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनव का कथन है—प्रदीपा-लोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भावस्य लिङ्गिलिङ्गभावोऽव्यापक इति कथं तादात्म्यम्।' —ध्वन्यालोक—डा० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ११०४-११०५।

२. ''द्विविधो विषयः शब्दानाम्—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषा-वधारणावसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः'' ध्वन्या०: डा० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ११०६।

की शब्द-प्रयुयुक्षा तथा अर्थप्रतिपादनसमीहा अनुमेय हैं और समीहा के द्वारा विषय बनाया गया अर्थ प्रतिपाद्य है। शब्द उस अर्थ का कारण है अतः वह अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता।[1] अनुमितिवादी कह सकता है कि जब शब्द में प्रतिपाद्य अर्थ के प्रति कारणता (हेतुता) है तो वह उस अर्थ का लिङ्ग क्यों न मान लिया जाय? अभिनव के अनुसार शब्द को उस अर्थ का लिङ्ग इसलिए नहीं मान सकते, क्योंकि जब लिङ्ग से साध्यसिद्धि की जाती है तब उस लिङ्ग की कुछ इतिकर्तव्यता होती है, जैसे पक्ष में लिङ्ग की उपस्थिति, पक्षधर्मता का ग्रहण आदि। किन्तु जब हम शब्द से अर्थबोध करते हैं तब हमें लिङ्ग की वह समस्त इतिकर्त्तव्यता उपलब्ध नहीं होती। अतः शब्द से होने वाले अर्थ-बोध को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। शब्द से अर्थ-बोध की प्रक्रिया में लिङ्ग की नहीं, अपितु शब्द की एक भिन्न इतिकर्त्तव्यता उपलब्ध होती है। यह है सङ्केतस्फुरण, प्रकरण आदि का ज्ञान इत्यादि।[2] इस प्रकार अर्थ का विवक्षाविषयत्व शब्दों के द्वारा लिङ्गिरूप में प्रकाशित होता है, उसका (अर्थ का) स्वरूप नहीं।[3] अर्थ का स्वरूप तो प्रतिपाद्यतया ही प्रकाशित होता है। अर्थ को इसलिए भी लिङ्गी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर जिस प्रकार धूमादि से अनुमित अग्न्यादि के विषय में सम्यङ् मिथ्यात्व आदि विवाद प्रवृत्त ही नहीं होते, उसी प्रकार अर्थ के विषय में भी इस प्रकार के विवाद प्रवृत्त नहीं होने चाहिए।[4] उसके विपरीत शब्द से अर्थज्ञान की प्रक्रिया में 'क्या यह ज्ञान सम्यक् है अथवा मिथ्या है' इस प्रकार के सन्देह तथा विकल्प उठते ही हैं। अतः यह सुनिश्चित रहा कि वक्ता के अभिप्रायरूप व्यङ्ग्य में ही शब्दों का व्यापार लिङ्गरूपेण होता है। उन शब्दों द्वारा विषय बनाए गए अर्थ में तो शब्दों का व्यापार प्रतिपाद्यतया ही होता है।[5]

यह प्रतिपाद्य अर्थ द्विविध होता है—वाच्य और व्यङ्ग्य। प्रयोक्ता कभी तो शब्द के द्वारा केवल सङ्केतित अर्थ को ही प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजनवश शब्दों के अभिधेयार्थ से भिन्न एक दूसरे ही अर्थ की प्रतीति कराना चाहता

---

१. 'तत्रशब्दप्रयुयुक्षा अर्थप्रतिपिपादयिषा चेत्युभय्यपि विवक्षानुमेया तावत्। यस्तु प्रतिपिपादयिषायां कर्मभूतोऽर्थः तत्र शब्दः कारणत्वेन व्यवस्थितः न तु असावनुमेयः। तद्विषया हि प्रतिपिपादयिषैव केवलमनुमीयते'—ध्वन्यालोक लोचन : डा० रामसागर त्रिपाठी, —पृ० ११०६।

२. ''न च तत्रशब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्गस्येतिकर्तव्यता पक्षधर्मत्वग्रहणदिका सास्ति अपि त्वन्यैव सङ्केतस्फुरणादिका तत्र तत्र शब्दो लिङ्गम्।''वही पृ०११०७

३. 'विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैः लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्'—ध्व०, डा० रामसागर त्रिपाठी, पृ० १११०

४. 'यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादि विवादा एव न प्रवतेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्' — वही, पृ १११०

५. 'तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया' वही, पृ० ११११

है।[1] इनमें से प्रथम वाच्यार्थ होता है और शब्द से साक्षात् सम्बद्ध होता है तथा द्वितीय व्यङ्ग्यार्थ होता है जो कि वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त होने के कारण वाच्य की भाँति ही शब्द का सम्बन्धी होता ही है, क्योंकि साक्षात् अथवा असाक्षात् होना सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं होता है।[2]

इस पर अनुमितिवादी का यह तर्क कि 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति हो जाने पर उसके सत्यत्व का निश्चय दूसरे प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है अतः यह व्यङ्ग्यार्थ अनुमानगम्य ही हुआ, उचित नहीं। इसलिए कि वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से होता है। पर जिस प्रकार प्रमाणान्तर के अनुगमन के द्वारा वाच्य के सत्यत्व का निर्णय करने पर प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति से वाच्य की शब्द व्यापारविषयता नहीं समाप्त होती, उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की परीक्षा दूसरे प्रमाणों से करने पर भी उसकी शब्द-व्यापारविषयता समाप्त नहीं होती।[3] पर वस्तुस्थिति तो यह है कि काव्य में व्यङ्ग्य-प्रतीतियों के सत्यत्व और असत्यत्व का निरूपण अप्रयोजनीय है[4], इसलिए कि काव्य के वाक्य प्रतीत-मात्र-पर्यवसायी होते हैं, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ के सत्यत्व अथवा असत्यत्व से कोई व्यवधान नहीं पड़ना है। अतः यहाँ प्रमाणान्तर से व्यञ्जना व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि व्यङ्ग्य की प्रतीति सर्वत्र लिङ्गी की ही प्रतीति है।[5]

अनुमान और व्यञ्जना की विविक्तविषयता तथा व्यङ्ग्यार्थ के अनुमानागम्यता से सम्बद्ध इस विवेचन से पूर्वपक्ष के रूप में काव्यानुमिति का जो स्वरूप हमें उपलब्ध होता है, वह निश्चित ही शङ्कुक द्वारा प्रस्तुत अनुमितिवाद से व्यापक है। श्रीशङ्कुक के अनुमितिवाद को हम रसानुमिति की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं जिसमें रस अनुमेय है तथा विभावानुभावव्यभिचारी भाव उनके अनुमापक, गमक अथवा लिङ्ग हैं जब कि आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत अनुमितिवाद काव्यानुमिति है, जिसमें सम्पूर्ण व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीय-मानार्थ) अनुमेय होगा—रस उसका एक भेदमात्र है। अतः यहाँ न केवल विभावादिक हेतु हैं, अपितु शब्द एवं अर्थ भी गमक अथवा हेतु हैं। महिमभट्ट ने काव्यानुमिति का

---

१. 'प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित् स्वशब्दानभिधेय-त्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्'। —वही पृ० १११०

२. 'व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षाद-साक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः।' —वही, पृ० ११११

३. 'यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिः तद्व्यङ्ग्यस्यापि।' वही, पृ० १११४

४. 'काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्य अप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणा-न्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते।' —वही, पृ० १११४

५. 'तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् —वही, पृ० १११४

जैसा साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, वह आनन्दवर्धन द्वारा उद्भावित काव्यानुमितिवाद से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। अतः ध्वन्यालोक का प्रकृत-स्थल महिमभट्ट की काव्यानुमिति का प्रेरणा-स्रोत माना जा सकता है। साथ ही इसी प्रसङ्ग में ध्वनिकार द्वारा कथित अनुमितिवाद के प्रबल विरोधी अधोलिखित वाक्य भी महिमभट्ट के लिए प्रेरक सिद्ध हुए होंगे—

(१) 'न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्व लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेव।'

(२) 'तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्'। अस्तु।

महिमभट्ट द्वारा उपस्थापित काव्यानुमितिवाद

महिमा के 'व्यक्तिविवेक' में काव्यानुमिति अपने पूर्ण विकसित रूप में उपस्थित होती है। उसके प्रत्येक अङ्ग उपाङ्ग का विस्तृत विवेचन' व्यक्तिविवेक' में उपलब्ध होता है।

महिमभट्ट को लक्षणा, व्यञ्जना तथा धनञ्जय को तात्पर्यवृत्ति स्वीकार्य नहीं है। वह शब्द की केवल एक ही वृत्ति मानते हैं और वह है अभिधा[1] जो कि केवल वाच्यार्थ तक सीमित है। ऐसी दशा में प्रतीयमान अर्थ, जिसकी वाच्य से भिन्नता आनन्दवर्धनाचार्य ने सप्रमाण सिद्ध की है[2]—का बोध किससे माना जाय। यह एक समस्या महिमभट्ट के सम्मुख थी, जिसका समाधान उन्हें प्रस्तुत करना था। जहाँ तक प्रतीयमान की सत्ता और भेदों का प्रश्न है, जैसा कि आगे प्रतिपादित किया जायगा, महिमा का आनन्दवर्धन से कोई वैमत्य नहीं—वैमत्य है केवल इस प्रश्न पर कि क्या वह अर्थ किसी शब्द-शक्ति द्वारा लभ्य है अथवा किसी प्रमाण द्वारा। महिमा की ऐसी मान्यता है कि उस प्रतीयमान की प्रतीति के लिए शब्द की अतिरिक्त शक्ति—व्यञ्जना—को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह अर्थ वस्तुतः अनुमानगम्य है। अनुमान में लिङ्ग साधन होता है और लिङ्गी साध्य होता है और दोनों के बीच साध्यसाधन भाव होता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण का प्राण है--साध्यसाधनाभाव अतः व्यङ्ग्यार्थ को अनुमानगम्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतीयमान तथा वाच्य के बीच साध्यसाधनभाव हो। उनकी काव्यानुमिति की सफलता काव्य के साध्य-साधनभावगर्भता पर आधारित है। अतः बड़े ही संरम्भ के साथ वे काव्य की साध्य-साधनभावगर्भता के प्रतिपादन का उपक्रम करते हैं। वे न केवल वाच्य और प्रतीयमान के बीच ही साधनसाध्यभाव को स्वीकार करते हैं, अपितु उनके अनुसार सम्पूर्ण शाब्द-व्यवहार ही साध्यसाधनभावगर्भित है। अतः समस्त शाब्दव्यवहार को ही अनुमानरूप स्वीकार किया जाना चाहिए।[3] शाब्द व्यवहार ही दूसरे व्यक्ति के किसी कार्य में प्रवृत्त

---

१. 'शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः'। 'व्यक्तिविवेक' १।२७

२. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। ध्व० १।४

३. 'सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः' —हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० २६-२७।

होने अथवा किसी कार्य से निवृत्त होने का कारण अथवा हेतु है ।[१] यह प्रवृत्ति और निवृत्ति सम्प्रत्यय और असम्प्रत्ययरूप होते हैं । सम्प्रत्यय और असम्प्रत्ययरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति शाब्दव्यवहार के अभाव में अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं है अतः निश्चित है कि परप्रवृत्ति तथा परनिवृत्ति का हेतु शब्द ही है ।[२] 'क्योंकि अनुमानरूप युक्ति का आश्रय लिए बिना कोई भी समझदार व्यक्ति केवल वचनमात्र से सम्प्रत्ययवान् नहीं बन जाता ।[३] तात्पर्य यह है कि शब्द से अर्थज्ञान करने वाला बालक यह देखता है कि उत्तम वृद्ध कुछ शब्दों का उच्चारण कर रहा है पर केवल इतने से उसे शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता । वह यह भी देखता है कि उन उच्चरित शब्दों को सुनकर मध्यम वृद्ध—जिसे उन शब्दों के अर्थ का सम्प्रत्यय हुआ है—प्रतिक्रिया के रूप में किसी कार्य-विशेष में प्रवृत्त होता है या किसी कार्यविशेष से निवृत्त होता है । इसके अनन्तर वह अनुमान द्वारा यह स्थिर करता है कि उच्चरित शब्दों का मध्यमवृद्ध के प्रतिक्रियाविशेष से कुछ सम्बन्ध है, क्योंकि उन शब्दों के सुनने के बाद ही उसने ऐसी प्रतिक्रिया की है, उसके पूर्व या उसके बाद वह इस प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता । अतः निश्चित ही शब्द साधन है और तत्तत् प्रतिक्रिया साध्य । इस प्रकार सम्पूर्ण शाब्दव्यवहार के मूल में यह साध्यसाधनभाव स्थित है ।

यह शब्द पद और वाक्य-भेद से द्विविध होता है । उनमें से पद नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय भेदों वाला है[४] तथा वाक्य में चूँकि क्रिया की प्रधानता होती है और वह एक ही होती अतः वाक्य एक ही प्रकार का होता है ।[५] शब्द की भाँति अर्थ भी द्विविध होता है—वाच्य और अनुमेय । इनमें जो अर्थ शब्दशक्ति का विषय होता है उसे वाच्य कहते हैं और वही अर्थ मुख्य होता है ।[६] लिङ्गभूत उस वाच्यार्थ से अथवा उस वाच्य से अनुमित अर्थ से जिस अर्थान्तर का अनुमान होता है, वह अर्थान्तर अनुमेय हुआ ।[७] यह अनुमेयार्थ त्रिविध होता है - वस्तुमात्र, अलङ्कार तथा रस । इनमें से प्रथम दो अर्थात् वस्तु और अलङ्कार वाच्य भी हो सकते हैं, किन्तु रस कभी वाच्य नहीं हो सकता । वह केवल अनुमेय होता है ।[८]

द्विविध शब्दभेदों में से पद का अर्थ केवल वाच्य हुआ करता है, क्योंकि पद के विभाग सम्भव नहीं । अतः उसमें साध्यसाधनभाव भी नहीं बनता । पर वाक्य का अर्थ

---

१. 'तस्य परप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात्' । —वही पृ० २७

२. 'तयोश्च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययात्मनोरन्यथाकर्तुमशक्यत्वत:' —वही, पृ० २७

३. 'न हि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद्विपश्चिद्वचनमात्रात् सम्प्रत्ययभाग् भवति' वही पृ० २७

४. 'तत्र पदमनेकप्रकारं नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीयभेदात्, —वही, पृ० २७

५. 'वाक्यमेकप्रकारं क्रियाप्राधान्यात्, तस्याश्चैकत्वात् —वही पृ० ४६

६. 'तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्य: । स एव मुख्य उच्यते । यदाहु: श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमनुमीयते । तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ।' वही पृ० ४७

७ तत् एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेय:'—वही पृ० ४७

८. स च त्रिविध: । वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति । तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवत: अन्त्यस्त्वनुमेय एवेति ।' — वही, पृ० ४७

वाच्य और अनुमेय दोनों हुआ करता है, क्योंकि वाक्य का साध्य और साधन अथवा उद्देश्य और विधेय रूप में विभाजन सम्भव है। फलस्वरूप साध्यसाधनभाव पर आधारित अनुमेयता उसमें सम्भव है। यह साध्यसाधनभाव अनुमेयार्थविषयक होने के समान ही वाच्यार्थविषयक भी हुआ करता है। अतः वाक्यार्थ में भी यह साध्यसाधनभाव पाया जाता है। पद के वाच्यार्थ में साध्यसाधनभाव का अभाव केवल इसलिए कहा गया है कि वहाँ पद अखण्ड होते हैं, जब उनका विभाजन ही सम्भव नहीं तो साध्य और साधन की व्यवस्था उनमें कैसे बन सकती है? फलस्वरूप उस पर आधारित अनुमेयता भी उनमें नहीं सम्भव है।

वाक्यार्थ के विषय में यह साध्यसाधनभाव इस प्रकार घटित होता है—

वाक्य से प्रतीत होने वाले अर्थ में अंश की कल्पना की जाती है। उनमें से कुछ अंश विधेय होता है और कुछ अनुवाद्य। कहीं पर विधेय सिद्ध होता है। अतः उसके शब्दतः प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं होती, पर कहीं यह विधेय असिद्ध (साध्य) होता है। ऐसे स्थलों पर इसके उपपादन की आवश्यकता होती है। इनमें से जहाँ विधेय सिद्ध हुआ करता है, वहाँ तो विध्यनुवादभाव हुआ करता है[1] क्योंकि वहाँ स्वरूपमात्र का अनुवाद होता है, जैसे—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' में 'अस्ति' विधेयांश है जो कि सुप्रसिद्ध होने के कारण उपपादन की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु जहाँ पर विधेयांश असिद्ध होता है, वहाँ पर (अनुवाद्य और विधेय नामक इन परिकल्पित) अंशों में साध्यसाधनभाव होता है, क्योंकि वहाँ पर अनुवाद्यांश साधन बना दिया जाता है।[2] उद्देश्य और विधेयांश का यह साध्यसाधनभाव अविनाभाव-सम्बन्ध के निश्चय द्वारा किया जाता है जो कि प्रमाणमूलक होता है।[3] जैसे—

कयासि कामिन् सरसापराधः पादानतः कोपनयावधूतः।
यस्याः करिष्यामि दृढ़ानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम्॥

इस श्लोक के प्रथमार्द्ध में सरसापराधत्व कारण है और पादानति कार्य है तथा कोपनत्व कारण है और अवधूति उसका कार्य है। इस प्रकार इनमें कार्यकारण-भाव है जो कि लोक प्रमाण से सिद्ध है। तन्मूलक यहाँ साध्यसाधनभाव है। यहाँ पर हेतुओं का शब्दतः उपादान नहीं हुआ है। अतः इनके बीच साध्यसाधनभाव आर्थ है। अथवा जैसे—

अयाचितारं नहि देवनद्रिः सुतां प्रतिग्राहयितुं शशाक।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे॥

---

१. 'वाक्यार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनायामंशानां विध्यनुवादभावेनावस्थितेर्विधेयांशस्य सिद्धासिद्धतयोपपादनानपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधो बोद्धव्यः। तत्र सिद्धो विध्यनुवादभावः स्वरूपमात्रानुवादाद्'—हि० व्य० वि०, पृ० ४८

२. 'असिद्धो साध्यसाधनभावरूपोऽनूद्यमानांशस्य साधनधुराधिरोहात्'—वही पृ० ४८

३. 'साध्यसाधनभावश्चानयोः अविनाभावावसायकृतोऽवगन्तव्यः। स च प्रमाणमूलः। —वही पृ० ५२

इस श्लोक में कारण (साधन) के अभाव में कार्य (साध्य) के अभाव का प्रतिपादन किया जाता है। यहाँ कारणभूत भगवान् शिवगत याचना के अभाव में कार्यभूत गिरिराजगत कन्याग्राहणसामर्थ्य का अभाव प्रतिपादित है। दान और याचना का कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध शास्त्रमूलक है। इसी प्रकार--

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥

इस श्लोक में भगवान् शिवनिष्ठ कृच्छ्राद्दिवसातिवाहनत्व तथा अद्रिसुतासमागमोत्कत्व में कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध है जो कि अध्यात्म या प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और तन्मूलक साध्यसाधनभाव यहाँ पर है। शब्दतः प्रतिपादित न होने के कारण यहाँ भी कार्यकारणभाव आर्थ है।

यह साध्यसाधनभाव द्विविध होता है—शाब्द और आर्थ। शाब्द साध्यसाधनभाव वहाँ हुआ करता है जहाँ कारणत्व अथवा साधनत्व का शब्दतः प्रतिपादन हो और इसके विपरीत आर्थ हुआ करता है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में यथास्थान इङ्गित किया गया है। कहीं पर साधन पदार्थ रूप होता है तो कहीं पर वाक्यार्थ रूप। इसी प्रकार कहीं पर साध्य पदार्थ रूप होता है तो कहीं पर वाक्यार्थरूप। पदार्थ भी जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। अतः साधन पदार्थ तथा साध्य पदार्थ भी इतने ही भेदों वाले हुए। इतना ही नहीं, कहीं तो यह पदार्थ धर्म रूप होता है, कहीं धर्मीरूप और धर्म भी सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य भेदों वाला होता है। वाक्यार्थ क्रियाप्राधान्य के कारण यद्यपि एक ही प्रकार का होता है, किन्तु कारक-वैचित्र्य के कारण वे भी अनेक प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार यह साध्यसाधनभाव अनेक प्रकार के हुआ करते हैं और इन सब के परस्पर सङ्कर से और भी अनेक प्रकार हो जाते हैं। स्थालीपुलाकन्यायेन यहाँ महिमा द्वारा उद्धृत एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥"

राजा दिलीप यद्यपि प्रजा के पिता नहीं है तो भी शिक्षा दिलाने, रक्षा करने और भरण-पोषण करने से वह प्रजा के पिता थे। यहाँ पर विनयाधान, रक्षण और भरण पदार्थ राजा दिलीप के पितृत्व के हेतु हैं। दोनों ही पदार्थरूप हैं अतः पदार्थों का साध्यसाधनभाव है। साथ ही सारे हेतु पञ्चम्यन्त हैं। अतः साध्यसाधनभाव शाब्द है। पिता धर्मी है और विनयाधानादि धर्म है किन्तु धर्मी और धर्म दोनों ही भिन्नविभिक्तिक हैं अतः धर्मी और धर्म का वैयधिकरण्य भी इसी में दर्शनीय है। यही धर्म का धर्मी के साथ समानाधिकरण्य हो जाने पर साध्यसाधनभाव आर्थ हो जाया करता है जैसे कि इस श्लोक में—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरस्तु मृष्यते।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥

'द्विषदुदयगतदुःखदपरिणामत्व' साधन है 'सुमर्षणत्व' साध्य अर्थात् लोग शत्रु के उदय को भी इसलिए आसानी से सहन कर लेते हैं, क्योंकि उस अभ्युदय का परिणाम

दुःखद है। दूसरे शब्दों में सुमर्षणत्व का हेतु है, उदय का दुःखदपरिणामत्व। इसी प्रकार शत्रुगत परिक्षय के अमर्षणत्व (साध्य) का हेतु है परिक्षयगतफलोन्मुखता। प्रकृतपद्य में उदयः धर्मी है। गुरुरस्वन्ततरत्व उसका धर्म है तथा परिक्षयः धर्मी है और फलसम्पत्प्रवणत्व उसका धर्म है और दोनों ही स्थल में धर्मी और धर्म का समानाधिकरण्य है अतः कार्य और कारण का साध्यसाधनभाव आर्थ ही है शाब्द नहीं। यहाँ भी दुःखदपरिणामत्व तथा सुमर्षणत्व एवं फलोन्मुखता एवं अमर्षणत्व चूँकि पद ही हैं अतः इनका साध्यसाधनभाव पदार्थगत साध्यसाधनभाव के ही अन्तर्गत आएगा।

वाक्यार्थविषयक शाब्दसाध्यसाधनभाव के लिए अधोलिखित पद्य विचारणीय है—

'सरस्यामेतस्यामुदरबलिवीचीविलुलितं
यथा लावण्याम्भो जघनपुलिनोल्लङ्घनपरम्।
यथा लक्ष्यश्चायं चलनयनमीनव्यतिकर-
स्तथा मन्ये मग्नः प्रकटकुचकुम्भस्स्मरगजः।'

यहाँ 'स्मरः प्रविष्टः' यह वाक्यार्थ साध्य है तथा उदरवलिसम्भूतजघनवैपुल्यपूर्वक जो लावण्य है, उसका प्रतिपादक वाक्यार्थ हेतु है तथा 'यथा' पद के द्वारा इसके हेतुत्व का निर्देश होने के कारण शाब्द साध्यसाधनभाव हुआ। वाक्यार्थ का हेतुत्व शब्दतः निर्दिष्ट न होने पर साध्यसाधनभाव आर्थ हो जाया करता है जैसे इस पद्य में—

'दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥'

यहाँ पर चार वाक्य है जिनमें बाद के वाक्य पूर्ववर्ती वाक्य के प्रति हेतु हैं। वह इस प्रकार—

स्वर्गार्थप्रार्थनायां श्रमो वृथा (साध्य) पितुः प्रदेशानामेव स्वर्गत्वात् (हेतु)
उपयन्त्रर्थं समाधिः वृथा (साध्य) रत्नस्य मृग्यत्वात् (हेतु)

जहाँ पूर्ववर्ती उदाहरणों में पदार्थ साध्य के प्रति पदार्थ की साधनता दिखाई गयी है, वहाँ अन्तिम दो उद्धरणों में वाक्यार्थ रूप साध्य के प्रति वाक्यार्थ ही हेतु है, अतः ये वाक्यार्थविषयक साध्यसाधनभाव के निदर्शन हैं।

जिस प्रकार यह साध्यसाधनभाव पदार्थ तथा वाक्यार्थविषयक है, उसी प्रकार जैसा कि पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है, यह साध्यसाधनभाव अनुमेयार्थविषयक भी हुआ करता है, यद्यपि यह सत्य है कि अनुमेयार्थविषयक साध्यसाधनभाव वाच्यार्थ विषयक साध्यसाधनभाव से भिन्न प्रकार का है। यहाँ साध्य या अनुमेयार्थ शब्दतः उपात्त नहीं होता, जब कि वाच्यार्थविषयक साध्यसाधनभाव में साध्य और साधन दोनों ही शब्दतः उपात्त रहते हैं। आनन्दवर्धन द्वारा अविवक्षितवाच्यध्वनि के रूप में उद्धृत—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्'

पद्य में प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः अनुमेय ही है। यहाँ पर साध्य है—शूर, विद्वान् और सेवा की कला जानने वाले के लिए सम्पदायें सदा स्वाधीन होती है। साधन अथवा

हेतु है सुवर्णपुष्पापृथिवी के चयन का उन्हें कर्ता बताना[1] जो कि मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ है। न तो सुवर्णपुष्पा पृथिवी होती है और न ही उसका चयन सम्भव है। अतः मुख्यार्थ अनुपपन्न होता हुआ वाक्यार्थनिष्ठ उपचारवृत्ति द्वारा 'चयन' के तुल्य ही सर्वत्रसुलभविभवत्व का अनुमान कराता है।[2] जिस प्रकार साधारण जनों के लिए चयन सरल है, उसी प्रकार शूरादिकों के लिए विभव सर्वत्र सुलभ है, यही इन दोनों में साम्य है।

यह साध्यसाधनभाव न केवल अनुमेयार्थ विषयक होता है, अपितु अनुमितानुमेयार्थविषयक भी होता है, जैसे कि इसी पद्य में —

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥'

यहाँ नख को रंगने के अनन्तर परिहासपूर्वक सखी द्वारा आशीर्वाद पाकर पार्वती का बिना बोले माला द्वारा जो प्रहार करना है, वह अनुभाव है तथा पार्वतीनिष्ठ कौतुक, औत्सुक्य, प्रहर्ष, लज्जा आदि व्यभिचारी भावों के अनुमान का हेतु है। ये अनुमित व्यभिचारी भगवान् शिव के प्रति उनकी रति का अनुमान कराते हैं।[3]

इस प्रकार काव्यानुमिति के प्रसङ्ग में महिमभट्ट समस्त शाब्दव्यवहार की साध्यसाधनभावगर्भता के प्रतिपादनार्थ साध्यसाधनभाव के विविध सोपानों के उल्लेखपूर्वक शाब्दव्यवहार के हर सोपान पर अनुमान की प्रक्रिया की अपरिहार्यता सिद्ध करते हैं।

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, महिमा का आनन्द के साथ साधन विषयक ही वैमत्य है, साध्यविषयक वैमत्य नहीं है, अतः आनन्द की ही सरणि पर महिमा भी प्रतीयमान के तीन भेद मानते हैं — वस्तु अलङ्कार तथा रस और उन्हीं की सरणि पर यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु तथा अलङ्कारानुमिति कभी वाच्य भी हो सकते हैं, किन्तु रसानुमिति कभी वाच्य नहीं हो सकती।[4]

जिस प्रकार वाच्यार्थ विषयक साध्यसाधनभाव में साध्य और साधन की प्रतीति में क्रम सुस्पष्ट है, उसी प्रकार जहाँ वस्तुमात्र अथवा अलङ्कार अनुमेय होते हैं, वहाँ भी क्रम सुलक्ष्य होता है। केवल रसादिक के अनुमेय होने पर गम्य (प्रतीयमान) और गमक (वाच्य) का क्रम (पौर्वापर्य) असंलक्ष्य होता है, इसलिए दोनों की साथ-साथ प्रतीति के भ्रम से दूसरे लोगों ने (ध्वनिवादियों ने) व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध मान लिया है

---

१. 'अत्र शूरादीनां त्रयाणां सर्वत्रैव स्वाधीनाः सम्पदो भवन्तीति साध्यम्। तत्र सुवर्णपृथिवीचयने कर्तृत्वाभिधानं तेषां हेतुः'।—हि० व्य० वि०, पृ० ४७३

२. 'तद्धि मुख्यमनुपपद्यमानं वाक्यार्थोपचारवृत्त्या तत्सदृशमेव सर्वत्र सुलभविभवत्वमनुमापयति।'—वही पृ० ४७३।

३. 'इत्यत्र हि नखरञ्जनानन्तरं परिहासपूर्वं सख्या कृताशिषो देव्या यदेतदवचनं माल्येन हननं तत् तदनुभावभूतं तस्याः कौतुकौत्सुक्यप्रहर्षलज्जादिव्यभिचारिसम्पदनुमापयति सा च अनुमीयमाना सती भगवति भवे भर्तरि रतिमनुमापयति।'—वही, पृ० ५८

४. हि० व्य० वि०, पृ० ४७

और उसी के आधार पर उसे ध्वनि नाम दे डाला है।[1] इनमें से प्रथम दो में अर्थात् वस्तु तथा अलङ्कारानुमिति में क्रम सुलक्ष्य है अतः इनके व्यङ्ग्यत्व का आग्रह भी निर्मूल है।[2] इतना ही नहीं, 'ध्वनि' नाम से अभिहित श्रूयमाण शब्द तथा श्रोता एवं वक्ता के मस्तिष्क में विद्यमान स्फोट रूप से अभिमत अर्थ के बीच भी यह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नहीं बनता, क्योंकि वहाँ भी कार्यकारणमूलक गम्यगमकभाव ही माना जाता है। अतः उस असिद्ध व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के आधार पर शब्दार्थरूप काव्य के लिये ध्वनि का व्यवहार उचित नहीं।[3]

ध्वनिवादी आचार्य यह कह सकते हैं कि सभी ऐसा स्वीकार करते हैं कि विभावादिक—जो कि रस के प्रसङ्ग में वाक्यार्थस्थानीय हैं—के साथ ही रत्यादिक भावों की प्रतीति होती है। इन दोनों के बीच सम्बन्धस्मरण आदि रूप विघ्न के व्यवधान का ज्ञान तो नहीं होता।[4] इस प्रकार चूंकि रत्यादि की प्रतीति ही रसादि की प्रतीतिहै, अतः वहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ही मुख्यरूप से ही माना जाना चाहिए, उपचारतः नहीं। वहाँ पर जो गम्यगमकभाव है, वह घटप्रदीपन्यायेन ही लागू होता है, क्योंकि व्यञ्जकत्व के मार्ग में जब अर्थ अर्थान्तर को द्योतित करता है तो स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही वह अन्य (अर्थान्तर) का प्रकाशक होता है जैसे प्रदीप स्वरूप का प्रकाशन करते हुए घट का प्रकाशन करता है। व्यङ्ग्य को प्रतीत होते समय वाच्यबुद्धि उसी प्रकार समाप्त नहीं होती है जिस प्रकार प्रदीप द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न हो जाने पर भी प्रदीप का प्रकाश समाप्त नहीं होता। अतः वहाँ घटप्रदीप का सा गम्यगमकभाव है जो कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव से भिन्न नहीं है। अतः काव्य में रसादि को व्यङ्ग्य ही मानना ठीक है।

प्रतिपक्षी का उपर्युक्त यह तर्क ठीक नहीं है, इसलिए कि वाच्य और प्रतीयमान के स्वरूप-निर्वचन के प्रसङ्ग में वे स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति युगपद् न होकर क्रमिक है।[5] इस प्रकार उनकी क्रमिक प्रतीति से यह

---

१. 'यथा च वाक्यार्थविषये साध्यसाधनभावे साध्यसाधनप्रतीत्योः सुलक्षः क्रमभावः तथा वस्तुमात्रादावनुमेयविषयेऽप्यवगन्तव्यः । केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावः इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः।'—वही, पृ० ५८

२. 'आद्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्षत्वाद् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निबन्धन एव तत्र व्यङ्ग्य-व्यपदेशग्रहः'—वही, पृ० ६१

३. वही, पृ० ६१

४. वही, पृ० ६२

५. ''वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोः यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोः गम्य-गमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं, तदेवा-स्माभिः समाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्। तद्यथा 'न हि विभावानुभावव्यभि-चारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अतएव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय इत्युक्तम्।' इति''

स्वतः सिद्ध है कि उनके बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न होकर लिङ्गिलिङ्गभाव ही है अतश्च प्रतीयमान अनुमेय है, व्यङ्ग्य नहीं।

यह शङ्का हो सकती है कि अनुमान-वाक्य के अन्तर्गत साध्य-साधन तथा दृष्टान्त तीनों शब्दतः उपात्त रहते हैं, पर काव्य में तो दृष्टान्त का प्रयोग कभी दिखायी नहीं देता तो अनुमान का समर्थन काव्य में कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर महिमा के पास यह है कि काव्यानुमिति तर्कानुमिति से विलक्षण होती है, क्योंकि काव्य का सार है चमत्कारमात्र। उसमें अनुमान द्वारा भी चमत्कार तक ही पहुँचा जाता है। तर्कशास्त्र का अनुमान हेतु, व्याप्ति इत्यादि के कारण कर्कश होता है। काव्य में इसके विपरीत सहृदयों का अधिकार है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि व्याप्ति दिखाते हुए उसमें अनुमान की योजना की जाय। हाँ वहाँ पर प्रसिद्ध व्याप्ति वाले हेतु का उपादान अवश्य रहता है। विद्वान् जन उतने से ही व्याप्ति समझ लेते हैं और ऐसा कहा भी गया है कि साध्य और हेतु को न जानने वाले के लिए ही ये दोनों दृष्टान्त के साथ बताए जाते हैं। हेतु और साध्य को जानने वालों के लिए तो हेतु ही पर्याप्त है।[1]

काव्यादिक में काव्यानुमिति को स्वीकार कर लेने पर प्रश्न यह उठता है कि काव्यादिक में सुखादि के अवस्थाविशेषरूप रत्यादिक भावों में सहृदय को चमत्कृत करने वाले सुखास्वाद का जन्म कैसे माना जाय, क्योंकि रत्यादिक का अनुमान लोक में भी होता है पर वहाँ तो कोई आनन्दानुभूति नहीं होती। इसके विपरीत साधु जनों तथा विरक्त जनों तक को भी भय, शोक आदि दुःख उत्पन्न होते ही देखा जाता है। लोक की अपेक्षा काव्य में कोई ऐसा विशेष नहीं है, जिससे कि सुखास्वादोत्पत्ति काव्य में ही मानें, लोक में नहीं। काव्य में प्रयुक्त गमक विभावादिक लोक में अनुभूत हेतु, कार्य और सहकारी हैं। अवस्थाविशेषरूप गम्य रत्यादिक भी वे ही हैं जिनका अनुमान हम लोक में करते हैं। ऐसी दशा में रसास्वाद लोक में भी माना जाना चाहिए और यदि लोक में रसास्वाद होते नहीं देखा गया है तो काव्य में ही हम रसास्वाद कैसे स्वीकार करें, क्योंकि काव्य में लोक की अपेक्षा कोई अतिशय तो दृष्टि-पथ में आता नहीं हैं।[2]

तथा 'तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः निमित्तनिमित्तिभावाद् नियमभावी क्रमः स तूक्तयुक्तेः क्वचिल्लक्ष्यते क्वचित्तु न लक्ष्यत इति।"—हि० व्य० वि०, पृ० ६७।

१. "यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्, तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात्। न। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षाया प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवल ः॥ हि० व्य० वि०, पृ० ६९)

२. ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः...। न हि लोके लिङ्गतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते। प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखमसममुपजायमानमवधार्यते। न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः, येनासौ तत्रैव उपगम्येत, न लोके। त एव हि लौकिका विभावादयः हेतुकार्यसहकारिरूपगमकाः त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। तत् कोऽतिशयः काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोक इति।"—हि० व्य० वि० पृ० ७०

इस शङ्का के समाधान में श्री शङ्कुक की सरणि पर महिमा का भी यही उत्तर है कि काव्यानुमिति लोकानुमिति से विलक्षण होती है। रस काव्य की वस्तु है, लोक की नहीं। रसास्वाद का उदय वहीं होता है, जहाँ विभावादि के द्वारा रत्यादिक भावों की अनुमिति होती है। इस रस का आस्वादन भी एकमात्र सहृदय को ही होता है। यहाँ पर अनुमेय वस्तु (रसादिक) का स्वभाव ही ऐसा है, जिसके कारण सहृदय चमत्कृत होता है। अतः प्रामाणिक पुरुषों को लोक और काव्य की स्थिति लोक की स्थिति पर समानरूप से विचार नहीं करना चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त काव्य की स्थिति से सर्वथा भिन्न है। लोक में विभावादिक अथवा भाव होते ही नहीं। वहाँ तो कारण कार्य और सहकारी होते हैं। यह मानना भी उचित नहीं कि विभावादिक तथा हेत्वादिक अभिन्न हैं। ये विभावादिक हेत्वादिक से सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि इनके लक्षण भिन्न हैं। लोक में रामादिगत जो रत्यादिक स्थायी अवस्थाविशेष हैं वे ही काव्यादिक में भाव कहलाते हैं, क्योंकि वे ही काव्य और नाटक में कवि और नट के द्वारा वर्णनार्थ तथा अभिनयार्थ अपने ऊपर आरोपित किये जाते हुए उन उन रसों का आस्वादन कराते हैं अतश्च भाव कहलाते हैं। भरतमुनि ने भी भावशब्दाभिधेय होने का निर्वचन करते हुए—

'नानाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ कारिका के द्वारा इसी तथ्य का प्रदिपादन किया।[2]

लोकगत रत्यादिक स्थायी अवस्थाविशेष के सीतादिक जो हेतु हैं वे काव्य में उपात्त होने पर 'विभाव्यन्ते भावा एभिः' (विशेषरूप से आस्वादित कराए जाते हैं भाव इनसे) इस व्युत्पत्ति के आधार पर विभाव कहलाते हैं जैसा कि भरत ने भी कहा है।[3]

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्, तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥

लोक में उन स्थायी के कार्यभूत जो मुखप्रसादादि हैं, काव्यादिक में दिखाए जाने पर 'अनुभावयन्ति ताँस्तान भावान्' – उन-उन भावों का अनुभाव कराते हैं—इस व्युत्पत्ति

---

१. यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्योरसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्। वही, पृ० ७०

२. न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि—ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषाः केचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिः वर्णनाद्यर्थमात्मन्यनुसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः नानाभिनयसम्बन्धात्···नाट्ययोक्तृभिः।—वही, पृ० ७१

३. 'ये च तेषां हेतवः सीताद्याः केचित् त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—'बहवोऽर्था विभाव्यन्ते···इति संज्ञितः।'—हि० व्य० वि० पृ० ७१, ७२

से अनुभाव कहलाते हैं। जैसा कि भरत ने कहा है—वाणी अङ्ग और सत्त्व के अभिनयों द्वारा अर्थ (भाव) का अनुभावन होता है। अतः वाणी अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त वह अनुभाव कहलाता है।[1]

बीच-बीच में स्थायी अवस्थाविशेष के अवान्तर हेतुओं से जो अस्थायी अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि समुद्र में उत्पन्न हुए लहरों के सदृश उत्पन्न तथा नष्ट होने वाले हैं, वे ही अपने-अपने विभावों और अनुभावों द्वारा दिखाए जाते हुए 'विशेषेण आभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिणः'—विशेषरूप से अनुरूप होकर उन-उन भावों में सञ्चालित रहते हैं—इस व्युत्पत्ति से व्यभिचारी कहलाते हैं, जैसा कि भरत ने कहा है—

'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति।[2]

इस प्रकार काव्यानुमिति की सारी सामग्री ही लोकानुमिति की सारी सामग्री से भिन्न है। काव्यानुमिति के साधक विभावादिक हैं, लोकानुमिति के साधक हेत्वादिक। विभावादिक कृत्रिम होते हैं, जब कि हेत्वादि वास्तविक होते हैं। इसी प्रकार विभावादिक का क्षेत्र काव्य होता है, जब कि हेत्वादिक का क्षेत्र लोक होता है। इस प्रकार विभावादिक हेत्वादिक से स्वरूपतः भी भिन्न हैं और विषयतः भी भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त हेत्वादिक से लोक में हमें अग्न्यादि जिन साध्यों की प्रतीति होती है, वे सत् होते हैं, जब कि विभावादिक से अनुमित रत्यादि साध्य असत् होते हैं, विभावादिकों से उनकी प्रतीतिमात्र होती है, क्योंकि वे हैं ही प्रतीतिमात्रसार वाले।[3] ऐसी दशा में लोकानुमिति के शुष्क एवं नीरस होने के बावजूद भी काव्यानुमिति में रसास्वादोत्पत्ति स्वीकार करने में कोई आपत्ति प्रतिपक्षी को नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार इस काव्यानुमिति के लोकानुमिति के सदृश नीरस और कर्कश होने का प्रसङ्ग नहीं उठता, इसलिए कि उक्त प्रकार से यह काव्यानुमिति लोकानुमिति से सर्वथा विलक्षण है।

---

१. ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्याद्युपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—

वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इतिस्मृतः॥ वही, पृ० ७२

२. ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति। वही, पृ० ७२

३. तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थितेः सत्यैकत्वासिद्धेः यदा विभावादिभिः भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। —हि० व्य० वि०, पृ० ७४

प्रश्न उठता है—महिमा की इस काव्यानुमिति का स्वरूप क्या है ? महिमा ने उसके स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया है—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ।।

यह लक्षण अनुमान का ही है, किसी अन्य का नहीं, क्योंकि कहा गया है—त्रिरूपलिङ्ग के द्वारा कथन अनुमान कहलाता है, केवल संज्ञा का भेद है ।[1]

इस काव्यानुमिति के आनन्दवर्धन की सरणि पर किए गए वस्त्वनुमिति अलङ्कारानुमिति तथा रसानुमिति नामक तीन भेदों में से प्रथम दो के स्वरूप का निर्देश महिमा नहीं करते । सम्भवतः इसलिए कि ये दोनों क्रमशः आनन्दवर्धन के वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि से अभिन्न हैं और इसीलिए ग्रन्थ के तृतीय विमर्श में केवल वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि का क्रमशः वस्त्वनुमिति और अलङ्कारानुमिति में अन्तर्भाव दिखाकर ही वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं । किन्तु इन तीनों में ही रसानु-मिति का उन्होंने पर्याप्त विवेचन किया है, क्योंकि काव्यात्मा होने के कारण वही प्रधानतम है ।[2]

रसानुमिति का स्वरूप-निर्वचन महिमा ने इस प्रकार किया है—

'तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्व-मुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते ।'

महिमकृत रस के इस लक्षण से रस-निष्पत्ति के प्रसङ्ग में अधोलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं—

विभावादिक हेतु होते हैं किन्तु कृत्रिम हेतु होते हैं अतश्च वे विभावादि कहलाते हैं । इन कृत्रिम हेतुओं के द्वारा स्थायिभाव नामधारी तथा प्रतिबिम्बकल्प रत्यादिकों की प्रतीति सहृदय को (नट में) होती है पर ये रत्यादिक वस्तुतः नट में हैं नहीं (उनकी प्रतीति मात्र होती है) । अनुकर्तृगतरूप में प्रतीत होने वाले ये रत्यादिक भाव सहृदय के हृदय-संवाद के कारण आस्वाद्य बनकर रस कहलाते हैं ।

---

१. (क) एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य । यदुक्तं 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमान-मिति ।' केवलं संज्ञाभेदः । वही, पृष्ठ १११

(ख) यदुक्तं—त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानमिति । तच्चानुमानमेव । न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते । उपमानादीनां च तत्रैवा-न्तर्भावात् । —वही, पृ० ८१

(ग) यदाहुः—'न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्तातिप्रसङ्गात् । तस्य नान्तरीयकतायां स्यात् । न हि यथाविधसिद्धः तथाविधसन्निधानं सूचयति१ सामान्येन च सम्बन्धिना अर्थप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति । —हि० व्य० वि०, पृ० ८१

२. काव्यस्यात्मनि सञ्ज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः । वही, पृ० १११

पर केवल उपर्युक्त उद्धरण से महिमा की रसानुमिति का सम्पूर्ण चित्र दृष्टिपथ में नहीं आता। अतः उसकी सम्पूर्ण झाँकी के हेतु उनके कुछ अन्य कथनों का आश्रयण आवश्यक है। प्रथम विमर्श में ही एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं—

'यदा विभावादिभिः भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषांतन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ७४

महिमा की इन पङ्क्तियों से जो अतिरिक्त तथ्य प्रकाश में आता है, वह यह है कि रस का सार उसका प्रतीयमानत्व ही है तथा उस प्रतीति का परामर्श ही रसास्वाद है। न्यायशास्त्र के अन्तर्गत 'परामर्श' एक पारिभाषिक पद है, जिसका अर्थ है—लिङ्ग का तृतीय ज्ञान।[1] इस प्रकार प्रतिपत्ता को जो रसानुमिति होगी, उसकी प्रक्रिया इस प्रकार की होगी—

'रामेषधारी नटोऽयं सीताविषयकरतिमान् (प्रतिज्ञा) कटाक्षादिमत्वात् (हेतु) यो यो रतिमान् सः सः कटाक्षादिमान् यथा प्राकृतो नरः (दृष्टान्त) तथा चाऽयं नटः (उपनय) तस्मात् तथा (अर्थात् रतिमान्) (निगमन)।

इस रसानुमिति में रत्यादिक भावों की अनुकर्तृनटगतरूपेण जो प्रतीति सहृदय को होती है, वह वास्तविक नहीं है। नट में रत्यादिक भाव है ही नहीं, वे तो अनुकार्य राम में थे किन्तु विभावादिकों के माध्यम से सहृदय को ऐसी प्रतीति भर होती है कि नटमें रत्यादिक भाव हैं और इस प्रतीतिमात्र से उसे आनन्द-लाभ हो जाता है और काव्य का उद्देश्य भी पूर्ण हो जाता है, क्योंकि काव्य का सर्वस्व उतना ही है, इसलिए कि उतने से ही शिक्षणीय व्यक्तियों को विधि और निषेध की व्युत्पत्ति हो जाती है।[2] लोकानुमिति और रसानुमिति का अन्तर भी इसी से सुस्पष्ट है। लोक में धूम से जिस अग्नि की अनुमिति हमें होती है, उसकी पक्ष में सत्ता रहती है, जब कि रसानुमिति में विभावादिक हेतुओं से अनुमेय रत्यादिक की स्थिति पक्ष नट में होती ही नहीं।

महिमा की रसानुमिति के स्वरूप के पर्यवेक्षण के अनन्तर एक प्रश्न यह उठता है, जैसा कि अनुमितिवाद के परवर्ती आलोचकों ने उठाया भी है[3] कि चमत्कृत करने की शक्ति प्रत्यक्ष में ही होती है। प्रत्यक्ष अनुभव से ही लोग चमत्कृत होते हैं, अनुमिति से नहीं तो फिर रसानुमिति से ही सहृदय चमत्कृत कैसे हो सकते हैं? यह शङ्का कुछ

---

१. 'लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः' अथवा 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' —तर्कभाषा, पृ० ७२

२. 'प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्ति सिद्धेः' —हि० व्य० वि०, पृ० ७६

३. काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका 'प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथाकल्पने मानाभावः'—गोविन्द ठक्कुर पृ० ९४ वासुदेवशास्त्री द्वारा संशोधित आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क ६६ द्वितीय संस्करण।

सीमा तक ठीक भी है, इसलिए कि जिस समय हम धूम से अग्नि का अनुमान करते हैं, हमें केवल अग्निसामान्य का ज्ञान होता है, अग्निविशेष का (उसके आकार प्रकार का) ज्ञान नहीं होता। ऐसी दशा में अग्नि को उस अनुमिति से चमत्कृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस शङ्का को पूर्वपक्ष के रूप में मन में रखकर आचार्य ने इसका समाधान भी किया है। जैसा कि पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है, महिमा ने रसानुमिति अथवा काव्यानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण प्रतिपादित किया है। अतः उस काव्यानुमिति का फल भी लोकानुमिति से विलक्षण हो सकता है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इतने पर भी यदि पूर्वपक्षी यही आग्रह करे कि परोक्ष ज्ञान चमत्कारजनक नहीं हो सकता अतः रत्यादिक की अनुमिति से, जो कि परोक्ष ज्ञान रूप है, सामाजिक को चमत्कार-लाभ सम्भव नहीं तो आचार्य का यह उत्तर है कि रसानुमिति में रत्यादिक को परोक्ष मान भी लें तो भी उससे चमत्कार की कोई हानि नहीं होती, क्योंकि कविशक्त्यर्पित होने के कारण वे चमत्कारजनक हो जाते हैं। प्रत्यक्ष भी अर्थ साक्षात् अनुभव का विषय बनने पर सहृदयों को उस प्रकार चमत्कृत नहीं करता, जैसे कि सत्कवि द्वारा वाणी का विषय बना लिए जाने पर,[1] क्योंकि ऐसा कहा गया है कि—

"कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाऽध्यक्षतः किल।" इति।

वह कविशक्त्यर्पित भी अर्थ सहृदयों को उतना चमत्कृत नहीं करता जितना विभावादिकों द्वारा अनुमेयता को प्राप्त हो जाने पर। यह (अर्थ का) स्वभाव ही है अतः प्रामाणिकों को तर्क नहीं करना चाहिए। कहा भी गया है कि हेत्वादिक से अनुमित अर्थ उतना सुन्दर नहीं प्रतीत होता, जितना विभावादिक से अनुमित होने पर। वाच्यार्थ उतना सुखकर नहीं होता, जितना कि प्रतीयमान (गम्य) बन जाने पर वही अर्थ सुख देता है। ध्वनिकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि सारभूत अर्थ अपने वाचक शब्द द्वारा उक्त न होते हुए प्रकाशित होने पर अत्यधिक शोभा धारण करता है।[2]

प्रतिपक्षी की महिमा की रसानुमिति के विषय में एक अन्य विप्रतिपत्ति यह हो सकती है कि कृत्रिम अतश्च असत् विभावादिकों से असत् रत्यादिक की अनुमिति से शिक्षणीय (विनेयों) जनों के किस उद्देश्य की सिद्धि होनी है अथवा सहृदय को क्या लाभ होना है? अतः शशविषाणतुल्य इस रसानुमिति का उद्देश्य क्या है? महिमाचार्य ने

१. 'आस्तां व रत्यादिः नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोऽपिह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः यदुक्तम्' —हि० व्य० वि०, पृ० ७५

२. 'सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—
'नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥' इति। ध्वनिकृताप्युक्तम्—
'साररूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितो सुतरां शोभामावहति' इति।
—हि० व्य० वि०, पृ० ७६।

धारणा है कि अभीष्ट-लाभ एकमात्र यथार्थ ज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा ही नहीं होता। वह अयथार्थ ज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा भी होता है। मणि की प्रभा को मणि समझकर उसे लेने के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को भी मणि की प्राप्ति हो ही जाती है[१] यद्यपि उसकी प्रवृत्ति भ्रान्ति-जन्य थी। काव्यानुभूति भी ऐसी ही है। उसमें अविद्यमान राम आदि की विद्यमानरूप से मिथ्या प्रतीति होती है, परन्तु इससे भी रसानुभूति तथा 'रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावण की तरह नहीं,' ऐसा उपदेश मिल ही जाता है। इस प्रकार भले ही रस मिथ्या हो, पर चमत्काररूप आनन्द तथा उपदेश की उपलब्धि उससे सामाजिक को हो ही जाती है। अतः काव्य के अन्तर्गत गम्य (रसादि) और गमक (विभावादि) के सत्यासत्यत्व का विचार उपयोगशून्य है।[२]

काव्यानुमिति के त्रिविध भेदों का महिमभट्ट अपना स्वतन्त्र उदाहरण न देकर आनन्दवर्धन द्वारा विभिन्न ध्वनि-भेदों के उदाहरणरूप में प्रस्तुत श्लोकों की अनुमान-गम्यता 'व्यक्तिविवेक' के तृतीय विमर्श में सिद्ध करते हैं। वस्त्वनुमिति के उदाहरण के रूप में वे उस प्रसिद्ध गाथा को प्रस्तुत करते हैं, जिसे आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रतीयमान अर्थ की वाच्यार्थ से भिन्नता दिखलाने के उपलक्ष्य में वस्तुध्वनि के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। अवधेय है कि इसी उदाहरण की व्याख्या के प्रसङ्ग में ही अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान अर्थ की अनुमेयता का प्रतिपादन किया है।[३] इस गाथा में महिमभट्ट ने गम्यार्थ की अनुमेयता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

इस गाथा में विधि और निषेधरूप वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थ क्रमशः प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे दोनों (अर्थ) धूम और अग्नि के समान साध्यसाधनभाव से स्थित हैं। इनमें से प्रथम अर्थ अर्थात् वाच्य अर्थ सुस्पष्ट ही है, क्योंकि उसके अन्तर्गत भ्रमण-विधिरूप साध्य तथा उसके (भ्रमण के) बाधक क्रूर कुत्ते का माराजानारूप साधन दोनों ही शब्दत उपात्त हैं। अतः यह अर्थ अविवेक सिद्ध है।[४] अतश्च सर्वजनसंवेद्य है

१. प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैवविनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिद्धेः। तदुक्तम्—
'भ्रान्तिरति सम्बन्धतः प्रमा' इति
मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति' ।। इति वही, पृ० ७६

२. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव।
—हि० व्य० वि०, पृ० ७८

३. 'तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकं सिंहशब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानं तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम् न चास्ति।—ध्वन्यालोक लोचन प्रथम उद्योत, पृ० ६७

४. 'अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव, भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ४६३।

किन्तु द्वितीय अर्थ (निषेधरूप प्रतीयमान अर्थ) मारितः में दिखने वाले णिच् के अर्थ पर विचार करने वाले विवेकी प्रतिपत्ता को ही वाक्य के प्रयोजक कामुकी के स्वरूप-निरूपण द्वारा वाच्यार्थ के सामर्थ्य से प्रतीत होता है। वाच्यार्थ का वह सामर्थ्य इस कथन में है कि कुत्ते के मर जाने पर भी वहाँ उससे भी अधिक भयानक जीव सिंह विद्यमान है और क्रूरतर सत्वान्तर के सद्भाव का यह कथन ही प्रतीयमान अर्थ का साधक है। भीरुभ्रमणरूप साध्य और क्रूरतर सत्वान्तर की सत्तारूप साधन के बीच विरोधमूलक अविनाभावसम्बन्ध है जो कि लोकप्रमाण से सिद्ध है।[1] अर्थात् भीरु-भ्रमण और भ्रमणस्थल में सिंह का सद्भाव—दोनों विरुद्ध बातें हैं और इस विरोध में लोक प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि साधारणजन तो उक्त गाथा को सुनकर विधिरूप अर्थ को ही समझकर सन्तुष्ट हो जायँगे, किन्तु विवेकी प्रतिपत्ता जिसे कि वक्ता के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान है और जो यह जानता है कि धार्मिक के गोदानदीकुञ्जभ्रमण से नायिका की स्वच्छन्दता में व्याघात उपस्थित होता है, उसे गाथा का वाच्यार्थ असङ्गत प्रतीत होगा। फलस्वरूप वह वाच्यार्थ पर विचार करेगा और 'मारितः' शब्द से इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यद्यपि वहाँ कुत्ता नहीं है पर उससे भी दारुण सत्व सिंह की सत्ता तो वहाँ है ही और दारुण सत्व-सद्भाव जहाँ होगा वहाँ भीरु का भ्रमण असम्भव है, ऐसा अनुभव उसे लोक से है। इस प्रकार इन दोनों के बीच इस विरुद्ध सम्बन्ध को देखते हुए वह सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँच जायगा कि वक्ता के तात्पर्य की विश्रान्ति विधिरूप अर्थ में न होकर प्रतीयमान निषेधरूप अर्थ में है। इस निषेधरूप अर्थ की प्राप्ति उसे भीरु-भ्रमण तथा भ्रमणस्थल में दारुण सत्व-सद्भाव के बीच विरोधमूलक व्याप्ति के आधार पर होती है अतः प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्य न होकर अनुमेय हुआ।

अब शङ्का यह हो सकती है कि यदि इस वाक्य से दो अर्थों की प्रतीति हो रही है तो अन्तिम अर्थ में ही वाक्यार्थ की विश्रान्ति क्यों मानी जाय, प्रथम अर्थ में अथवा दोनों अर्थों में वाक्य का तात्पर्य क्यों न माना जाय, क्योंकि दोनों ही अर्थ समानरूप से प्राकरणिक हैं। इस शङ्का का समाधान यह है कि यहाँ पर वाच्य और अनुमेय दोनों अर्थों की युगपत् प्रतीति तो होती नहीं, क्योंकि विधिरूप अर्थ 'भ्रम' तथा निषेध रूप अर्थ 'माभ्रम' दोनों ही परस्पर विरुद्ध होने के कारण धार्मिक रूप एक आश्रय में एक साथ नहीं हो सकते। इनकी प्रतीति वैकल्पिक भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि तब 'भ्रम' ऐसे वचनोच्चारण के आनर्थक्य का प्रसङ्ग आता है। और न ही इनमें अङ्गा-

---

१. 'द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूप-निरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्य साधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः। स चानयोः लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्' —वही, पृ० ४६३।

ङ्गिभाव सम्भव है, क्योंकि विधि और निषेध में वह सम्भव नहीं।[१] केवल भ्रमणविधान में हेतुरूप से उपात्त दृप्तपञ्चानन का जो शुनकमारणाख्यव्यापार है विचार करने पर वही धार्मिक के भ्रमण-निषेध (भ्रमणाभाव) में पर्यवसित होता है, क्योंकि भ्रमणविधि और भ्रमण-स्थल में सिंह-सद्भाव यह दोनों ही बाध्यबाधकभाव से स्थित हैं। भला कौन अनुन्मत्त व्यक्ति ऐसा होगा, जो कि कुत्ते के सद्भाव के कारण तो डर कर घूमना छोड़ दे पर वहीं पर दृप्तसिंह की सत्ता की आशङ्का होने पर भी आराम से भ्रमण करेगा, इसलिए अनुमेयार्थ में विश्रान्ति कराने वाला हेतु भ्रमणविधि और सिंह-सत्ता के बीच बाध्यबाधकभावरूप विशेष यहाँ है ही।[२] इस बाध्यबाधकभावरूप विशेष के कारण ही यहाँ अनुमेयार्थ में ही वाक्यार्थ की विश्रान्ति होती है। इस बाध्यबाधक के रूप में होने वाली अवस्थिति को अवश्य ही स्वीकार करना होगा अन्यथा इसी प्रकार की शङ्का क्रम से होने वाली शुक्तिकारजतप्रतीति के विषय में भी की जा सकती है।[३] वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि शुक्तिका-प्रतीति में ही क्यों विश्रान्ति मान ली जाय, क्यों नहीं शुक्तिका में होने वाली रजतप्रतीति में ही विश्रान्ति मानी जाय। अतः यह निश्चित हुआ कि बाध्यबाधकभाव के निश्चय के द्वारा यहाँ उत्तरार्ध में ही विश्रान्ति होती है, पूर्वार्ध में नहीं।[४]

प्रकृत उदाहरण में 'भम धम्मिअ वीसद्धो' इतना वाक्यार्थरूप भ्रमणविधि वाच्य है। 'सोसुणओ अज्ज मारिओ देण' इत्यादि द्वारा प्रतिपादित दृप्तसिंहविहित क्रूरकुक्कुरमारण वाक्यार्थ ही उसका आर्थ हेतु है और भ्रमण का निषेध अनुमेय है। अनुमेयार्थ में 'गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा' के द्वारा गोदावरी-कच्छकुहर का धर्मित्व निर्दिष्ट किया गया है। 'दरिअसीहेण' के द्वारा कुत्ते को मारने के कारणभूत सिंह के कथन द्वारा उपात्त सिंहसद्भाव की हेतुता का कथन किया है। 'कुडङ्गवासिणा'

---

१. 'न तावदत्र वाच्यानुमेययोः अर्थयोः समुच्चयेन अवगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरेकाश्रयत्वविरोधात्। नापि विकल्पेन, भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। नाप्यङ्गाङ्गिभावेन, विधिनिषेधयोस्तदसम्भवात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ४६४

२. 'केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्। को ह्यनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव दृप्तसिंहसद्भावाशङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेदिति अनुमेयार्थविश्रान्तिनियमहेतुर्बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः।''—वही, पृ० ४६४

३. 'अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा शुक्तिकारजतप्रतीत्योरपि क्रमभाविन्योः एतत्पर्यनुयोगप्रसङ्गः केन वार्यते। वही, पृ० ४६४

४. 'तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकृत एवात्रोत्तरार्थविश्रान्तिनियम इति स्थितम्' —वही, पृ० ४६४

विशेषण द्वारा सिंह का धर्मी में सद्भाव दिखाया गया है।[1] सिंहसद्भावरूप इस हेतु का तथा निर्भयभ्रमणरूप साध्य का एक साथ न रहना प्रसिद्ध ही है, इसलिए एक (हेतु) के सद्भाव के कथन से दूसरे (साध्य) के निषेध का ज्ञान होता है और यह ज्ञान उनके स्वाभाविक विरोध के ज्ञान से होता है।[2] इस प्रकार दोनों अर्थों की बराबरी से प्रतीति ही नहीं होती। अतः दोनों में वक्ता के तात्पर्य की विश्रान्ति का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार भ्रमण का निषेध विरोधमूलक व्याप्ति के आधार पर अनुमेय हुआ जैसे 'नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः' में शीताभाव का अग्नि के साथ विरोधमूलक व्याप्ति है। बुद्धिमानों की प्रवृत्ति अनर्थसंशयाभाव के निश्चय के साथ व्याप्ति-सम्बन्ध से सम्बद्ध है और इसके विरुद्ध यहाँ पर अनर्थसंशय रूप अर्थ का निश्चय विधि-वाक्य के णिजन्त शब्द 'मारितः' के पर्यालोचन से होता है। इस प्रकार अनर्थराहित्यरूप व्यापक के विरुद्ध उपलब्धि के कारण यहाँ पर निषेध अर्थ की प्रतीति होती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त द्वारा विस्तारपूर्वक विवृत इस गाथा की अनुमेयता का का प्रतिपादन करने के अनन्तर ध्वनिकार द्वारा वस्तुध्वनि के अन्य उदाहरणों में भी वे प्रतीयमान अर्थ की अनुमानगम्यता का इसी सरणि पर प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि यह भी सत्य है कि जिन उदाहरणों में ढूढ़ने पर भी उन्हें कोई हेतु नहीं मिलता, उसमें वे प्रतीयमान की सत्ता का ही प्रत्याखयान करते हैं।[3]

ध्वनिकार द्वारा अलंकारध्वनि तथा रसादिध्वनि के उदाहरणों की भी अनुमानगम्यता व्यक्तिविवेककार सिद्ध करते हैं और वहाँ भी इसी प्रकार जिन उदाहरणों में उन्हें कोई हेतु दृष्टिगत नहीं होता, उनमें वे प्रतीयमान के अस्तित्व का ही निषेध कर देते हैं।[4] यहाँ पर स्थालीपुलाकन्यायेन दोनों के दो एक उदाहरण प्रस्तुत करना असङ्गत न होगा।

---

१. दरिअसीहेणे ति श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः कुडङ्गवासिणेति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोपपादनम्।—वही, पृ० ४६५

२. वही, पृ० ४६५

३. 'अत्था एत्थणिमज्जइ···णिमज्जहिसि।···किञ्चात्र निरूप्यमाणो हेतुरेव न लभ्यते। तस्माद्विधेयस्यार्थान्तरस्य निबन्धनाभावात् प्रतीतिरेव नास्तीति कुतस्तस्य व्यङ्ग्यत्व-मित्ययुक्तमेवेदमुदाहरणम्। —हि० व्य० वि०, पृ० ४६८ ४६९।

४. 'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः। पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्। इत्यत्र त्वनन्तरोक्तः प्रकारो न सम्भवतीति कुतोऽर्थान्तरप्रतीतिः। तथा 'दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः। पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।···प्रीतिमुत्पादयन्तु।'...एवं चास्य वाच्यव्यतिरेकिणोऽर्थान्तरस्य प्रतीतिरेव न समस्तीति यत्राप्रस्तुताभिधानप्रसङ्गभयात् तयोरुपमानोपमेयभावप्रकल्पनं तदपि निर्मूलमेवेत्यवगन्तव्यम्।—वही, पृ० ४७८, ४७९
अवधेय है कि ये दोनों ही उदाहरण आनन्दवर्धन के अनुसार शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि के हैं। 'एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति अप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोः उपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यात् इत्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ़ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।—ध्वन्या०, पृ० ५५१

आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि के उदाहरण के रूप में इन पङ्क्तियों को प्रस्तुत किया है—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुदजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

शब्द की अभिधातिरिक्ति अन्य शक्ति स्वीकार्य न होने के कारण शब्दशक्तिमूलक ध्वनिभेद का महिमा खण्डन करते हैं। अतः यहाँ पर महाकाल (देवताविशेष) से सम्बद्ध अप्राकरणिक अर्थ की अनुमानगम्यता का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

यहाँ पर अप्राकरणिक महाकाल नामक देवताविशेषविषयिणी प्रतीति साध्य है। अट्टहास का सम्बन्ध तथा युग के संहार का कार्य ये दोनों ही उसके प्रति हेतु हैं, क्योंकि ये दोनों उसके (देवताविशेष के) कार्य हैं। इनका कार्यकारणभाव शास्त्रमूलक है। इस प्रकार इसी हेतु और व्याप्ति के आधार पर समासोक्ति के क्रम से दूसरे (अप्राकरणिक) अर्थ की प्रतीति होती है। उभयार्थक महाकाल शब्द की शक्ति द्वितीय (अप्राकरणिक) अर्थ में नही है।[1]

रूपकानुमिति के उदाहरणरूप में महिमा इस पद्य को प्रस्तुत करते हैं—

ज्योत्स्नाप्रपूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत् सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकः प्राह प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्॥[2]

यहाँ जो यह प्रश्न किया गया है कि 'केशी और कंस में से अपने पहले किसे मारा' यह प्रश्न साक्षात् भगवान् से ही पूछा जा सकता है, राजा आदि से नहीं, क्योंकि (ये कार्य भगवान् के हैं अतः) उन्हां दोनों (मारण रूप कार्य और भगवान्) का कार्यकारण भाव धूम और अग्नि के कार्यकारणभाव के समान प्रसिद्ध है। भगवान् के कार्यों का विषय जब अन्य को बनाया जा रहा है तो कार्यों के उस विषय पर भगवद्रूपता के आरोप के बिना यह कथन असङ्गत होता हुआ तद्रूपता की कल्पना कराता हुआ रूप्य-रूपकभाव का अनुमान कराता है। अतः यहाँ रूपकानुमिति हुई।[3]

१. 'अत्राप्राकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषया प्रतीतिस्साध्या। तस्याश्चाट्टहाससम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभयं साधनं तस्य तत्कार्यत्वात्। कार्यकारणभावावसायश्चानयोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तिक्रमेणाप्राकरणिकार्थान्तरप्रतीतिसिद्धिः, न तूभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिः।'—हि० व्य० वि०, पृ० ४७८।

२. वस्तुतः यहाँ पर रूपक वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं, क्योंकि 'आपने पहले किसे मारा' इस वाक्य से यह बात उक्त हो जाती है कि आप विष्णु हैं।
द्रष्टव्य 'इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्, भवतेत्यनेन शब्दबलेन वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।'—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ५९८

३. 'अत्र केशिकंसासुरयोः कतरो भवता पूर्वं हत इति योऽयं वधपौर्वापर्यविपर्ययानुयोगः तस्य साक्षाद् भगवानेव विषयभावेन वक्तुमुचितो नापरो राजादिः तयोरेव धूमाग्न्योरिव कार्यकारणभावप्रसिद्धेः। सोऽयमन्यविषयतयोन्यमानस्तत्र भगवद्रूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानस्तद्रूपतामुपकल्पयंस्तयोः रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिः व्यपदिश्यते।'—हि० व्य० वि०, पृ० ४६०

रसानुमिति के प्रसंग में विभावादिरूप वाक्यार्थ गमक होते हैं तथा रसादिक गम्य होते हैं एवं इनके बीच जो गम्यगमकभाव है, उसका क्रम लक्षित नहीं होता।[१] क्योंकि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीति रसादिप्रतीति के साधन हैं। कारणकार्यसहकारिभूत ये विभावावादिक रत्यादि भावों का अनुमान कराते हुए ही रत्यादिक का निष्पादन करते हैं। प्रतीयमान ये रत्यादिक ही आस्वादपदवी को प्राप्त होकर रस कहलाते हैं। इसलिए विभावादिक तथा रस की प्रतीति में क्रम तो है, किन्तु शीघ्रता के कारण परिलक्षित नहीं होता।[२] विभावादिरूप ये साधन द्विविध होते हैं—शुद्ध और अलंकारान्तरसङ्कीर्ण।[३] इनमें से प्रथम का उदाहरण है—

'कृतककुपितैः बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामा पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥

परिपोष को प्राप्त हुए परस्पर के अनुराग को प्रकाशित करता हुआ यह वाक्य सब ओर से परम रसतत्त्व का प्रकाशन कर रहा है।[४] यहाँ पर पदावली अलङ्कृत न होकर सीधी, सरल है। अतः यह शुद्ध का उदाहरण हुआ द्वितीय का उदाहरण है—

'स्मररसनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि
र्यदपि विधृता दुःखं तिष्ठन्त्यपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥'

यहाँ पर रूपक द्वारा प्रतीत हुआ रस स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है। अतः मुख्यरूपेण यहाँ अर्थ की ही गमकता है, शब्द की नहीं।[५]

जिस प्रकार वाक्यार्थ का रसादि के साथ अलक्ष्यक्रमगम्यगमकभावसम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रबन्ध का भी रसादिकों के साथ अलक्ष्यक्रमगम्यगमकभाव महाभारत रामायणादि में प्रसिद्ध है। रामायणादि प्रबन्ध गमक हैं रस गम्य हैं और वहाँ जो

---

१. 'वाक्यार्थस्य विभावादिरूपस्य रसादीनां चालक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावः।'—वही, पृ० ५०७।

२. विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते इत्यवश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः। केवलमाशुभावितयासौ न लक्ष्यते।—हि० व्य० वि०, पृ० ४७७।

३. 'स च वाक्यार्थः शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्चेति द्विधा सम्भवति।'—हि० व्य० वि०, पृ० ५०७

४. एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रकाशयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।—वही, पृ० ५०७

५. 'अत्र हि रूपकेण यथोक्तलक्षणगमकानुगतेनावगमितोऽयं रसः सुतरां प्रकाशत इति मुख्यवृत्त्यार्थस्यैव गमकत्वं न शब्दस्येति स्थितम्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ५०८

गम्यगमकभाव है उसका कारण है विभावानुभावव्यभिचारि के औचित्य के कारण सुन्दर, ऐतिहासिक अथवा कविकल्पित कथावस्तु की रस के अनुकूल योजना। रसानुकूल उस योजना और रस का कार्यकारणभाव ध्वनिकार द्वारा भी स्वीकार किया गया है।[1]

इतना ही नहीं, सुबादि विभक्तियाँ अन्वयव्यतिरेक द्वारा यदि किसी अर्थ का ज्ञान करा रही हों तो उनका भी रसादि के साथ गम्यगमकभाव सम्बन्ध माना जाना चाहिए। यद्यपि इनका गम्यगमकभाव सम्बन्ध लक्ष्यक्रम होगा, क्योंकि सुबादिक विभक्तियाँ जिन अर्थों का ज्ञान कराती हैं, वे स्वयं विभावादिरूप होते हैं और रस के गमक होते हैं।[2] उदाहरणार्थ—

> न्यक्कारो ह्ययमेव में यदरयः तत्राप्यसौतापसः
> सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
> धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन मे
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

इस उदाहरण में स्पष्ट ही सभी गमक हैं। इनमें 'मे यदरयः' सुप्सम्बन्ध द्वारा गमक है 'तत्राप्यसौ तापसः' में तद्धित और निपात गमक हैं, 'सोप्यत्रैव निहन्ति' में तिङ् और कारकशक्ति गमक हैं और 'धिग् धिक् शक्रजितं'.इत्यादिक श्लोक के उत्तरार्द्ध में कृत्तद्धितसमासोपसर्ग इत्यादि गमक हैं।[3]

महिमभट्ट की काव्यानुमिति के स्वरूप के पर्यवेक्षण के अनन्तर परवर्ती आचार्यों के काव्यानुमिति विषयक विचारों का यद्किञ्चिद् विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। जहाँ तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यानुमितिवाद का प्रश्न है, महिमा को कोई अनुयायी नहीं मिला,[4] परवर्ती प्रायः सभी आलोचकों ने या तो उस अनुमितिवाद की उपेक्षा की

---

१. 'वाक्यार्थस्येव प्रबन्धस्यापि रसादीनां च योऽयमलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावो महाभारत-रामायणदौ प्रसिद्धः तस्य विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यचारुणो वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा कथाशरीरस्य रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येनोपनिबन्ध एव निबन्धनं तस्य रसादीनां च कार्यकारणभावस्य प्रतिपादितत्वात् यदाह ध्वनिकारः इत्यादि'—हि० व्य० वि०, पृ० ५०८

२. सुबादीनामपोद्धारपक्षे अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्तावसाये सति अर्थस्य च विभावादि-रूपत्वाद् विभावादीनां रसादीनां च कार्यकारणभावस्योपपादितत्वात् तन्मूलो लक्ष्यक्रमा गम्यगमकभावोऽभ्युपगन्तव्य एव।—वही, पृ० ५०९।

३. 'तत्र 'मे यदरय' इति सुप्सम्बन्धवचनानामुक्तनयेन गमकत्वम्, यथायोगमुत्तरत्र च। 'तत्राप्यसौ तापस' इति तद्धितनिपातयोः 'सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इति तिङ्कारकशक्तीनाम्'धिग्-धिक् शक्रजितमित्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणामिति।—हि० व्य० वि०, पृ० ५०९

४. 'And later critics attacked him for this drawback in his theory which like कुन्तक' s died away for want of adherents, soon after its staunch advocate.

The Theories of Rasa and Dhwani—A. Sankaran.

या उसकी कटु आलोचना। परवर्ती साहित्यशास्त्रियों में इनके सबसे अधिक निकटवर्ती आलोचक मम्मट हुए हैं, जिन्होंने कि व्यञ्जना की प्रस्थापना के प्रसङ्ग में विविध प्रस्थानों का खण्डन करते समय अपने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चमोल्लास में अनुमितिवाद का भी खण्डन किया है। जैसा कि प्रथम अध्याय में ही उल्लेख किया जा चुका है मम्मटकृत यह खण्डन महिमा का ही खण्डन प्रतीत होता है। महिमा के अनुमितिवाद को धराशायी बनाने के लिए मम्मट ने उसी युक्ति का आश्रय लिया है, जिसे अभिनवगुप्त पहले अनुमितिवाद के खण्डनार्थ प्रस्तुत कर चुके थे। वह युक्ति है हेतु का दूषित होना। इन व्यञ्जनावादी आचार्यों का कहना है कि अनुमान एक प्रमाण है, उसमें वही हेतु हेतु हो सकता है, जो निश्चित एवं प्रामाणिक हो, जो लिङ्ग के लिए निर्धारित तीन गुणों (पक्षे सत्ता, सपक्षे सत्ता, विपक्षात् व्यावृत्ति) से युक्त हो। इसके विपरीत काव्य में अनुमितिवादी जिन हेतुओं के बल पर प्रतीयमान तक पहुँचना चाहता है, वे हेतु न होकर हेत्वाभास हैं उदाहरणार्थ गङ्गायां घोषः 'इस उदाहरण में प्रतीयमान अर्थ को यदि अनुमेय माना जाय तो अनुमान की प्रक्रिया होगी—

'घोषः गङ्गागतातिपवित्रत्वादिधर्मवान् (प्रतिज्ञा) गङ्गासामीप्यात् (हेतु) मुनिजनादिवत् (उदाहरण)।

किन्तु यहाँ पर हेतु अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि वह विपक्ष गङ्गातटगतशिरकपालादि में भी व्यभिचरण कर रहा है, जब कि हेतु का विपक्षात् व्यावर्तन आवश्यक है। अतः जब हेतु ही सद् नहीं तो उससे प्रमा कैसे हो सकती है। यह तो रहा शुद्धालक्षणा का स्थल। गौणी लक्षणा में भी प्रयोजनरूप अर्थ अनुमानगम्य नहीं है। जैसे सिंहो माणवकः में यदि अनुमान को घटाना चाहें तो अनुमान की प्रक्रिया होगी—

'माणवकः सिंहधर्मवान् सिंहशब्दवाच्यत्वात् (हेतु) सम्प्रतिपन्नसिंहवत् यहाँ पर सिंहशब्दवाच्यत्व नामक हेतु आश्रय 'माणवक' में रहता ही नहीं, अतः यह स्वरूपासिद्ध हेतु का उदाहरण बन जायगा। प्रकृत उदाहरण में ऐसी भी व्याप्ति नहीं बना सकते कि—यत्र लाक्षणिकशब्दप्रयोगः तत्र तद्धर्मयोगः।

क्योंकि विपरीत लक्षणा के स्थलों में लाक्षणिक शब्द का प्रयोग तो रहता है किन्तु तद्धर्मयोग नहीं रहता। अतः माणवकः सिंहधर्मवान् (साध्य) लाक्षणिकशब्दप्रयोगात्' (हेतु) प्रतिज्ञावाक्य में भी 'लाक्षणिकशब्दप्रयोगात्' हेतु भी अव्याप्त है, क्योंकि अन्य लाक्षणिक प्रयोग रूप सपक्ष में इसकी सत्ता है ही नहीं, फलस्वरूप लाक्षणिकशब्दप्रयोगात् हेतु हेतु न होकर हेत्वाभास हो जाता है।[1]

अभिनव द्वारा प्रतिपादित इसी सरणि का अनुसरण करते हुए मम्मट ने भी काव्यानुमिति में हेतु को अनैकान्तिकत्व, असिद्धत्व तथा विरुद्धत्व दोषों से दुष्ट दिखाया है। उदाहरण उन्होंने उस गाथा को रखा है, जिसमें महिमा ने प्रतीयमान को अनुमेय

---

१. यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नं, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः तथाहि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकं सिंहशब्दवाच्यत्वं च वटोः असिद्धम्। अथ यत्रैवं शब्दप्रयोगस्तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानं, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्। न चास्ति।—ध्व० लो०, पृ० ८७।

सिद्ध करने का विस्तार में प्रयास किया है। मम्मट का कथन है कि 'गोदावरीतीरे श्वभीरोः अभ्रमणं सिंहोपलब्धेः' इस अनुमान में 'सिंहोपलब्धेः' हेतु सदोष है। अतः यह साध्य भ्रमणाभाव का ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ है। भीरु भी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा के कारण अथवा प्रियानुराग के कारण गोदावरीतट पर सिंहरूप भयहेतु के होने पर भी वहाँ घूम सकता है। अतः भ्रमणाभावरूप साध्य के अभाव भ्रमण में भी व्यभिचरित होने के कारण यह हेतु अनैकान्तिक हुआ। ऐसा भी हो सकता है कि वह धार्मिक है अतः श्वभीरु हो और वीर होने के कारण सिंह से न डरता हो, ऐसी दशा में वह सिंहोपलब्धि हेतु के कारण (शिकारादि के लिए) अवश्य जायगा। अतः यह हेतु 'विरुद्ध' भी हुआ, क्योंकि साध्य भ्रमणाभाव के विरुद्ध भ्रमण के साथ यह हेतु व्याप्त हो रहा है। इतना ही नहीं, यह सिंहोपलब्धि हेतु 'असिद्ध' भी है। इसलिए कि पक्ष 'गोदावरी तट' में उसका सद्भाव ही नहीं है। हेतु का पक्ष में सद्भाव प्रत्यक्ष अनुमान या आगम किसी प्रमाण से निश्चित होना चाहिए। यहाँ पर सिंह-सद्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान से निश्चित नहीं है, वह केवल वचन (आगम प्रमाण) से निश्चित हो रहा है, किन्तु वह वचन कुलटा का वचन होने के कारण स्वयं अप्रामाणिक है अतः पक्ष में सिंहसद्भाव प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में हेतु स्वरूपासिद्ध भी हुआ। अतः इस प्रकार के हेतु से साध्यसिद्धि कैसे हो सकती है।[१]

इस प्रकार अभिनवगुप्त तथा मम्मटाचार्य महिमा के हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध करते हुए उनकी काव्यानुमिति का खण्डन करते हैं। राजानक रुय्यक और विद्याधर जैसे अन्य अपेक्षाकृत परवर्ती आलोचकों ने किञ्चिद् भिन्न सरणि पर चलकर काव्यानुमिति को धराशायी करने का प्रयत्न किया है। अनुमान प्रमाण का अङ्ग है व्याप्ति जो कि साध्य-सामान्य के साथ साधन-सामान्य का अविनाभावसम्बन्धरूप है।[२] और रुय्यक के अनुसार उस व्याप्ति के प्रयोजक हैं तादात्म्य और तदुत्पत्ति। 'यत्रयत्र अनित्यत्वं तत्रतत्र कृतकत्वम्' इस व्याप्ति में लिङ्ग अनित्यत्व तथा लिङ्गी कृतकत्व के बीच तादात्म्य है। इसी प्रकार 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' इस व्याप्ति में लिङ्गलिङ्गी के बीच तदुत्पत्तिभाव है। महिमा के अनुसार वाच्य लिङ्ग है अनुमेय लिङ्गी।[३] किन्तु यहाँ पर

---

१. अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं, गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि, गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपितु वचनात्, न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च, तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।—का० प्र०, पृ० १७३-१७४

२. अनुमानस्य चाङ्गं व्याप्तिः।···साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्याविनाभावो हि-व्याप्तिः—एकावली, पृ० ३२

३. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति। सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता। —हि० व्य० वि० १।२५

वाच्य और प्रतीयमान के बीच न तो तादात्म्य है न तदुत्पत्ति। उदाहरणार्थ नि.शेष-च्युतचन्दनं स्तनतटं···उदाहरण में निषेधरूप वाच्यार्थ से विधिरूप प्रतीयमान की प्रतीति होती है पर उस प्रतीयमान का वाच्य के साथ तादात्म्य नहीं है, क्योंकि दोनों अर्थ विरुद्ध हैं - एक भावरूप है, दूसरा अभावरूप। भला भावरूप अर्थ अभावात्मक कैसे बन सकता है। इसी प्रकार यहाँ पर वाच्य और प्रतीयमान के बीच तदुत्पत्ति भी नहीं बनती, क्योंकि अभाव का किसी के साथ जन्यजनकसम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न है। निःशेषच्युतचन्दनादि विशेषणों को भी 'तदन्तिकगमन' का हेतु नहीं मान सकते। इसलिए कि स्नान के भी गमक ये विशेषण हो सकते हैं, ऐसी दशा में हेतु में अनैकान्तिकत्व का दोष आता है। इसलिए वाच्य और प्रतीयमान के बीच लिङ्गलिङ्गीभाव को स्वीकार करके व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव जो 'व्यक्तिविवेककार ने बताया है, वह वाच्य और प्रतीयमान के बीच तादात्म्य और तदुत्पत्ति के अभाव के कारण मूर्खतापूर्ण बात है।[१] जयरथ के अनुसार आचार्य रुय्यक ने 'व्यक्तिविवेकविचार' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक इस विषय पर विवेचन कर के अपना निर्णय दिया है।[२] किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि आज इस नाम का रुय्यककृत कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं है और यदि इसे हम 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' का विशेषण मान लें तो हमें व्याख्यान भी अधूरा ही उपलब्ध है। व्याख्यान 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श के अर्ध भाग में ही समाप्त हो जाता है। अतः हो सकता है कि तृतीय विमर्श में 'भम धम्मिअ' से सम्बद्ध 'व्यक्तिविवेक' के विवेचन के व्याख्यानांश में रुय्यक ने प्रकृत प्रसङ्ग का सविस्तर निरूपण किया हो। अस्तु।

रुय्यक के इस विवेचन का किञ्चिद् परिवर्धन के साथ समर्थन किया है एकावलीकार विद्याधर ने। उनके अनुसार प्रकृत प्रसङ्ग में ध्वनि है साध्यसामान्य और शब्दार्थ है साधनसामान्य। साध्यसामान्य और साधनसामान्य का अविनाभाव सम्बन्ध ही व्याप्ति है, जिसके प्रयोजक तीन हैं—साध्य की अनुपलब्धि, साध्यसाधन का तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति।[३] इनमें से अनुपलब्धि के द्वारा साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि उसके द्वारा अभाव रूप साध्य की ही सिद्धि हो सकती है, जैसे—

'नात्र कुम्भः उपलम्भयोग्यस्य तस्यानुपलब्धेः' उदाहरण में कुम्भाभाव साध्य है अतः यहाँ अनुपलब्धि से कार्य चल सकता है किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग में ध्वनि की अनुपलब्धि से ध्वनि का अभाव साध्य नहीं है, प्रत्युत ध्वनि की उपलब्धिपूर्वक ध्वनि ही साध्य है।

---

१. 'यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम्'—अलङ्कारसर्वस्वम् पृ० १६, जयरथकृत टीका।

२. वाच्यस्य प्रतीयमानेनतादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यते इति व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावः। —अलङ्कारसर्वस्व, विमर्शिनी, पृ० १६

३. साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्याविनाभावो हि व्याप्तिः। प्रकृते ध्वनि. साध्यसामान्यं शब्दार्थौ च साधनसामान्यं तत्र च ध्वनेरनुपलब्धिर्वा, शब्दार्थयोस्तादात्म्यं वा तदुत्पत्तिर्वा साधिका।'—एकावली, पृ० ३२

अतः साध्य ध्वनि की अनुपलब्धि द्वारा साध्य (ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ) की सत्ता यहाँ नहीं सिद्ध की जा सकती। साधन अथवा गमक शब्दार्थ की अनुपलब्धि के आधार पर भी साध्य ध्वनि के अभाव की सिद्धि सम्भव नहीं, इसलिए कि किसी एक वस्तु की अनुपलब्धि किसी अन्य वस्तु के अभाव की साधिका नहीं बन सकती। कुम्भाभाव कभी भी स्तम्भाभाव को सिद्ध नहीं कर सकता।[1] व्याप्ति के अन्य दो प्रयोजक अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति से सम्बद्ध विवेचन 'अलङ्कारसर्वस्व' जैसा ही है, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ रुय्यक तादात्म्य और तदुत्पत्ति के अभाव का केवल उल्लेखमात्र करते हैं, एकावलीकार ने उदाहरणों के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार इन दोनों ही आलोचकों ने काव्य में व्याप्ति के प्रयोजक के अभाव के आधार पर 'मूलं नास्ति कुतो शाखा' न्याय का अनुसरण करते हुए काव्यानुमिति की असम्भाव्यता दर्शाया।

इन तीन आचार्यों के बाद आचार्य विश्वनाथ कविराज का नाम आता है। इनका विवेचन मौलिक तो नहीं कहा जा सकता इसलिए कि मम्मट की ही सरणि पर 'भम धम्मिअ' गाथा तथा—

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयनोर्विघटनसङ्घटनकौतुकी कृष्णः॥

उदाहरणों में क्रमशः वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि की अनुमेयता का निराकरण हेतु के व्यभिचारित्व तथा अनैकान्तिकत्व के आधार पर किया है। किन्तु रसध्वनि के निरनुमेयता से सम्बद्ध सम्पूर्ण विवेचन सर्वथा आचार्य विश्वनाथ का अपना है। अभी तक आलोचकों ने काव्यानुमिति में जो दोष दिखाए, उन्हें जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, उनकी दुराग्रहपूर्ण एवं एकाङ्गी दृष्टिकोण का परिणाम भी कहा जा सकता है, किन्तु रसध्वनि की अनुमेयता के खण्डन के प्रसङ्ग में विश्वनाथ ने जो तथ्य सम्मुख रखे, उन्हें स्वीकार करने में किसी भी सहृदय व्यक्ति को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। महिमभट्ट के रसानुमितिविषयक विचार को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त करने के बाद विश्वनाथ दो विकल्प अनुमितिवादी के समक्ष रखते हैं—

(१) क्या आप काव्य और नाट्य में प्रयुक्त विभावादि के ज्ञान से अनुमित रामादिगतरत्यादि-ज्ञान को ही रस मानते हैं?

अथवा

(२) क्या आपके अनुसार रस का अभिप्राय उस अखण्ड स्वप्रकाशानन्द से है जो काव्यनाट्यसमर्पित विभावादि की भावना के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उद्बुद्ध हुआ करता है?[2]

---

१. 'न तावदनुपलब्धिः साध्यं बोधयतीति शक्यतेऽभिधातुमभावरूपसाध्यैकसाधनायप्रगल्भमानत्वात्तस्याः। यथात्र न कुम्भः। उपलम्भयोग्यस्य तस्यानुपलब्धेरिति। प्रकृते त्वन्यतरासिद्धो हेतुः। न हि वयं ध्वन्यनुपलम्भेन ध्वन्यभावं साधयामः। ध्वन्युपलम्भेन ध्वनेरेवास्माभिः साध्यमानत्वात्। नापि शब्दार्थयो रनुपलम्भेन। न हि कुम्भानुपलम्भः स्तम्भाभावं साधयितुमीष्टे।'—वही, पृ० ३३

२. 'तत्र प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनयसमर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैः भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा।'—सा० द०, पृ० ३५१

इनमें से यदि आप प्रथम विकल्प को मानते हैं तो हमारा आपसे कोई विवाद नहीं है, अन्तर केवल इतना है कि रामादिगतरागादिज्ञान को ही हम रस नहीं मानते[1] और यदि आप द्वितीय विकल्प को मानते हैं तो हमारा निवेदन है कि हेतु के हेत्वाभास हो जाने के कारण व्याप्ति के अभाव के कारण अनुमान की प्रक्रिया वहाँ बनती ही नहीं।[2]

आचार्य विश्वनाथ की प्रथम सूझ के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि रामादि नट में रत्यादि है कहाँ तथा अनुकार्य रामादि तो उपस्थित ही नहीं हैं, फिर उनकी रत्यादि का ज्ञान कैसे सम्भव है ? और यदि नट राम के माध्यम से अनुकार्य रामादि के रत्यादि का ज्ञान मान भी लें तो उस ज्ञान से लोक की भाँति ही रागद्वेष की सम्भावना ही अधिक है, क्योंकि राम लौकिक व्यक्ति हैं और यदि तुष्यद्दुर्जनन्यायेन नट राम में भी रत्यादि की उपस्थिति मान ली जाय तो भी उससे सामाजिक को चमत्कार-लाभ कैसे हो सकता है, सुतरां लोक की ही भाँति सहृदय में रागद्वेषादि की ही उत्पत्ति अधिक स्वाभाविक है। अतः विश्वनाथ का यह कथन कि 'रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' बिलकुल ठीक है। अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार तो सामाजिक का अपना रत्यादिभाव उद्बुद्ध होकर चर्व्यमाण होता हुआ रस कहलाता है और यदि अनुमितिवादी का रस से अभिप्राय उस अखण्ड 'स्वप्रकाशानन्द' से है जो काव्यनाट्य समर्पित विभावादि की भावना के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उद्बुद्ध हुआ करता है तो भी यही स्वीकार करना होगा कि अनुमान द्वारा स्वप्रकाशानन्दस्वरूप सहृदयहृदयसंवेद्य रस की सिद्धि असम्भव है, इसलिए कि अनुमानतः अगर सहृदयहृदय-संवेद्य रस को सिद्ध किया जाय तो अनुमान की प्रक्रिया होगी—यह सामाजिक शृङ्गार-रसवान् है, क्योंकि इसमें रामादिगत रत्यादिभाव का ज्ञान उसी प्रकार उत्पन्न हो गया है, जैसे उस सामाजिक के हृदय में अर्थात् रसाविर्भाव और रामादिगतरत्यादिप्रतीति में धूमाग्निवत् अविनाभावसम्बन्ध मानना पड़ेगा पर रस और रामादिगतरत्यादिप्रतीति में इस प्रकार का अविनाभावसम्बन्ध कैसे माना जा सकता है जबकि काव्य और नाट्य के अनेकानेक सामाजिक जैसे मीमांसक अथवा वैय्याकरण आदि ऐसे हैं, जिन्हें काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि से रामादिगतरत्यादि की प्रतीति अवश्य हुआ करती है किन्तु रसात्मक चमत्कार कदापि नहीं हुआ करता है। इस प्रकार यहाँ कोई व्याप्ति-निश्चय सम्भव नहीं। साथ ही यहाँ पर पक्षधर्मता भी निर्धारित नहीं है, क्योंकि यह कैसे पता कि सामाजिक में रामादिगत रत्यादि प्रतीति अवश्य विद्यमान है।

इन दोषों से बचने के लिए अगर इस प्रकार की व्याप्ति बनायें—

'यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्विकसञ्चारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः'।

तो भी ठीक नहीं इसलिए कि सहृदय जन इस बात के प्रमाण हैं कि रस का

---

१. 'आद्ये न विवादः किन्तु 'रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' इत्येव विशेषः।'—वही, पृ० ३५१

२. 'द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतया असिद्ध एव'—वही पृ० ३५१

आविर्भाव काव्य अथवा नाट्य में नहीं हुआ करता है। वस्तुतः तो सहृदयगत रत्यादिक भाव चर्व्यमाण होकर रस कहलाते हैं पर कारण तथा कार्य में अभेद मानकर प्रायः काव्य या नाट्य को भी सरस कह देते हैं। अतः यह निश्चित हुआ कि रस तक अनुमिति की पहुँच है ही नहीं।

आलोचनाओं का औचित्यानौचित्य

महिमभट्ट ने काव्यानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण प्रतिपादित किया है। अतः इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए मम्मट, रुय्यक एवं विद्याधर का हेत्वाभास पर आधारित महिमा की काव्यानुमिति का खण्डन बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। लोक में अग्नि सत् है पर काव्य में रत्यादिक असत् है। अतः काव्यानुमिति प्रमाकोटि तक पहुँच भी कैसे सकती है? किन्तु जिस प्रकार महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को बिना समझे उनकी आलोचना की है, उसी प्रकार से इन्हीं की सरणि पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायियों ने भी महिमभट्ट की आलोचना की है। पर सम्पूर्ण दोष इन आलोचकों का ही हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता इसलिए कि महिमा स्थल स्थल पर उद्धृत करते हैं—

त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।[1]

इस शास्त्रीय अनुमान के लक्षण से अपने मत की पुष्टि करते समय उनके लिए यह आवश्यक था कि काव्यानुमिति सम्बन्धी अन्य बातों के समान ही वे यह भी प्रतिपादित करते कि काव्यानुमिति का लिङ्ग शास्त्रों के लिङ्ग से भिन्न है। यहाँ काव्य में लिङ्ग की त्रिरूपता अनिवार्य नहीं, हेत्वाभासों से भी काव्य में कार्य चल सकता है।

विश्वनाथकृत आलोचना निश्चित ही अधिक विद्वतापूर्ण है। महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित सरणि पर काव्यानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण स्वीकार कर लेने पर भी यह मानना ही पड़ता है कि काव्यानुमिति अव्याप्ति दोष से दूषित है। जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने सिद्ध किया है, रस तक तो इस काव्यानुमिति की पहुँच है ही नहीं। साथ ही वस्तु एवं अलङ्कारध्वनि के भी कुछ ही उदाहरणों तक इसकी पहुँच है। यही कारण है कि जहाँ महिमभट्ट को कोई हेतु नहीं दिखलाई देता, वहाँ वे प्रतीयमान की सत्ता का ही निषेध कर देते हैं। 'अत्था एत्थ णिमज्जइ' उदाहरण में सहृदय जन प्रमाण हैं कि विधि-रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है और अवश्य होती है। यह भी विचारणीय है कि 'गतोऽस्तमर्कः' अथवा

'कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

जैसे उदाहरणों में, जहाँ विषय-भेद के कारण एक वाच्य से अनेक प्रतीयमान की प्रतीति होती है, महिमभट्ट की काव्यानुमिति से उन सारे ही अर्थों की प्राप्ति

१. 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' पृ० ८१

असम्भव है। काव्य में तो ऐसा भी होता है कि एक ही उक्ति का केवल वक्तृभेद से विरुद्ध अर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ दूती यदि अभिसारिका से कहती है—'उदितो चन्द्रः' तो इस उक्ति से 'अभिसार मत करो' इस प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना होती है, किन्तु यदि इसी उक्ति की वक्ता अभिसारिका स्वयं है तब वक्तृवैशिष्ट्यात् एवं प्रकरणादि की सहायता से व्यङ्ग्य प्रतीयमान अर्थ होगा—अभिसार की तैयारी करो। इस प्रकार अव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण काव्य के क्षेत्र में महिमभट्ट द्वारा विवेचित अनुमितिवाद पर्याप्त नहीं है, वहाँ व्यञ्जना की अपरिहार्यता स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

———

चतुर्थ अध्याय

रस के स्वरूप का महिमकृत विवेचन एवं उसका परीक्षण

जैसा कि प्रथम अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है, महिमभट्ट का अवतरण ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। फलस्वरूप उन्हें दाय के रूप में प्राप्त हुई थी—संस्कृत समालोचना-शास्त्र की एक सुविकसित परम्परा—वह परम्परा जिसके आद्य आचार्य भरतमुनि रहे और जो कि महिमभट्ट से कुछ ही पूर्व ध्वनिकार आनन्दवर्धन जैसे क्रान्तिकारी एवं मूर्धन्य समालोचक को जन्म दे चुकी थी। इस विषय पर विद्वान् एकमत हैं कि भरतकृतनाट्यशास्त्र आज संस्कृत समालोचना-शास्त्र का उपलब्ध आद्य ग्रन्थ है, यद्यपि नाट्य एवं काव्य के विभिन्न अङ्गों का जैसा साङ्गोपाङ्ग तथा विद्वत्ता-पूर्ण प्रतिपादन इस ग्रन्थ में मिलता है, उससे तो इसी धारणा को आश्रय मिलता है कि इसके पीछे अवश्य ही एक सुविकसित परम्परा रही है। इस मान्यता की पुष्टि पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा स्वयं भरतकृत नाट्यशास्त्र से भी होती है। जैसी कुछ विद्वानों की धारणा है, यदि नाट्यशास्त्रकृत् भरत का काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी भी मान लिया जाय[१] तो भी आचार्य पाणिनि भरत से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में पाणिनि द्वारा उल्लिखित नटसूत्रों के रचयिता शिलालिन् और कृशाश्व[२] नामक आचार्य निश्चित ही भरत से पूर्ववर्ती हुए। इसके अतिरिक्त भरत ने स्वयं कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य, धूर्तिल आदि नाट्य-आचार्यों का उल्लेख किया[३] है। अतः निश्चित ही नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत से पूर्व भी रहे हैं। किन्तु उनकी कोई कृति उपलब्ध न होने के कारण आचार्य भरत को ही समालोचना-शास्त्र का आद्य आचार्य स्वीकार करना अनुचित न होगा। अस्तु।

नाट्य का जीवितभूत परमतत्त्व रस ही है, क्योंकि उसी को लक्ष्य करके नाट्य के विभावादिक अर्थ प्रवृत्त होते हैं—ऐसा प्रतिपादन स्वयं भरतमुनि ने ही किया है।[४] यह रस न केवल नाट्य का सर्वस्व है, अपितु काव्य का भी जीवित है,[५] क्योंकि काव्य

---

१. 'माना जाता है कि नाट्यशास्त्र की रचना ईसवीपूर्व २०० से सन् २०० ईसवी तक के काल में हुई'—भारतीय साहित्यशास्त्र—डा० ग० त्र० देशपाण्डे, पृ० २६

२. (क) 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।३।११०
(ख) 'कर्मन्दकृशाश्वादिनः'— वही ४।३।१११

३. 'कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम् ॥'—नाट्यशास्त्र

४. 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'—वही

५. 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः'—हि० व्य० वि०, १।२६ पृ० १११

या नाट्य तथा शास्त्र दोनों ही विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिरूप फल वाले होते हैं। ऐसी दशा में काव्य अथवा नाट्य तथा शास्त्र में भेद फल या उद्देश्य का नहीं है, अपितु उपाय-मात्र का भेद है। जिन तथ्यों का प्रतिपादन शास्त्रों में नीरस ढङ्ग से होता है, उन्हीं का काव्य और नाट्य में सरस ढंग से प्रतिपादन कवि एवं नाट्यकार का उद्देश्य होता है, जिससे कि सुकुमार मति के लोग तथा अल्पधी जन उसकी सरसता से आकृष्ट होकर उनमें प्रवृत्त हो सकें।[1] इस प्रकार काव्य तथा नाट्य का शास्त्रों से भेदक तत्त्व यही है, अतः इसका महत्त्व भी सुस्पष्ट है।[2] महिमा तो रस के अभाव में काव्य को काव्य स्वीकार करने से ही अस्वीकार कर देते हैं।[3] अतः काव्य एवं नाट्य का असाधारण धर्मभूत[4] यह रसतत्त्व विवेचन-सापेक्ष्य था और भरतमुनि ने रस-स्वरूप का विवेचन तो नहीं किया किन्तु रस-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उन्होंने सूत्रशैली में यह बताया कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

और लोकजीवन से ही इस रसनिष्पत्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह कहा कि जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों, औषधियों एवं द्रव्यों के संयोग से (भोज्य द्रव्यों में) रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार जैसे गुणादिक द्रव्य व्यञ्जन (उपसेचन द्रव्य) एवं (इमली, गेहूँ, दाल इत्यादिक) औषधियों के संयोग से षाडवादिक रस निर्वृत्त होते हैं, उसी प्रकार से नाना प्रकार के विभावादिकों के द्वारा उपगत स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं—

'यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमात् रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिः द्रव्यैः व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।'

इस प्रकार इस विवेचन से रस-सूत्र में प्रयुक्त संयोगात् तथा 'निष्पत्ति' शब्दों के क्या अर्थ भरत को अभिप्रेत थे, इसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। फलस्वरूप व्याख्या-

१. (क) 'सामान्येनोभयमपि च तद् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः।...एवञ्च ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्र-प्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः ये चात्यन्ततोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्यातोद्यादिप्रसक्ता उभयेऽपितेऽभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादसुखं मुखे दत्त्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः।—वही पृ० १०१, १०२

(ख) 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।'—सा० द० १।२

२. 'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णना-निपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणा-दिवदित्युपदेशं च...करोति।' का० प्र० १।२ की वृत्ति।

३. 'तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्'—हि० व्य० वि०, पृ० १०३

४. 'नह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः लौकिकवैदिकवाक्येषु तद्भावात्'—लोचन पृ० ४०

ताओं की परम्परा ने इन दो शब्दों का अर्थ अपने-अपने ढङ्ग से किया और उनके इन शब्दों के अर्थविषयक वैमत्य का परिणाम हुआ, रस के प्रसङ्ग में विविध वादों की उत्पत्ति। किन्हीं आचार्यों ने संयोग का उत्पाद्य-उत्पादकभावसम्बन्ध अर्थ करते हुए निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति बताया तो किसी अन्य आचार्य ने संयोग का अर्थ अनुमेय-अनुमापकसम्बन्ध बताते हुए निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' किया। व्याख्याताओं के एक तृतीय वर्ग ने संयोग का अर्थ भोज्यभोजक का संयोग स्थिर करते हुए तदनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किया तो चतुर्थ कोटि में आने वाले लोगों ने संयोगात् का अर्थ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का संयोग निश्चित करते हुए निष्पत्ति का अर्थ 'व्यक्ति' निर्धारित किया। इस प्रकार रस के क्षेत्र में भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, श्री शङ्कुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की अवतारणा होती है। पर खेद की बात है कि आज इन समस्त व्याख्याताओं में से प्रथम तीन की मौलिक कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। उनके रस-निष्पत्ति विषयक विचारों के ज्ञान का एकमात्र साधन अभिनवगुप्तपादाचार्यकृत नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती नामक टीका है, जिसमें उपर्युक्त तीनों ही आचार्यों के मत पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत हैं। पर चूँकि संस्कृत आचार्यों का यह वैशिष्ट्य रहा है कि वे पाठक के समक्ष पूर्ण सच्चाई एवं ईमानदारी के साथ पूर्वपक्ष को बिना किसी न्यूनाधिक्य के उसके सही रूप में उपस्थित करने के पश्चात् ही सिद्धान्त-पक्ष उपस्थित करते हैं अतः यही मानकर चलना उपयुक्त प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने उस परम्परा का पूर्ण पालन करते हुए इन पूर्वपक्षियों के साथ पूर्ण न्याय बर्ता होगा। अतः अभिनव द्वारा उद्धृत पूर्वपक्षियों के ये मत 'सर्वथा प्रामाणिक' भी कदाचित् न हों,[1] यह उक्ति बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होती। अभिनवभारती के अतिरिक्त मम्मटाचार्य भी अपने 'काव्यप्रकाश' में इन व्याख्याताओं की व्याखयाओं के उल्लेख पूर्वक अभिनवगुप्त के मत को अपना मान्य मत होने का सङ्केत देते हैं। पदावली की भिन्नता होते हुए भी मम्मटकृत यह विवेचन अभिनव के विवेचन से बहुत साम्य रखता है और जैसा कि डा० नगेन्द्र का मत है कि यह विवेचन यदि अभिनवभारती पर आधारित न होकर सर्वथा स्वतन्त्र भी हो सकता है[2] तो अभिनव द्वारा उल्लिखित ये व्याख्यायें नश्चित ही अधिक प्रामाणिक सिद्ध होती हैं। रस से सम्बद्ध मम्मट का वक्तव्य ही प्रायः अन्य परवर्ती आचार्यों के लिए आदर्श रहा।

इन व्याख्याताओं में भट्टलोल्लट तथा श्री शङ्कुक तो निश्चय ही नाट्यशास्त्र के टीकाकार हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक नाट्यशास्त्र के टीकाकार नहीं थे[3] अपितु भुक्तिवाद के प्रसङ्ग में अपने ध्वनि-विरोधी 'हृदयदर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में आनन्दवर्धन के रसाभिव्यक्तिवाद के खण्डन के प्रसङ्ग में उन्होंने रस-सूत्र की इस प्रकार की व्याख्या की होगी और रसाभिव्यक्तिवाद के प्रबल समर्थक और संस्थापक के रूप में

---

१. 'रससिद्धान्त'—डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ० १३८

२. वही, पृ० १३८

३. 'I am of opinion that भट्टनायक was not a regular commentator of the नाट्यशास्त्र as लोल्लट and शङ्कुक were'. H.S.P. Kane, page215

अभिनवगुप्त के लिए उनके भुक्तिवाद को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करके खण्डन करना अनिवार्य हो गया होगा। फलस्वरूप रस के प्रसङ्ग में अभिनव ने 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' दोनों में ही उनके रस सम्बन्धी विचारों को उद्धृत किया। इस विचार की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि जहाँ एक ओर भट्टनायक के अत्यन्त निकटवर्ती महिमभट्ट तथा राजानक रुय्यक उनका उल्लेख केवल हृदयदर्पणकार के रूप में करते हैं वहीं शार्ङ्गदेव अपने सङ्गीतरत्नाकर में भारतीय नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं की नामावली में भट्टनायक की गणना नहीं करते।[1] पर इतना तो निश्चित ही है कि भट्टनायक भारतीय नाट्यशास्त्र के व्याखयाता न होने पर भी भरत के रस-सूत्र के व्याख्याता तो थे ही। अस्तु।

रस विषयक इन चार वादों के अतिरिक्त भामह और दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी रस का कुछ विवेचन किया है। यद्यपि उसे 'रस' न कहकर उन लोगों ने 'रसवत्' संज्ञा दी है[2] तथा उसका अन्तर्भाव अलङ्कारों में किया है। 'रसवद्' से सम्बद्ध उनके विवेचन के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में परिपुष्ट स्थायी ही रस है और वह स्थायी भीमादिक काव्यगत व्यक्तियों के हैं।[3] अतः विचार करने पर ये आचार्य भी भट्टलोल्लट की ही कोटि में आते दिखायी पड़ते हैं। अभिनव ने भी भट्टलोल्लट के मत के उपस्थापन के पश्चात् 'चिरन्तनानां चायमेव पक्षः।' तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि' आदि के द्वारा नामनिर्देशपूर्वक इसी तथ्य का उद्घाटन किया है। अतः रस विषयक प्रधान ये चार ही वाद रहे और बाद में धनञ्जय के तात्पर्यवाद के रूप में एक नया वाद हमारे सम्मुख आता है। महिमभट्ट ने चूँकि

---

१. 'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।' सङ्गीतरत्नाकर—शार्ङ्गदेव

२. (क) 'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा। देवीसमागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥'
—काव्यालङ्कार, (भामह) ३।६

(ख) १—...'रतिः श्रृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः।
२—इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः॥
३—इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥'
—काव्यादर्श (२।२८१, २८३, २८५)

३. रत्यादिभाव विभावादि (रूपबाहुल्य) के कारण जब पराकोटि को प्राप्त होते हैं तो रस का आविर्भाव होता है। अर्थात् रस है भावों की उपचयावस्था। ये भाव तथा रस काव्यगत व्यक्तियों के हो होते हैं तथा इसमें इनकी व्यक्तिगत भावनाओं का ही उपचय होता है। (भीम का क्रोध पराकोटि तक पहुँचा और रौद्ररूप हुआ)। ...भामह, दण्डी के उपर्युक्त वचनों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रसविषयक धारणा व्यक्तिगत स्थायी की परिपुष्टि पर ही आधारित थी।
—भारतीय साहित्यशास्त्र, डा० ग० त्र० देशपाण्डे, पृ० २६४

विभावादिक एवं रसादि के बीच गम्यगमकभाव स्वीकार करते हुए रस को अनुमेय सिद्ध किया है, अतः उनकी रसानुमिति की मौलिकता एवं रस की दृष्टि से उसकी उपयोगिता के मूल्याङ्कन के लिए आवश्यक है कि रस-सम्बद्ध इन विविध वादों पर भी एक विहङ्गम दृष्टि डाल ली जाय।

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

कालक्रमानुसार तथा रस-सिद्धान्त के विकासक्रमानुसार भट्टलोल्लट रससूत्र के प्रथम टीकाकार निश्चित होते हैं इसलिए कि श्री शङ्कुक ने भट्टलोल्लट की आलोचना की है और भट्टनायक ने भट्टलोल्लट तथा श्री शङ्कुक की तथा अभिनवगुप्त ने इन सब की। अतः इन आचार्यों का समय चाहे जो भी हो पर इनका पौर्वापर्य तो सुनिश्चित है। इनमें से भट्टनायक ने ध्वन्यालोक का खण्डन किया है। अतः उनका समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा दशम् का पूर्वार्द्ध होना चाहिए इसलिए कि जहाँ एक ओर नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लब्धख्याति आनन्दवर्धनाचार्य[1] का वे 'हृदय-दर्पण' में खण्डन करते हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं उनका खण्डन अभिनवगुप्त ने किया है, जिनका साहित्यिक रचनाओं का समय उनके अपने ही उल्लेखों के अनुसार (९९०-१ से लेकर १०१४-१५) के बीच माना जाता है। अतः प्रथम दो आचार्यों का भी काल ८३० ई० से पूर्व ही होना चाहिए।

भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद अथवा कृतिवाद के नाम से विख्यात है। इसलिए कि ये इस रस को 'कृत' अथवा 'उत्पन्न' मानते हैं। इनके अनुसार विभावादिक का रत्यादिक स्थायी के साथ संयोग होने से रस की उत्पत्ति होता है।[2] इनमें विभाव स्थायी चित्तवृत्ति के उत्पत्ति का कारण है। अनुभावों से रसजन्य अनुभाव यहाँ विवक्षित नहीं हैं इसलिए कि रसजन्य अनुभाव रस के कार्य होंगे, वे रस का कारण नहीं हो सकते, जब कि यहाँ विवक्षित अनुभाव रसोत्पत्ति के कारण हैं। अतः अनुभावों से तात्पर्य है भावों के अनुभाव से। व्यभिचारिभाव भी चितवृत्तिरूप ही होते हैं तथा स्थायी भी चित्तवृत्तिरूप ही होते हैं। अतः 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' नियम के अनुसार इन द्विविध चित्तवृत्तियों का समकाल में मन में सह-अस्तित्व सम्भव नहीं। अतः व्यभिचारिभाव रत्यादिक स्थायिभावों के साथ नहीं रह सकते तथापि स्थायिभाव यहाँ संस्काररूप में विवक्षित हैं।[3] इस प्रकार ललनादिक आलम्बन तथा उद्यानादिक उद्दीपन

---

१. 'मुक्ताकणशिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः'—कल्हणकृत राजतरङ्गिणी ५।३४

२. 'भट्टलोल्लटप्रभृतयः तावदेवं व्याचख्युः विभावादिभिः संयोगो अर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः'—हि० अ० भा०, पृ० ४४२।

३. 'तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकायाः उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः।'—वही पृ० ४४२

विभावादि के द्वारा उत्पन्न यह स्थायी कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभावों के द्वारा प्रतीति योग्य होता है और निर्वेदादिक व्यभिचारियों के द्वारा उपचित अथवा परिपुष्ट होता है।[1] इस प्रकार विभावादिक के द्वारा उपचित स्थायी ही भट्टलोल्लट के मत में रस है। अतः स्थायीभाव और रस में भेद बस इतना है कि उपचित स्थायी रस है और अनुपचित दशा में वह स्थायी स्थायिभाव मात्र।[2] अब प्रश्न यह उठता है कि यह स्थायी किसका होगा? अनुकार्य रामादिक का अथवा अनुकर्ता नट का अथवा सामाजिक का? दूसरे शब्दों में रस की उत्पत्ति किसमें होती है? इस प्रश्न के उत्तर में भट्टलोल्लट का कथन है कि यह उपचित स्थायी अथवा रस नट और अनुकार्य रामादिक दोनों में होता है किन्तु मुख्यरूपेण यह उपचित स्थायी रामादिक अनुकार्यों का होता है पर चूँकि नट रामादि के रूपों का अनुसन्धान करता है अतः नट में भी उस उपचित स्थायी की प्रतीति होती है।[3] यह प्रश्न हो सकता है कि यदि रस अनुकार्यगत होता है तो इन्हें नाट्यरस क्यों कहा गया है? इसका उत्तर भट्टलोल्लट के अनुसार यह है कि रसों को नाट्यरस इस लिए कहा जाता है क्योंकि नाट्य में उसका प्रयोग होता है।[4]

भट्टलोल्लट की इस उपपत्ति में अधोलिखित तथ्य अवधेय हैं—

रस की उत्पत्ति होती है, किन्तु उत्पत्ति का अर्थ नूतन सृष्टि नहीं है, अपितु उत्पत्ति का अर्थ है रूप परिवर्तनमात्र (तेन स्थाय्येव विभावादिभिरुपचितोरसः। स्थायी त्वनुपचितः) रस एवं स्थायी में मूलतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल मात्रा का। विभावादिक से उपचित होकर स्थायी ही रस बन जाता है। रसरूपेण परिवर्तित होने

---

१. 'विभावैर्ललनोद्यानोदिभिः आलम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिः निर्वेदादिभिः सहकारिभिः उपचितो...रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।'—का० प्र०, पृ० ६६

२. (क) 'तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः'—हि० अ० भा०, पृ० ४४३

(ख) 'पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वात् नाट्यरस इति केचित्...' —लोचन २।४, पृ० ३८८

३. (क) 'स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति'—हि० अभि० भा०, पृ० ४४३

(ख) '...मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो' —का० प्र०, पृ० ६६

४. 'तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वात् नाट्यरस इति केचित्।'—लोचन पृ० ३८८ (यहाँ अभिनव लोल्लट का नाम्ना उल्लेख तो नहीं करते पर इतना तो सुस्पष्ट है कि यह मत लोल्लट का ही है। बालप्रियाकार ने भी इसे लोल्लट का ही मत बताया है।)

वाला यह स्थायी अनुकार्य रामादिक का होता है, किन्तु उन अनुकार्य रामादिक के साथ तादूप्य प्रदर्शित करने वाले नट में भी सामाजिक को उस तादूप्यस्थापन के कारण ही रस प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि रस की उत्पत्ति तो मूल रामादिक में होती है, नाटक में मूल रामादिक के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले नट पर उस रस का आरोप सामाजिक कर लेते हैं और इस आरोप मात्र से चमत्कृत होते हैं।[1] इस प्रकार नाट्य प्रयोग में दर्शक सर्वथा वाह्य होता है। उपचित स्थायी ही रस है, किन्तु स्थायी का यह उपचय एकदम से न होकर अवस्थाओं में होता है। विभावादिक से स्थायी उत्पन्न अथवा उद्बुद्ध होता है, अनुभावों से प्रतीतियोग्य होता है और सञ्चारियों के द्वारा परिपुष्ट होता है।[2] इस प्रकार स्थायी का विभावादिक के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-भाव सम्बन्ध है, अनुभावों के साथ अनुमेय-अनुमापक-भाव सम्बन्ध है तथा सञ्चारियों के साथ परिपोष्य-परिपोषकभाव सम्बन्ध है।[3] इस प्रकार भट्टलोल्लट की दृष्टि में 'संयोग' का अर्थ है स्थायी का विभावादिक के साथ सम्बन्ध और यह सम्बन्ध उपर्युक्त ढङ्ग से त्रिविध होता है, विभावों के साथ उत्पाद्योत्पादकभावरूप, अनुभावों के साथ अनुमेय-अनुमापकभावरूप तथा सञ्चारियों के साथ पोष्यपोषकभावरूप और तदनुसार निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति।

भट्टलोल्लट के इस मत में दोष सुस्पष्ट है। प्रथमतः यह मत रस को मुख्य रूपेण अनुकार्यगत तथा गौणरूपेण अनुकर्तागत मानने के कारण दुष्ट है। त्रेता युग के रामादिक अनुकार्य आज विद्यमान ही नहीं हैं, वे तो भूतकाल के हैं अतः शृङ्गारादिरूपेण परिणत उनकी रत्यादिक की प्रतीति सहृदय को कैसे हो सकती है।[4] 'काव्य-एवं नाट्य के माध्यम से वे अमर हैं अतः उनकी रत्यादि का ज्ञान सहृदय को हो सकता है' उक्त आपत्ति का यदि यह उत्तर दिया जाय तो एक दूसरी आपत्ति उठती है जो दुर्निवार्य है। त्रेता के राम हम साधारण जनों की भाँति ही लोक के व्यक्ति हैं और यदि उनके रत्यादिक भाव शृङ्गारादिक रस बन सकते हैं तो साधारण लौकिक प्राणियों के रत्यादिक भाव रस क्यों नहीं बन सकते? किन्तु लोक में व्यक्ति के रत्यादिक भाव को हम रस नहीं मानते और उससे द्रष्टा को चमत्कार-लाभ नहीं होता है अपितु लोक में तो दो प्रेमियों की शृङ्गारिक चेष्टाएँ देखकर हमें या तो लज्जा होती है या ईर्ष्या। इसी प्रकार रस को अनुकार्यगत मान लेने पर रस रस न रहकर भावमात्र रह जायगा और उसे देखकर सहृदय आह्लादित न होगा, अपितु लज्जित या ईर्ष्यायुक्त

---

१. 'आरोप एव च सामाजिकानां चमत्कारहेतुः'—का० प्र० (उद्योत टीका) पृ० ८१

२. वही पृ० ६६

३. 'स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद्व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात्संयोगात्सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः' —प्रदीप टीका, पृ० ८१

४. 'रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्। नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः।'—दशरूपक ४।३८

होगा।[1] दूसरी ओर लोक में शोक का उद्रेक देखकर हम स्वयं भी शोकाकुल हो उठते हैं, जबकि नाट्य या काव्य में हम शोक के उद्रेक पर दुःखी नहीं होते अपितु प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार रस को अनुकार्यगत मानने पर सभी रसों की आनन्दरूपता के निरास का प्रसङ्ग उपस्थित होता है[2] जो कि ठीक नहीं।

रही रस को अनुकर्तागत मानने की बात तो उसके लिए तो अभिनेता नट ही प्रमाण है कि अभिनय के समय उसे कितनी रसानुभूति होती है। प्रतिक्षण कुशल अभिनय की चिन्ता से युक्त अभिनेता को भला 'विगलित-वेद्यान्तरमानन्द' रूप रसानुभूति क्योंकर होने लगी ? और यदि नट में हम रस-प्रतीति मानते ही हैं तो मरणादि के अवसर पर अभिनेता में शोक के आवेश के फलस्वरूप उसके लय इत्यादि का भङ्ग होना चाहिए जो कि होता नहीं।[3] अतः यही मानना समीचीन है कि नट को रस-प्रतीति नहीं होती। सबसे अधिक आपत्तिजनक जो बात इस सिद्धान्त में दिखायी देती है, वह यह है कि सामाजिक रस से सर्वथा असम्बद्ध रह जाता है। अनुकार्यगत अथवा अनुकर्तागत रस से सामाजिक को रसानुभूति कैसे हो सकती है।[4]

भट्ट लोल्लट के इस मत में उपर्युक्त दोषों के कारण रससूत्र के दूसरे व्याख्याता आचार्य श्री शङ्कुक ने इस मत की आलोचना करते हुए अपनी व्याख्या उपस्थित की है।

श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद

भट्टलोल्लट को उपपत्ति के सदोष होने के कारण श्रीशङ्कुक ने स्थायी को रस न मानकर स्थायी के अनुकरण को रस कहा है। श्रीशङ्कुककृत रस-सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—

---

१. 'द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः। लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येवदर्शनात्'॥ दशरूपक ४।३९। तथा 'यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेत् न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्॥' अवलोक—पृ० २५५

२. (क) सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्। हि० अभि० भा०, पृ० ५००

(ख) 'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥ सा० द० ३।४, ५

३. (क) 'नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात्। दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः इत्यौद्भटाः।—हि० अभि० भा०, पृ० ४१८

(ख) 'अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्'—लोचन २।४ पृ० ३८९

४. 'तदपेशलम्। सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्।'—का० प्र० प्रदीप टीका, पृ० ९१

वस्तुतः स्थायी रस नहीं है, अपितु अनुकार्यरामादिगत स्थायी का अनुकरण, जिसकी प्रतीति सामाजिक को अनुकर्तृगतरूपेण होती है, रस है। इस प्रकार स्थायी और रस तत्त्वतः एक न होकर भिन्न हैं. स्थायी वास्तविक है और रस उस स्थायी का अनुकरणमात्र और उस अनुकरणत्व के कारण ही वह अनुकृत स्थायी 'रस' इस भिन्न संज्ञा से व्यपदिष्ट होता है।[1] जैसा कि उक्त विवेचन से ही स्पष्ट है, रस का आधार अनुकर्ता नट है, यद्यपि रस उसमें वस्तुतः नहीं रहता किन्तु नट में न रहते हुए भी रस कारणकार्य एवं सहकारिभूत विभावानुभावव्यभिचारिरूप लिङ्गों के द्वारा सामाजिक को नट में स्थित-सा प्रतीत होता है। ये विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी प्रयत्नार्जित होने के कारण कृत्रिम होते हैं किन्तु दर्शक को ये कृत्रिम न प्रतीत होकर वास्तविक ही प्रतीत होते हैं। अतः कृत्रिम लिङ्ग से प्रतीयमान लिङ्गी (रस) भी कृत्रिम ही होगा, वास्तविक नहीं। पर लिङ्ग की कृत्रिमता की भाँति ही लिङ्गी की कृत्रिमता का भी आभास सामाजिक को नहीं होता है और वह यही समझता है कि अनुकर्ता नट में रस विद्यमान है।[2] इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रस कभी वाच्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत वह सदैव गम्य, प्रतीयमान अथवा अनुमेय ही रहता है। रस-प्रक्रिया के अन्तर्गत विभाव तो काव्य द्वारा उपस्थापित होते हैं, अनुभाव नट द्वारा शिक्षा और अभ्यासवश तथा व्यभिचारी नट के कृत्रिम अनुभावों के अर्जनवश उपस्थित होते हैं किन्तु स्थायी का अनुसन्धान काव्य के बल पर भी सम्भव नहीं। काव्य में प्रयुक्त रतिशोक आदि शब्द अभिधा शक्ति द्वारा रत्यादिक भावों का बोधमात्र करा सकते हैं, उसकी उस रूप की अवगति अथवा अनुभूति नहीं करा सकते, जैसी कि वाचिक एवं अङ्गिक आदि अभिनयों के द्वारा होती है[3] और शब्द या वाग् तथा वाचिक अभिनय एक ही हों ऐसी बात भी नहीं है। 'वाक्' के द्वारा सम्पन्न होने वाला अभिनय वाचिक कहा जायगा जैसे कि अङ्गों, के द्वारा सम्पन्न होने वाला अभिनय आङ्गिक कहलाता है और अङ्ग से सर्वथा भिन्न होता है।[4] इस प्रकार --

विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।
बाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते।।

तथा

---

१. 'अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।'—अभि० भा०, पृ० ४४६

२. 'तस्मात् हेतुभिः विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः।'—वही पृ० ४४६

३. 'विभावाः काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। रतिः शोकः इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति।'—वही, पृ० ४४६

४. 'न हि वागेव वाचिकमपितु तया निर्वृतम्। अङ्गैरिवाङ्गिकम्।'—वही, पृ० ४४७

शोकेन कृतस्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः
हृदयस्फुटनभयार्तैरक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः

इत्यादि पद्यों में शोक क्रोधादिक अभिनेय नहीं हैं, केवल अभिधेय हैं[1] अतश्च वे रस भी नहीं हैं, क्योंकि पाठक को या दर्शक को उनसे उन उन भावों का बोध मात्र होता है, उनकी अनुभूति नहीं होती। इसके विपरीत—

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादिव मे वपुषि॥ (रत्नावली २-११)

पद्य में शब्द-समूह तो स्वार्थ का उपस्थापन (अभिधान) करते हैं पर साथ ही उदयनगत सुखस्वरूप रतिस्थायिभाव भी अभिनीत हो रहा है और यह अभिनयन जो कि अवगमन रूप हुआ करता है, वाचकत्व से सर्वथा भिन्न होता है।[2] इस प्रकार स्थायिभाव की प्रतीति सर्वथा गम्य होती है और उसकी उपस्थिति अभिनय द्वारा ही सम्भव है जो अनुकरणात्मक होता है, शब्द द्वारा नहीं और उसकी गम्यमानता के कारण ही सूत्र में स्थायिपद का भिन्न विभक्ति में भी उल्लेख नहीं हुआ है।[3] (अतः भट्टलोल्लट की यह व्याख्या 'विभावादिभिः संयोगो अर्थात् स्थायिनः' उचित नहीं) इस प्रकार अनुक्रियमाण रति की शृङ्गार संज्ञा हुई अतः 'रति स्थायी ही शृङ्गार है' अथवा 'रतिस्थायिभाव से शृङ्गार रस उत्पन्न होता है' इस प्रकार की उक्ति ठीक नहीं।[4]

इस प्रकार श्री शङ्कुक के अनुसार नटगतत्वेन प्रतीयमान किन्तु वस्तुतः उसमें असत् अनुक्रियमाण रत्यादिक स्थायी ही सामाजिकों की वासना द्वारा चर्व्यमाण होता हुआ रस कहलाता है।[5] अब स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार की अनुमिति से दर्शक सामाजिक को भला आनन्दलाभ क्योंकर हो सकता है? क्योंकि चमत्कार अथवा आनन्द तो प्रत्यक्षानुभूतिजन्य है। अनुमितिजन्य ज्ञान परोक्ष होता है फिर यदि 'अनुमेयवस्तुसौन्दर्यबलात्' तथा 'रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानवैलक्षण्यात्' उस अनुमिति को साधारण अनुमिति से भिन्न मानते हुए आनन्ददायक स्वीकार कर भी लें तो भी यह शङ्का उठती ही है कि सामाजिक द्वारा नटगतरूपेण रत्यादि की अनुमिति वस्तुतः भ्रान्ति है तो इस भ्रान्ति से आनन्दलाभ कैसे हो सकता है? इस शङ्का का समाधान श्रीशङ्कुक के पास यह है कि मिथ्या ज्ञान से भी लोक में फलप्राप्ति होती देखी जाती

---

१. वही, पृ० ४४७
२. 'इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायिभावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या···।'—वही, पृ० ४४८
३. 'अतएव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्'—वही, पृ० ४४८
४. तेन 'रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गारः' इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्?—वही, पृ० ४४८
५. ···'विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तु सौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।'
—काव्य प्रकाश, पृ० ७०

है, मणिप्रभा को ही भ्रान्तिवश मणि मानकर तत्प्राप्त्यर्थ प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को मणिलाभ होता ही है।[1] इसी प्रकार रत्नादिक के अनुकरण को रत्यादि मानकर प्रवृत्त होने वाले सहृदय को भ वास्तविक रत्यादिक के फलभूत आनन्द की प्राप्ति हो जाती है हाँ इतना अवश्य है कि उस भ्रान्ति को संवादी होना चाहिए, विसंवादी नहीं, क्योंकि दीपप्रभा को यदि मणि समझकर कोई व्यक्ति मणिलाभ के लिए प्रवृत्त होता है तो उसे तो मणि की प्राप्ति नहीं होगी इसलिए कि इस व्यक्ति की भ्रान्ति विसंवादी भ्रान्ति है जबकि मणि-लाभ होने वाले व्यक्ति की भ्रान्ति संवादी भ्रान्ति थी। इसी प्रकार सामाजिक द्वारा नट में रत्यादिक की अनुभूति यद्यपि भ्रान्ति है पर संवादी होने के कारण इससे वास्तविक रत्यादिक के फलभूत आनन्द की प्राप्ति होगी ही।

वस्तुतः उपर्युक्त शङ्का का उपरिनिर्दिष्ट समाधान तो वे तुष्यद्दुर्जनन्यायेन प्रस्तुत करते हैं, इसलिए कि उनकी दृष्टि में सामाजिक द्वारा नटगतत्वेन रत्यादिक की अनुमिति भ्रान्ति की कोटि में आती ही नहीं। उनके अनुसार तो नट की रामरूपेण प्रतीति चित्रतुरगादिन्यायेन सम्यक् मिथ्या संशय एवं सादृश्य इन चारों ही प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है।[2]

शङ्कुक द्वारा प्रतिपादित इस उपपत्ति में अधोलिखित तथ्य अवधेय हैं :—

रस स्थायी नहीं, अपितु उसका अनुकरणमात्र है। उस अनुकृत स्थायी का आधार नट है अर्थात् सामाजिक को नटगतत्वेन अनुकृतस्थायी अथवा रस की प्रतीति होती है, पर वस्तुतः वह रस नट में भी नहीं रहता, उसकी प्रतीतिमात्र सहृदय को होती है। विभावादिक उस रस के गमक हेतु हैं और वह रस सर्वथा गम्य ही होता है, अतः वह कभी भी शब्द की अभिधान-शक्ति का विषय नहीं बन सकता। यद्यपि गम्य रस नट में वस्तुतः नहीं रहता, अतः सामाजिक की इस प्रकार की धारणा कि 'यह नट सीतादिविषयक रत्यादिभाव से युक्त है' यद्यपि भ्रान्ति है तो भी संवादी भ्रम होने के कारण उससे रस के फलभूत आनन्द की प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। और वस्तुतः नट की रामरूपेण होने वाली सामाजिक की प्रतीति भ्रान्ति है ही नहीं, वह तो चित्र-तुरगन्यायेन सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन चारों ही प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है।

---

१. अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—
मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपिविशेषोऽर्थक्रियां प्रति।' इति। अभि० भा०, पृ० ४४९

२. 'न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः असावय-मिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥' वही पृ० ४४९-५०

श्री शङ्कुक की यह उपपत्ति भी आलोचकों के तर्क की कसौटी पर खरी न उतर सकी। इस उपपत्ति में जो मौलिक दोष है वह यह कि वस्तुतः प्रत्यक्ष अनुभूति ही आनन्दजनक और चमत्कारकारिणी होती है। इस लोकानुभूति के विपरीत यहाँ पर अनुमिति को चमत्कारजनक बताया गया है, जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है।[१] अभिनवगुप्तपादाचार्य की तो धारणा है कि शङ्कुक के रसानुमितिवाद में जिस पदार्थ की अनुमिति होती है, वह तत्त्व रस न होकर स्थायीमात्र है और यदि हम अनुकृत अतः वस्तुतः असत् रत्यादिक की अनुमिति को रस मान सकते हैं तो लौकिक रत्यादि भावों (जो कि वस्तुतः सत् हैं) की अनुमिति के रसत्व को भला क्योंकर अस्वीकार कर सकते हैं, उन्हें भी हमें रस मानना पड़ेगा ही। अब यदि शङ्कुक के अनुयायी यह शङ्का करें कि स्वयं भरत ने 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इत्यादिक स्थलों में स्थायी के रसत्व का प्रतिपादन कैसे किया तो उसका समाधान अभिनवगुप्त के पास यह है कि केवल औचित्यवश ऐसा कहते हैं कि 'स्थायी रस हो गया है' और वह औचित्य यों है कि (लोक में) तत्तद् स्थायी के जो कारणकार्य और सहकारी होते हैं वे ही (रस-चर्वणा के प्रसङ्ग में) चवर्णोपयोगी होने के कारण विभावादिक का अवलम्बन लेते हैं। अतः ऐसा कहते हैं कि विभावादिक के संयोग से स्थायी भाव रस बन गया है।[२]

३. भट्टनायक का भुक्तिवाद

व्यञ्जना-विरोधी आचार्य होने के कारण रस के प्रसङ्ग में भट्टनायक को उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद के साथ-साथ रसाभिव्यक्तिवाद भी स्वीकार्य नहीं है। फलस्वरूप रसविषयक अपनी उपपत्ति को वे उपर्युक्त तीनों वादों के खण्डनपूर्वक प्रस्तुत करते हैं। अतः 'प्रतीति' और 'उत्पत्ति' दोनों शब्दों का एक तात्पर्य निकालते हुए दोनों का ही सम्बन्ध केवल भट्टलोल्लट के मत के साथ जोड़ना भ्रामक है।[३] वस्तुतः रस की प्रतीति से आचार्य का तात्पर्य है रसानुमिति से।[४]

---

१. 'एतदप्यहृदयग्राह्यं यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिः इति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथाकल्पने मानाभावः'—प्रदीप टीका पृ० ९४

२. 'न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत—'स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते इति। एवं हि लौकिकोऽपि किं न रसः। असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या। न रसः। अतएव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूतः' इति। औचित्यन्तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानाम् अधुना चर्वणोपयोगितया विभावत्वावलम्बनात्। तदा हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मारसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव'—अभि० भा०, पृ० ४८५

३. 'प्रतीति' तथा उत्पत्ति का फलितार्थ प्रायः समान ही है और उनका सम्बन्ध लोल्लट के मत से है।' 'रस सिद्धान्त'—डा० नगेन्द्र, पृ० १६४

४. भट्टनायकस्तु न तावन्नटगतत्वेन न रामगतत्वेनानुमीयते, न चोत्पद्यते न सामाजिकगतत्वेन च व्यज्यते।'···प्रदीप टीका, पृ० ९५

रस-मीमांसा के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के व्यक्तियों पर दृष्टि जाती है—

(१) अनुकार्य रामादिक

(२) अनुकर्ता नट इत्यादि तथा

(३) सामाजिक

चूँकि नाटक की योजना सामाजिक के लिए की जाती है, इसलिए नाट्य-जन्य फल—रस की दृष्टि से अनुकर्ता तथा अनुकार्य दोनों ही तटस्थ की कोटि में आते हैं और सामाजिक की स्थिति इसके विपरीत है। भट्टनायक का कथन है कि अनुकार्य, अनुकर्ता (तटस्थ) तथा सामाजिक इन तीनों में से किसी की भी दृष्टि से रस की अनुमिति, उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती।[1] नाट्य से तटस्थ रूप से सम्बद्ध अनुकार्य अथवा अनुकर्ता में तो रस की प्रतीति (अनुमिति), उत्पत्ति और अभिव्यक्ति को स्वीकार करने में अड़चन यह है कि रस की अनुभूति तो वस्तुतः सामाजिक को होनी चाहिए। यदि सामाजिक को रसानुभूति न होकर नट आदि किसी अन्य को होती है तो उससे भला सामाजिक को चमत्कार-लाभ कैसे हो सकता है।[2] तब तो वह रस की दृष्टि से तटस्थ हो गया।[3] रामादिक मूल पुरुषों में रस की प्रतीति इसलिए भी नहीं मान सकते कि जब वे इस समय उपस्थित ही नहीं हैं तो उनकी रत्यादिक का अनुमान कैसे सम्भव है?[4] उनमें रस की उत्पत्ति भी इसलिए नहीं मान सकते कि तब तो वह रस राम का अपना होगा, अतश्च सुखदुःखमोहमय होगा, उससे सामाजिक को कुछ भी आनन्द नहीं मिलेगा और यदि उनमें रस की अभिव्यक्ति स्वीकार करने हैं तो अभिव्यक्ति तो केवल सिद्ध पदार्थों की होती है, इसके विपरीत रस सिद्ध नहीं है तो फिर रस की अभिव्यक्ति रामादिक अनुकार्य में कैसे स्वीकार की जा सकती है?[5]

इसी प्रकार नट में भी रस की अनुमिति स्वीकार नहीं की जा सकती इसलिए कि जिन विभावादिकों को हेतु मानकर सामाजिक नट में रत्यादिक का अनुमान करेगा वे असत् हैं अतः उनसे गम्य रति भी असत् ही होगी। फिर मूल राम की रति का नट में झूठा अनुमान करके सामाजिक चमत्कृत कैसे हो सकता है। नट में रस की उत्पत्ति भी नहीं मान सकते, क्योंकि वस्तुतः उसमें रत्यादिक भाव हैं ही नहीं। और रसाभिव्यक्ति जिस प्रकार अनुकार्य में सदोष है उसी प्रकार नट में भी है। इस प्रकार परगतत्वेन रस की अनुमिति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति की सिद्धि नहीं होती। अब स्वगतत्वेन इसकी अनुमिति इत्यादि पर विचार किया जाय—

राम इत्यादि के चरित से युक्त काव्य से स्वगतरूपेण भी रस की प्रतीति मान्य

---

१. 'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते'—हि० का० प्र०, पृ० ७२

२. 'आद्यपक्षयोरुक्तदोषात्। अन्यगतेनान्येषां चमत्काराभावाच्च, प्रदीप पृ० ९५

३. 'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्'—लोचन २।४

४. 'अतएव न रामगतत्वेन। तेषामसन्निहितत्वाच्च।—उद्योत, पृ० ९५

५. 'अन्त्ये सिद्धस्यैव व्यङ्ग्यत्वाद्रसस्य चासिद्धत्वात्।'—प्रदीप, पृ० ९५

नहीं हो सकती, इसलिए कि रस-प्रतीति का अन्ततोगत्वा अर्थ हुआ सामाजिक के अपने हृदय में रस की उत्पत्ति जो कि ठीक नहीं। इसलिए कि सीता सामाजिक के प्रति विभाव हैं ही नहीं। अतः वह सामाजिक में रत्यादि भाव कैसे उत्पन्न कर सकती हैं।[१] उत्तर दिया जा सकता है कि सीता के व्यक्तित्व अंश के परिहार हो जाने से सामान्यरूप कान्तात्व की प्रतीति होने के कारण सामाजिकों में रसोद्बोध हो जायगा, किन्तु यह भी सङ्गत नहीं, इसलिए कि देवता इत्यादिक पूज्य जनों के प्रति कान्ता बुद्धि हो ही नहीं सकती।[२] यह भी नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक को अपनी प्रिया की स्मृति हो आती है। अतः रसोद्बोध हो ही जायगा, क्योंकि तब चित्त की तन्मयता कहाँ रही ?[३] और लौकिक कार्यों के विषय में तो सामान्यबुद्धि मान भी लें तो भी अलौकिक कार्यों के विषय में क्या कहा जायेगा ? समुद्र पर पुल बाँधना, हनुमान का समुद्रलङ्घन आदि कार्य ऐसे हैं जिन्हें अपनी शक्ति से सम्पन्न करने की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता। ऐसी दशा में वे कार्य सामाजिक के उत्साह के उद्बोधक कैसे हो सकते हैं ?[४] यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाट्य प्रयोग देखकर प्रेक्षक को उत्साह इत्यादि से युक्त राम का स्मरण हो आता है और वही रसास्वादन में कारण बन जाता है इसलिए की स्मृति भी पूर्वानुभूत वस्तु की ही सम्भव है। सामाजिक ने जिन रामादिक को कभी देखा ही नहीं है, उनका स्मरण वह कैसे कर सकता है ?[५] यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द द्वारा रामादिक के उत्साह इत्यादि के प्रतीत होने पर सामाजिक को रसास्वाद हो जायगा। जब लोक में दो प्रेमियों को साक्षात् देखकर भी हम उनके रत्यादिक का आस्वाद नहीं ले पाते तो यहाँ तो रामादिक के उत्साहादि का ज्ञान तो परोक्ष है, उससे चमत्कार भला कैसे हो सकता है।[६] इसी प्रकार स्वगतत्वेन रस की उत्पत्ति भी नही मानी जा सकती इसलिए कि नायक-नायिका के शोक से अपने में करुण-रस की उत्पत्ति के फलस्वरूप प्रेक्षक दुःखी होगा, फलतः करुणरसयुक्त नाटक के देखने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए जो कि अनुभव-विरुद्ध है।[७] तटस्थ की भाँति ही सहृदयगतत्वेन भी रस की

---

१. 'न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्।'—लोचन २।४, पृ० ३८३

२. 'कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत् देवता[वर्]णनादौ तदपि कथम्'—लोचन २।४, पृ० ३८३।

३. 'न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते।'—वही, २।४, पृ० ३८३

४. 'अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः'—वही २।४, पृ० ३८३

५. न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते अननुभूतत्वात्'—वही २।४, पृ० ३८३

६. 'शब्दादपितत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ।'- वही २।४ ,पृ० ३८३

७ 'उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादात् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि…' वही २।४, पृ० ३८३

अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती, इसलिए कि वासनारूपेण पूर्वतः विद्यमान रस की अभिव्यक्ति मानने पर विभावादिक अभिव्यञ्जक कारणों के न्यूनाधिक्य से रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य स्वीकार करना पड़ेगा। फलस्वरूप रसप्रतीति की विविध मात्राएँ होनी चाहिए।[1] किन्तु अभिव्यक्तिवादी भी रसप्रतीति में तारतम्य नहीं मानते अपितु उसे अखण्ड आनन्द रूप में ही अभिव्यक्त मानते हैं।

काव्य एवं शास्त्र दोनों ही शब्दरूप होते हैं तो भी काव्य के शब्द शास्त्र के शब्दों से विलक्षण होते हैं और उस वैलक्षण्य का हेतु है—काव्यगत शब्दों का अभिधायकत्व, भावकत्व तथा भोजकत्व नामक तीन व्यापारों से सम्बद्ध होना।[2] इनमें से अभिधा का पर्यवसान वाच्यार्थ में होता है, भावकत्व व्यापार का सम्बन्ध रस से है तथा भोजकत्व का सम्बन्ध सहृदयों से है।[3] काव्यगत एवं नाट्यगत अभिधा को शुद्ध अभिधा नहीं मान सकते, इसलिए कि तब तन्त्र इत्यादिक शास्त्रनियमों में तथा श्लेष अलङ्कार में भेद ही क्या रहेगा?[4] शास्त्रों के अन्तर्गत तन्त्र इत्यादिक भी अनेक अर्थों के बोधक होते हैं। अतः काव्य में हम जहाँ श्लेष को स्वीकार करते हैं वहाँ तन्त्र इत्यादिक से कार्य हो जाने से श्लेष की मान्यता व्यर्थ सिद्ध होती है। किन्तु काव्यगत शब्द का शास्त्रगत शब्दों से भेदक तत्त्व ही है काव्यगत अभिधा का भावकत्व एवं भोजकत्व नामक व्यापारों के साथ संसर्ग। इसी प्रकार केवल अभिधा को स्वीकार करने से वाच्यार्थ-ग्रहण उसी से सम्पन्न हो जाने के कारण काव्य में उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों की कल्पना भी व्यर्थ सिद्ध होगी तथा श्रुतिदुष्ट इत्यादिक दोषों का निराकरण भी व्यर्थ सिद्ध होगा।[5] इसलिए कि उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों तथा श्रुतिदुष्टादिक दोषों की कल्पना तो रस-सापेक्ष है और इस रस का सम्बन्ध भावकत्व और भोजकत्व नामक व्यापारों से है, अभिधा से नहीं। अतः काव्य के अन्तर्गत अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की स्वीकृति अपरिहार्य हो जाती है। रस की भावना अथवा साधरणीकरण करने वाला नाट्य एवं काव्यगत शब्दों का भावकत्व नामक यह द्वितीय व्यापार ही वह वृत्ति है, जिसके कारण काव्य एवं नाट्य का अभिधेयार्थ शास्त्रों के अभिधेयार्थ से विलक्षण हो जाता है।[6] दोषाभाव एवं गुणालङ्कार के सद्भाव से युक्त काव्य में तथा चतुर्विध अभिनय से युक्त नाट्य में यह भावकत्व व्यापार विभावादिकों के व्यक्तितत्व अंश को दूर कर उनका साधारणीकरण कर देता है। इस प्रकार इस वृत्ति के प्रभाव से सीता इत्यादि का विशिष्ट व्यक्तित्व अंश समाप्त हो जाता है एवं वे एक साधारण स्नेह-पात्र के रूप में परिणत हो

१. 'शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्।' —वही पृ० ३८४
२. 'किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्—वही, पृ० ३८४
३. 'तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्। भावकत्वं रसादिविषयम्। भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंशभूताः व्यापाराः।' वही, २१४ पृ० ३८४
४. तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः।'—वही, २१४, पृ० ३८४
५. 'वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्।'—वही, २१४
६. 'तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः यद्वशादभिधा विलक्षणैव।'—वही २१४

जाती हैं। रामादि आश्रय के अनुभाव तथा सञ्चारी भाव भी आश्रय-विशेष के सम्बन्ध से रहित होकर सर्वसाधारण के से प्रतीत होते हैं, जिसके कारण उनके साथ सहृदय का स्वपर सम्बन्ध नहीं समझ पड़ता। इतना ही नहीं, उस वृत्ति के प्रभाव से स्वयं प्रेक्षक का भी राग-द्वेष-जन्य अज्ञान दूर हो जाता है और वे राग-द्वेष की सङ्कीर्ण भावना से मुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार उनका भी व्यक्तित्व अंश विगलित हो जाता है और उसके अपने रत्यादिक भाव उसके स्वसम्बन्ध से मुक्त होकर जनसाधारण के भाव के रूप में उपस्थित होते हैं। भावकत्व वृत्ति द्वारा रस की भावना का यही तात्पर्य है।[1] अन्ततः सहृदयगत स्थायीभाव इस भावात्मक वृत्ति के द्वारा साधारणीकृत होकर रसरूपेण परिणत हो जाता है।[2]

इस प्रकार भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने पर भोग नामक काव्य, नाट्य के तृतीय व्यापार द्वारा, जिसका सम्बन्ध सहृदय से होता है, उस साधारणीकृत रस का भोग होता है। यह भोग अनुभव इत्यादिक प्रत्यक्ष-प्रतीति तथा स्मृत्यादिक परोक्ष-प्रतीतियों से विलक्षण होता है साथ ही चित्त को द्रुत, विस्तर और विकसित करने वाला होता है तथा रजस् एवं तमस् गुणों के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्त्व के उद्रेक से युक्त अपने चित्स्वभावरूप लोकोत्तर आनन्द में विश्रान्ति करने वाला होता है। इस प्रकार यह भोग की स्थिति ब्रह्मानन्द के समकक्ष होती है।[3] सिद्धस्वरूप वाला यह आत्मवाद ही काव्य एव नाट्य का प्रधानफल है, व्युत्पत्ति गौण फल है।[4]

भट्टनायक के इस भुक्तिवाद में अधोलिखित तथ्य अवधेय हैं—

काव्य शास्त्र से विलक्षण होता है, इसलिए कि जहाँ शास्त्रों में केवल शुद्ध अभिधा का अस्तित्व है, काव्य में अभिधा के साथ-साथ भावकत्व और भोजकत्व नामक दो और व्यापारों का अस्तित्व पाया जाता है। अभिधा का सम्बन्ध वाच्यार्थमात्र से है, भावना का रस से तथा भोजकत्व का सहृदय से। काव्य एवं नाट्यगत शब्दों का यह भावकत्व नामक व्यापार विभावादित्रय के साथ-साथ सहृदय के रत्यादिक की भी भावना (साधारणीकरण) कर देता है। फलस्वरूप वे सभी स्वपरबन्धन से मुक्त होकर सर्वसाधारण के से

१. (क) 'तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो...।'—अभि० भा०, पृ० ४६४-४६५।

(ख) 'तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम।'—लोचन २।४, पृ० ३८७

२. 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः।' —का० प्र०, पृ० ७२।

३. 'भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः' —लोचन २।४। पृ० ३८७ ...याः विभावादि

४. 'स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधान... पृ० ३८७

प्रतीत होते हैं, विभावादिक का यह साधारणीकरण काव्यगत दोषाभाव एवं अलङ्कार तथा नाट्यगत अभिनय के कारण होता है। सहृदय के रत्यादिक स्थायी ही भावकत्व व्यापार द्वारा भावित होकर रस बन जाते हैं। भावकत्व द्वारा भावित इस रस का भोग सहृदयगत शब्द के तृतीय व्यापार भोजकत्व द्वारा सम्पन्न होता है और भुक्ति का स्वरूप है—सहृदय में रजस् और तमस् के अभिभवपूर्वक सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न प्रकाशरूप आनन्दमयी चेतना या अनुभूति की स्थिति अर्थात् 'रस भुक्त होता है' इस कथन का अर्थ है उस साधारणीकृत रत्यादिभाव का सत्त्वविशिष्ट प्रकाशमयी आनन्दात्मक चेतना या अनुभूति में परिणति। रस आस्वाद्यरूप है, आस्वादरूप नहीं।

इस प्रकार भट्टनायक की दृष्टि में रस-सूत्र में प्रयुक्त निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावना एवं संयोग का अर्थ हुआ भाव्य-भावक सम्बन्ध, जिसके अन्तर्गत रस भाव्य हुआ एवं काव्य अर्थात् काव्यगत विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव भावक हुए। इस प्रकार रस की विभावानुभावव्यभिचारियों के साथ भाव्य-भावक सम्बन्ध के माध्यम से रस की भावना होती है।

संस्कृत समालोचना-शास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त के विकास को भट्टनायक की सबसे बड़ी देन है—साधारणीकरण का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के फलस्वरूप रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक असङ्गतियों का निराकरण हुआ। नट द्वारा प्रस्तुत अनुकार्य के चरित से सामाजिक को आनन्द-लाभ क्यों होता है? इस प्रश्न का प्रथम बार सन्तोषजनक उत्तर भट्टनायक ही दे सके, फलस्वरूप उनकी इस मान्यता को उनके प्रतिपक्षी अभिनवगुप्त ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। सामाजिक के अपने रत्यादिक भाव साधारणीकृत होकर रस कहलाते हैं। भट्टनायक की इस मान्यता के फलस्वरूप सामाजिक का नाट्य एवं काव्य से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो सका और अब वह एक तटस्थ प्रेक्षकमात्र न रहकर नाट्य एवं काव्य के अभिन्न अङ्ग के रूप में सामने आता है। साथ ही रस की आनन्दरूपता के दार्शनिक विश्लेषण द्वारा भट्टनायक ने परोक्षरूप से करुणादिक रसों की आनन्दरूपता के हेतु का भी प्रतिपादन किया।

इस मत के विरुद्ध भी रसाभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त को अनेक आपत्तियाँ हैं। भट्टनायक का यह कथन कि रस न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है, अभिनव के अनुसार मान्य नहीं हो सकता, इसलिए कि संसार की समस्त वस्तुओं की दो ही कोटियाँ होती हैं—या तो वह असत् होगा या फिर सत् होगा। तीसरी कोई कोटि है नहीं। ऐसी दशा में रस भी या तो सत् होगा या असत् होगा। यदि रस सत् है तो उसकी अभिव्यक्ति अवश्यम्भावी है, यदि रस असत् है तो उसकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। अतः भट्टनायक का उक्त कथन ठीक नहीं।[1]

किन्तु इस मत का जो सबसे बड़ा दोष है वह है भावकत्व एवं भोजकत्व नामक दो अवान्तर एवं अप्रामाणिक व्यापारों की कल्पना।[2] अभिनव के अनुसार इन दो पृथक्

४.

भेदः।'—[illegible]भिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिः

५. 'वृत्तिभेदवैचित्र्य चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्':—हि० अभि० भा०, पृ० ४६६

६. 'तेन रसभावना सम्यक्। एतादृशव्यापारद्वयकल्पने प्रमाणाभावात्'—प्रदीप टीका, पृ०८६

वृत्तियों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, वस्तुतः ये दोनों ही व्यापार ध्वननव्यापार के अन्तर्गत आ जाते हैं।[1]

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

रसाभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक ने जो रस-प्रतीति का विरोध किया है, वह ठीक नहीं इसलिए कि स्वगतत्वेन रस की प्रतीति मानने पर रसोत्पत्ति के समकक्ष हो जाने के कारण भले ही वह सदोष मान लिया जाय पर वस्तुस्थिति तो यह है कि हर पक्ष और हर वाद में रस की प्रतीति अपरिहार्य है। रस को प्रतीति का विषय न मानने पर तो प्रतीति के विषय न बनने वाले पिशाचादिक की भाँति ही रस की सत्ता भी सन्दिग्ध हो जायगी। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इस रस-प्रतीति का स्वरूप अन्य प्रात्यक्षिक, आनुमानिक इत्यादि लौकिक प्रतीतियों के स्वरूप से भिन्न है। लोक में भी 'प्रतीति' के नाते एक रूप होने पर भी प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, शाब्द, प्रतिभाजन्य तथा योगिप्रत्यक्षजन्य प्रतीतियाँ उपायभेद के कारण भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होती हुई एक-दूसरे से विलक्षण मानी जाती हैं, उसी प्रकार विभावादि रूप उपाय-भेद के आधार पर चर्वणा, आस्वाद और भोग पर्यायों वाली यह रस-प्रतीति भी उन समस्त लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण—अलौकिक—मानी जानी चाहिए इसलिए कि हृदयसंवाद आदि के द्वारा उपकृत जो विभावादिक इस रस के प्रतीति में उपायभूत हैं, वे अलौकिक हैं।[2]

भट्टनायक का रसाभिव्यक्तिवाद के प्रति यह आक्षेप कि 'रस की अभिव्यक्ति मानने पर रस को सिद्धरूप मानना पड़ेगा' उचित नहीं इसलिए कि अभिव्यक्तिवाद के अन्तर्गत रस वस्तुतः अपनी प्रतीति से अभिन्न है, रस और प्रतीति का तादात्म्य-सम्बन्ध है फिर भी 'रसाः प्रतीयन्ते' ऐसा जो व्यवहार में कहा जाता है, उसे 'ओदनं पचति' प्रयोग के रूप में ही समझना चाहिए। जिस प्रकार पाचन क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला पदार्थ ओदन है, किन्तु व्यवहार में कहते हैं—'ओदनं पचति' पच् क्रिया का कर्म तो वस्तुतः तण्डुल या चावल है, जिसकी परिपक्वावस्था है ओदन या भात किन्तु

---

१. 'तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति इति त्र्यंशायमपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते अपितु घनमोहान्ध्यसङ्कटता-निवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्' ध्वन्यालोक लोचन २।४ पृ० ३६७।

२. 'एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादिविकल्पेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूतायाः हृदयसंवादाद्युपकृतायाः विभावादि सामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्।'—वही २।४, पृ० ३६३

तण्डुलों की उस परिपक्वावस्था का तण्डुलों पर आरोप करके लोग कहते हैं 'ओदनं पचति'। इसी प्रकार प्रतीयमान जो है वही रस है, रस प्रतीति से भिन्न कुछ नहीं है, प्रतीति ही स्वयं रस है, किन्तु लोक में उसका प्रतीति के विषय अथवा कर्म के रूप में प्रयोग करते हैं। वह प्रतीति ही विशिष्ट आस्वादनरूप है और यद्यपि नाट्य में यह प्रतीति लौकिक अनुमानप्रतीति को सामने रख कर ही प्रवृत्त होती है तथा काव्य के अन्तर्गत इस प्रतीति के लिए लौकिक शाब्दी प्रतीति की पूर्वानुभूति अपेक्षित होती है तो भी यह प्रतीति लौकिक अनुमान तथा शाब्दी प्रतीतियों से विलक्षण होती है।[1]

रस की स्वगतत्वेन प्रतीति के खण्डन के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने जो यह कहा है कि 'रामादिक लोकोत्तर पुरुषों के लोकातीत कार्यों के साथ सहृदय का हृदय-संवाद नहीं हो सकता' उनकी महती धृष्टता है। रामादिक के लोकोत्तर चरित्र के साथ सहृदय का हृदय-संवाद सर्वथा हो सकता है, इसलिए कि मानव-चित्त चित्र-विचित्र वासनाओं का अधिष्ठान है। ये वासनाएँ जन्म एवं काल के व्यवधान के बावजूद भी बनी रहती हैं, नष्ट नहीं होतीं, क्योंकि स्मृति एवं संस्कार एकरूप होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि आदिभूत जन्म में ये वासनाएँ कहाँ से आयीं। उत्तर है कि 'ये वासनायें अनादि होती हैं, क्योंकि महामोहपूर्ण कामनाएँ नित्य होती हैं। 'सदैव सुख की प्राप्ति हो' इस प्रकार के जीवगत-सङ्कल्प ही वासनाओं के कारण होते हैं और चूँकि कारणभूत ये सङ्कल्प नित्य हैं, अतः इनकी कार्यभूत वासनायें भी नित्य हुई।[2] इस प्रकार चाहे जिस भी कार्य का अभिनय हो इन वासनाओं के बल पर सहृदय का उन सभी कार्यों के साथ हृदय-संवाद हो जायगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस की प्रतीति होती है और वह प्रतीति आस्वादन रूप होती है[3] और यह प्रतीति अभिधा से भिन्न व्यञ्जना व्यापार का विषय है। भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भोजकत्व व्यापार व्यञ्जना से भिन्न कुछ नहीं है तथा उनकी भावकत्व विषयक मान्यता सङ्गत नहीं है; इसलिए कि भू धातु से निष्पन्न इस भावकत्व को रसों का भावक मानने पर तो रसोत्पत्तिवाद ही प्रत्युज्जीवित हो जाता है।[4] अतः रस के प्रसङ्ग में भुक्तिवाद की मान्यता ठीक नहीं बैठती।

---

१. 'रसाः प्रतीयन्त इति तु ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा'—वही २।४, पृ० ३८४।

२. 'रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—''तासामनादित्वम् आशिषो नित्यत्वात्। जातिकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्'' इति।'—वही, २।४, पृ० ३८५

३. 'तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते'—वही २।४, पृ० ३८६

४ 'वाच्यवाचकयोः तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत्किञ्चित्।...काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः।'—वही, २।४, पृ० ३८६

रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में रस की जिस निष्पत्ति-विधा का प्रतिपादन अभिनव ने किया, उसका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस प्रकार वेद में वनस्पतयः 'सत्रमासत' तथा 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात्' इत्यादि प्रयोगों को सुनकर अधिकारी व्यक्ति को, व्यक्तिसम्बद्ध वाच्यार्थ से अधिक, देश-कालादि की सीमा से अनवच्छिन्न, 'इस प्रकार सत्र किया जाता है', तथा 'इस प्रकार हवन किया जाता है' इत्यादि रूपा सामान्य स्वरूप वाली तथा प्रतिभा, भावना, नियोग आदि शब्दों द्वारा अभिधेय होने वाली प्रतीति होती है और उसके बाद वह अधिकारी व्यक्ति भी उस सामान्य प्रतिपत्ति के अनुसार प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार काव्य एवं नाट्य में भी पाठक अथवा दर्शक को काव्य को पढ़कर अथवा नाट्य को देखकर सामान्य स्वरूप वाली प्रतीति होती है जो कि काव्य एवं नाट्य के वाच्यार्थ से भिन्न होती है, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक होती है तथा तदनन्तर वह पाठक या दर्शक उस सामान्य प्रतिपत्ति के अनुसार ही प्रवृत्त होता है।[१] हाँ इतना अवश्य है कि काव्य, नाट्य के वाच्यार्थ से अधिक यह प्रतिपत्ति सभी को नहीं होती, केवल विमलप्रतिभासम्पन्न जन को ही हो सकती है। अतः वे ही काव्य एवं नाट्य के प्रसङ्ग में अधिकारी हुए।[२] उदाहरणार्थ कालिदास के 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' का—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

इत्यादि पद्य पढ़कर सहृदय को पहले इसका वाच्यार्थ मात्र अवगत होता है। तदन्तर उसे साक्षात्कारात्मिका मानस प्रतीति होती है जो इस वाक्य में वर्णित व्यक्ति देशकालादि की सीमा से रहित होने के कारण सामान्य स्वरूप वाली होती है।[३] इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में जिस मृगशावक का बोध होता है, उसके विशेषरूप का परिहार हो जाने के साथ-साथ त्रासक दुष्यन्त के भी वास्तविक न होने के कारण 'भीतिग्रस्त' है इस रूप में व्यक्ति, देश, काल आदि की सीमा से अनवच्छिन्न भयमात्र की प्रतीति होती है। देशकालादि की सीमा से सीमित न होने के कारण 'मैं भीत हूँ' अथवा 'यह भीत है' इस प्रकार की भी प्रतीति नहीं होती तथा 'यह भय शत्रु का है या मित्र का है या तटस्थ

---

१. 'यथा हि 'सत्रमासत', 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमाप्रवृत्तादनन्तरमधिकैव उपात्तकालतिरस्कारेणैव 'आसे', 'प्रददानि' इत्यादिरूपा सङ्क्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभा, भावना विधि-नियोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिः तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।'—हि० अभि० भा०, पृ० ४७०

२. 'अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः'—वही, पृ० ४७०

३. 'तस्य च ग्रीवाभङ्गाभिरामम् इति···इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्यकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।'—वही, पृ० ४७०

का है' इस प्रकार की भी प्रतीति नहीं होती (प्रेक्षक या पाठक का उस प्रतीति के साथ स्वपरमध्यस्थ सम्बन्ध विगलित हो जाता है) फलस्वरूप दुःखसुखादि अन्य ज्ञानों को नियम से उत्पन्न करने वाले अतः विघ्न-बहुल प्रतीतियों की अपेक्षा यह प्रतीति विलक्षण होती है, इसलिए कि यह भय सुखदुःखादि विघ्नों से रहित प्रतीति का विषय बनता है। साधारण्य को प्राप्त हुआ अतः निर्विघ्न प्रतीति-ग्राह्य यह भयरूप स्थायि भाव ही हृदय में साक्षात् प्रवेश करता हुआ सा, आँखों में घूमता हुआ सा, भयानक रस होता है। इस प्रकार की भय-प्रतीति में सहृदय के मस्तिष्क में रस का भाव न अत्यन्त उपस्थित रहता है और न ही अत्यन्त अनुपस्थित रहता है। इसी रूप में निर्विघ्न प्रतीति के विषय बनते हुए अन्य स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।[1]

विभावादिक का यह साधारण्य परिमित नहीं होता अपितु धूम और अग्नि के अथवा भय और कम्प के व्याप्तिग्रह के समान सार्वत्रिक होता है।[2] नाटक के अन्तर्गत नटादिक साधारणीकृत भावों के परिपोषक होते हैं इसलिए कि सहृदय यह जानता है कि नटादि उन भावों की साक्षात्कारात्मक प्रतीति कराने के माध्यममात्र हैं, जिसमें वस्तुतः विद्यमान तथा काव्य में वर्णित देश, काल, प्रमाता इत्यादिक नियामक हेतुओं के अत्यन्त विगलित हो जाने पर वह साधारणीभाव अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। फलस्वरूप सारे ही सामाजिकों को एकघनरूप प्रतिपत्ति होती है, जिससे रस का परिपोष होता है। इस एकघन प्रतीति का हेतु जहाँ एक ओर देशकाल प्रमातादि का साधारणीकरण है, वहीं दूसरी ओर समस्त सामाजिकों के चित् का अनादि वासनाओं से युक्त रहना भी है, जिसके फलस्वरूप उनका उन साधारणीकृत भावों के साथ एक समान हृदय-संवाद हो हो जाता है।[3] सामाजिकों की इस निर्विघ्न प्रतीति को ही चमत्कार कहते हैं और उनसे उत्पन्न रसिकगत कम्प रोमाञ्चादिक विकार भी चमत्कार ही कहलाते हैं।[4] इस

---

१. 'तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं तत एव भीतोऽहंभीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। एवंविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषतः उल्लिखितः। एवं परोऽपि।'—वही, पृ० ४७१

२. 'तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्नयोः भयकम्पयोरिव वा'—वही, पृ० ४७१

३. 'तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः, सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।'—वही, पृ० ४७१

४. 'सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादि विकारश्चमत्कारः।'—वही, पृ० ४७१

प्रकार रसनात्मक तथा निर्विघ्नप्रतीति-ग्राह्य भाव की ही रस संज्ञा है।[१] स्वसंविद् की चर्वणा ही इसका स्वरूप है तथा यह रसचर्वणा उपर्युक्त प्रकार से एकघन एवं प्रकाश रूप होने के कारण आनन्द से परिपूर्ण होती है, इसीलिए सभी रसों में ही सुख का ही प्राधान्य होता है।

लोक व्यवहार में कारणकार्य एवं सहकारिभूत लिङ्गों के आधार पर स्वगत तथा परगत रत्यादिक स्थायी रूप लिङ्गी का नित्य प्रति अनुमान के अभ्यास के कारण व्यक्ति इस प्रकार का अनुमान करने में पटु हो जाता है। काव्यानुशीलन के समय अथवा नाट्य-दर्शन के समय लिङ्गभूत वे ही उद्यान एवं प्रमदादि कारण, कटाक्ष, वीक्षणादि कार्य तथा इनके सहकारी उपस्थित होते हैं किन्तु इस समय ये कारण, कार्य तथा सहकारी लौकिक कारणत्वादि की भूमिका का अतिक्रमण करके क्रमशः विभावन, अनुभावन एवं समुपरञ्जनमात्र करने के कारण अलौकिक विभावादिक शब्दों से ही व्यपदिष्ट भी होते हैं।[२]

काव्य-पठन अथवा नाट्य-दर्शन के समय सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से सयोग अथवा एकत्रीभाव को प्राप्त हुए इन विभावादिक के द्वारा सामाजिक के अलौकिक एवं निर्विघ्न संवेदनरूप चर्वणा का विषय बनाया गया अर्थ ही रस है। सामाजिक की निर्विघ्न सवेदनात्मक चर्वणा का विषय बनने वाला यह अर्थ चर्वणारूप ही होता है, चर्व्यमाणता ही इसका सारभूत धर्म है अतः यह सिद्धस्वरूप वाला नहीं है। यह रस तात्कालिक ही है तथा चर्वणाकाल के पश्चात् रहने वाला भी नहीं है। इस प्रकार चर्व्यमाणतैकप्राण यह रस रसिक के चर्वणा के साथ आरम्भ होता है, चर्वणा-काल पर्यन्त ही रहता है तथा चर्वणा के साथ ही समाप्त हो जाता है। अतः रस सिद्धस्वभाववाले स्थायी से विलक्षण है।[३] प्रश्न हो सकता है कि 'स्थायीरसीभूतः' ऐसा फिर क्यों कहा जाता है? अभिनव का उत्तर है कि ऐसा केवल उपचारतः (औचित्यवशात्) कहते हैं। स्थायी-विशेष के कारण, कार्य एवं सहकारी ही तो रस-चर्वणा के प्रसङ्ग में विभावनादि कार्यों के कारण विभावादिक के रूप में परिणत होते हैं और विभावादिजीवितावधि रस की सत्ता इन विभावादिकों के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए उपचारतः ऐसा भी कहते हैं कि 'स्थायी रस बन गया।' वस्तुतः अलौकिक रसास्वाद तो स्मृति, अनुमान आदि

---

१. 'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भावः एव रसः'—वही, पृ० ४७३

२. 'तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरिचितवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेव उद्यानकटाक्षवीक्षणादिभिः लौकिकीं कारणत्वादिमुपतिक्रान्तैः विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः अतएवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः··· '।—वही, पृ० ४८३

३. ···'गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यक्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।'—वही, पृ० ४८३

लौकिक अनुभूतियों से विलक्षण ही है।[१] क्योंकि लौकिक अनुमान से संस्कृत सामाजिक प्रमदादिक विभावादि को तटस्थरूप से ग्रहण नहीं करता, अपितु हृदयसंवादात्मक सहृदयत्व के बल पर अखण्ड रसास्वाद के अङ्कुर रूप से तथा तन्मयीभवन के लिए उचित चर्वणाप्रवणता के द्वारा साधारणीकृतरूप में उन विभावादिक को ग्रहण करता है। इस अनुभूति में वह अनुमान स्मृति आदि का सहारा लेता ही नहीं।[२]

किसी भी प्रमाण के अभाव में रस को चर्वणा से पूर्ववर्ती भी नहीं मान सकते, अर्थात् चर्वणा के साथ ही इसका आविर्भाव होता है, अतः इसे स्मृति नहीं माना जा सकता[३] क्योंकि ज्ञातविषयक ज्ञान को स्मृति कहते हैं और रस की जब पूर्ववर्तिता ही नहीं सिद्ध होती तो ज्ञातता धर्म उसमें कहाँ से आ सकता है। इस रस-चर्वणा के प्रसङ्ग में लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी व्यापार नहीं क्रियाशील होता। यह रस-चर्वणा तो अलौकिक विभावादि के संयोग से ही प्राप्त होने वाली है।[४]

यह रसचर्वणात्मक प्रतीति लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एवं उपमान प्रमाणों से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से भिन्न प्रकार की है इसलिए वि. लौकिक प्रमाणों से होने वाला रत्याद्यवबोध ज्ञातृगत अर्जनादि (आसक्ति एवं तिरस्कार आदि) दोषों से मलिन होता है किन्तु रस की चर्वणा में तो सामाजिक विभावादि के साधारण्य से अभिव्यक्त अपने ही वासनारूपेण स्थित संस्कारों का आस्वाद करता है। अतः रसचर्वणा अर्जनादि दोषों से मुक्त होने के कारण लौकिक प्रमाणजन्य ज्ञान से भिन्न प्रकार की हुई। इसी प्रकार यह रस-प्रतीति योगी के प्रत्यक्ष से जन्य दूसरे की संवित्ति के ताटस्थ्यपूर्ण ज्ञान से भी भिन्न है, इसलिए कि जहाँ मित योगी के उस ज्ञान में ताटस्थ्य-जन्य स्फुटत्वाभाव होता है, रसानुभूति में सामाजिक का स्वात्मानुप्रवेश होने के कारण परगतत्व का नियम न होने से तटस्थता एवं तद्जन्य अस्पष्ट प्रतीति का भी अभाव होता है। समस्त विषयों के प्रति आसक्ति से रहित परम योगीगत स्वात्मानन्द के एकघनानुभव से भी यह चर्वणात्मक प्रतीति विलक्षण होती है, क्योंकि उसमें स्वात्मैकगतत्व के कारण विषयावेश से जन्य विवशता रहती है, किन्तु रस में साधारणीकरण के कारण परम योगी के उस आनन्दानुभव के समान स्वात्मगतत्व के नियम के अभाव के कारण विषयावेशजन्य विवशता भी नहीं रहती। उपर्युक्त कारणों से उपर्युक्त तीनों ही प्रकार की अनुभूतियों में

---

१. 'केवलमौचित्यादेवमुच्यते 'स्थायी रसीभूतः' इति। औचित्यन्तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणदितया प्रसिद्धानाम् अधुना चर्वणोपयोगितया विभावत्वावलम्बनात्।... तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव।' —वही, पृ० ४८५

२. 'तथाहि लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिं न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपितु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादाङ्कुरीभावेन अनुमानस्मृत्यादि-सोपानमनारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया'— वही, पृ० ४८५

३. न च सा चर्वणाप्राङ् मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्।—वही, पृ० ४८५

४. 'न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा।'—वही, पृ० ४८५

आह्लादकत्व का अभाव एवं रसानुभूति में उसका सद्भाव पाया जाता है अतः रसानुभूति उक्त सभी अनुभूतियों से विलक्षण है ।[1]

लौकिक हेतुओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कारक हेतु जैसे मिट्टी घट का कारक हेतु है तथा (२) ज्ञापक हेतु जैसे दीपक घट का ज्ञापक हेतु है। विभावादिक रस के हेतु तो हैं किन्तु वे इनमें से किसी भी श्रेणी में नहीं आते । यदि इन्हें रस का कारक हेतु मानते हैं तो जिस प्रकार अपने कारणभूत मृत्तिका के अभाव में भी कार्यभूत घट का सद्भाव देखा जाता है उसी प्रकार कारणभूत विभावादिक के समाप्त हो जाने पर भी कार्यभूत रस की सत्ता रहनी चाहिए किन्तु वह तो विभावादि-जीवितावधि है, विभावादि के समाप्त होने के पश्चात् उसकी सत्ता रहती ही नहीं अतः न तो विभावादिक रस के कारक हेतु हैं और न ही रस कार्य है ।[2] विभावादिक दीपक के समान रस के ज्ञापक हेतु भी नहीं कहे जा सकते, इसलिए कि तब रस को घट के समान ज्ञाप्य अतश्च पूर्वसिद्ध एवं प्रमेय मानना पड़ेगा किन्तु रस तो प्रमेय एवं पूर्वसिद्ध है नहीं। इसके विपरीत वह तात्कालिक है ।[3] प्रश्न हो सकता है कि तब फिर ये विभावादिक क्या हैं ? अभिनव के मत में चर्वणोपयोगी ये विभावादिक सर्वथा अलौकिक हैं ।[4] अब प्रतिपक्षी यदि यह कहे कि क्या संसार में अन्य कोई ऐसा पदार्थ देखा गया है जो न कार्य हो और न ज्ञाप्य हो ? तो अभिव्यक्तिवादी का यह कहना है कि रस का यह वैशिष्ट्य तो उसकी अलौकिकता की सिद्ध्यर्थ भूषण ही है, दूषण नहीं ।[5]

शङ्का हो सकती है कि किसी भी प्रमाण का विषय न बनने के कारण रस अप्रमेय हो जायगा ? अभिनव का समाधान है कि यही वस्तुस्थिति है। रस वास्तव में

---

१. सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते । एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्यास्फुटत्वविषयावेशवैवश्येन च सौन्दर्यविरहात् । अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेषवैवश्यम् । स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे । तद्विभावादिसाधारण्यवशसम्प्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भवः ।'—वही, पृ० ४८५-४८६ ।

२. (क) 'अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्'—वही, पृ० ४८६ ।

(ख) 'स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्'—का० प्र० पृ० ७७

३. (क) 'नापिज्ञप्तिहेतवो, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्—अभि० भा०, पृ० ४८७ ।

(ख) 'नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्'—का० प्र०, पृ० ७७

४. 'किं तर्हि तद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः'—वही, पृ० ४८७ ।

५. 'क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ' । वही, पृ० ४८७

प्रमेयों की कोटि में नहीं आता। उसका तो रस्यमानता ही प्राण है।[1] अतः उसकी स्थिति न तो आस्वाद से पूर्व है और न आस्वाद के बाद तो घट पटादि की भाँति वह प्रमेय हो भी कैसे सकता है ?

फिर रससूत्र में रस की निष्पत्ति का कथन क्यों किया गया है ? अभिनव का उत्तर है कि वह निष्पत्ति रस की नहीं, अपितु रसविषयक रसना की है। रसना अथवा चर्व्यमाणता ही रस का जीवित है, ऐसी दशा में यदि रस के जीवितभूत रसना की निष्पत्ति को उपचारतः रस की निष्पत्ति कहा जाता है तो इसमें कोई दोष नहीं है।[2]

वह रसना न तो ज्ञापक हेतु रूप प्रमाणों का व्यापार है और न कारक हेतु का व्यापार है। इतने पर भी वह अप्रामाणिक भी नहीं है, क्योंकि वह स्वानुभवसिद्ध है। यह रसना अथवा चर्वणा प्रतीतिरूप होते हुए भी अन्य लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण है और उसके इस वैलक्षण्य का कारण है उसके हेतुभूत विभावादिक की अलौकिकता।[3] अतः भरत के रससूत्र का तात्पर्य हुआ– चूंकि विभावादि के संयोग से रसना को निष्पत्ति होती है अतः इस प्रकार की रसना का विषय बनने वाले लोकोत्तर अर्थ की रस संज्ञा हुई।[4]

रससूत्र के इस विशद विवेचन का सार-संक्षेप-इस प्रकार है—

नाटक में अनुकार्य के अनुरूप नट द्वारा धारण किए गए मुकुट एवं पगड़ी इत्यादि के द्वारा सामाजिक की पहले उसके प्रति नट-बुद्धि आच्छादित हो जाती है। अनन्तर काव्य द्वारा यह बताये जाने पर भी कि यह राम है बुद्धि में स्थित अनुकार्य रामविषयक पौर्वकालिक प्रगाढ़ संस्कारों के कारण हम उस नट को अनुकार्य राम भी नहीं समझ पाते। इस प्रकार अनुकर्त्ता नट एवं अनुकार्य राम दोनों से हो सम्बद्ध देश एवं काल का बाध हो जाता है। लोक में रोमाञ्च इत्यादिक रत्यादिक भावों की प्रतीति कराते हुए देखे जाते हैं अतः काव्य, नाट्य में भी रोमाञ्च इत्यादिक को देखने पर हमें रत्यादिक का बोध होता है किन्तु चूँकि इन रत्यादिक के आलम्बनभूत नटादिक अथवा अनुकार्य रामादिक देश एवं कालगत सीमाओं से सीमित नहीं होते अतः ये रत्यादिक भाव भी देश एवं काल की सीमा से मुक्त साधारणीकृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। सामाजिक में भी इन रत्यादिक भावों के संस्कार पहले से विद्यमान

---

१. 'नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात् एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः।' — वही, पृ० ४८८

२. 'तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेयं रसस्यापितु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः।'—वही, पृ० ४८८

३. 'सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायादीनां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्।'— वही, पृ० ४८८-४८९

४. 'तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।' - वही पृ० ४८९

रहते हैं अतः उनके साथ हृदय-संवाद के कारण सामाजिक की अपनी आत्मा भी उन साधारणीकृत रत्यादिक भावों में अनुप्रविष्ट हो जाती है। फलस्वरूप (सामाजिक के आत्मानुप्रवेश के कारण) उन रत्यादिक की तटस्थता से प्रतीति नहीं होती तथा न इनका बोध सीता रामादिक निश्चित कारणों से होता है जिसके फलस्वरूप अर्जन और अभिषङ्गादि दोषों की सम्भावना हो। न ही ये भाव निश्चित रूप परगतरूपेण प्रतीत होते हैं अतः परगत रति को देखकर उत्पन्न होने वाले दुःखद्वेषादि का भी उदय नहीं होता। इस प्रकार काव्यगत विभावानुभावव्यभिचारियों के साथ-साथ सहृदय के अपने भावों एवं प्रतीतियों का साधारणीकरण हो जाने से उसका परिमित प्रमातृत्व भी विगलित हो जाता है, फलस्वरूप काव्यनाट्यगत समस्त अर्थों के प्रति सामाजिक की स्वत्वपरत्वतटस्थत्व की सीमायें टूट जाती हैं और उसकी प्रतीति भी व्यापक बन जाती है। इस प्रकार सामाजिक की सन्तानवाही अर्थात् अखण्ड तथा एकघन चर्वणात्मक संवित् का विषय बनने वाली तथा साधारणीभूत रति ही शृङ्गार है। इसी प्रकार अन्य रसों की भी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार से रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य साधारणीकरण विभावादि के द्वारा ही सम्भव होता है[1] इसलिए कि सर्वप्रथम ये विभावादि ही साधारणीकृतरूपेण सम्मुख आते हैं जिसके फलस्वरूप रत्यादि भी साधारण से प्रतीत होते हैं। इन सबके साधारणीकरण के फलस्वरूप सामाजिक की प्रतीति का भी साधारणीकरण होकर उसमें व्यापकत्व आ जाता है। इस अवस्था में ही चर्वणात्मक संवित् की निष्पत्ति होती है।

इस प्रकार अभिनव की दृष्टि में प्रमाता के चित्त में अनादि वासना के रूप में विद्यमान रत्यादिक स्थायी साधारणीकृत अलौकिक विभावादि के सम्पर्क से उद्बुद्ध होकर सामाजिक के आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से गृहीत होकर रस कहलाते हैं।[2] चूंकि पूर्वस्थित वासनाओं का विभावादि के द्वारा उद्बोध होता है और ये उद्बुद्ध वासनायें ही चर्व्यमाण होकर रस कहलाती है, अतः विभावादिक रस के व्यञ्जक हुए एवं रस व्यङ्ग्य हुआ। अतः उनके अनुसार भरत के रस-सूत्र में प्रयुक्त संयोग का अर्थ हुआ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध पर निष्पत्ति का अभिव्यक्ति अर्थ करना अभिनव-

---

१. 'अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढ़प्राक्तनसवित्संस्काराच्चकाव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अतएवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टः। अतएव न तटस्थतया रत्यवगमः न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।'—वही, पृ० ४८६

२. 'सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको…शृङ्गारादिको रसः।' —का० प्र०, पृ० ७६-७७

गुप्त के आशय के अनुकुल नहीं जान पड़ता[1] इसलिए कि अभिनव ने स्पष्ट कहा है कि निष्पत्ति रसना की होती है, रस की नहीं, सूत्र में रस की निष्पत्ति का प्रयोग औपचारिक है। अतः निष्पत्ति का अर्थ सम्पादन अधिक उपयुक्त समझ पड़ता है, क्योंकि अभिव्यक्ति यदि रसना की मानी जाती है तो रसना को घट की भाँति ही पूर्व सिद्ध मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जबकि अभिनवगुप्त ने स्वयं उस रसना को तात्कालिक प्रतिपादित किया है। अभिव्यक्ति वस्तुतः स्थायी की होती है किन्तु कारण कार्य में अभेद न्याय से रस की अभिव्यक्ति ऐसा भी व्यवहार होता है।

अभिनवकृत रस-सूत्र का यह विवेचन इतना प्रौढ़ एवं पुष्ट रहा कि अब तक उठने वाले रस-विषयक समस्त असङ्गतियों का उत्तर एवं शङ्काओं का समाधान इस विवेचन में मिल जाता है। फलस्वरूप प्रायः समस्त परवर्ती आचार्यों ने उनके इस रसाभिव्यक्तिभाव को बिना किसी ननु नच के स्वीकार किया और इसे भरत के अभिप्राय के अनुकूल माना किन्तु महिमभट्ट को यह रसाभिव्यक्तिवाद मान्य नहीं। उन्होंने रस की मीमांसा स्वतन्त्ररूप से की है, रस-सूत्र की व्याख्या के रूप में नहीं, अब हम इनके रस-सम्बद्ध विचारों का पर्यालोचन करेंगे।

महिमभट्ट का रसानुमितिवाद

रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में रसानुमितिवाद के प्रबल समर्थक के रूप में महिमभट्ट उपस्थित होते हैं किन्तु अपने इस मत का प्रतिपादन वे रस-सूत्र की व्याख्या के रूप में नहीं करते। वस्तुतः भट्टनायक की भाँति ही उन्हें ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन अभीष्ट था; सम्पूर्ण ध्वनि को अनुमान में गतार्थता सिद्ध करनी थी। ध्वनिवादी आचार्य रसाभिव्यक्तिवाद के समर्थक थे और ध्वनि के प्रमुख भेद—रसध्वनि की अनुमानगम्यता के प्रतिपादन के अभाव में महिमा का ध्वनि-खण्डन अधूरा रहता फलस्वरूप महिमा के लिए रसाभिव्यक्तिवाद का खण्डन एवं रस की अनुमानगम्यता का प्रतिपादन अनिवार्य हो गया। श्री शङ्कुक पहले रस की अनुमेयता का प्रतिपादन कर चुके थे। अभिनवगुप्त ने उनके सिद्धान्त में दोष दिखाए अतः रसानुमितिवाद में उद्भावित उन समस्त आक्षेपों का उत्तर देना भी इनके लिए अपरिहार्य हो गया। अतः अभिनव की ही सरणि पर रस-विषयक समस्त असङ्गतियों एवं शङ्काओं का उत्तर देते हुए ही उन्होंने रसानुमितिवाद का प्रस्थापन किया।

जैसा कि प्रकृत प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में ही उल्लेख किया जा चुका है, महिमभट्ट की काव्यानुमिति सम्पूर्ण शाब्दव्यवहार के साध्यसाधनभावगर्भता पर आधारित है। अनुमिति के लिए आवश्यक है कि साधन एवं साध्य की क्रमिक प्रतीति को सिद्ध किया जाय। रसानुमिति के प्रसङ्ग में रस है साध्य एवं विभावादिक साधन हैं। रसानुमिति के सिद्ध्यर्थ यह आवश्यक है कि साध्यसाधनभूत विभावादिक एव रस की प्रतीति के बीच पौर्वापर्य की सिद्धि की जाय। फलस्वरूप महिमभट्ट इनकी युगपत्प्रतीति के खण्डन के साथ इनके बीच साध्यसाधनभाव सम्बन्ध दिखाते हुए स्वपक्ष की स्थापना

---

१. 'अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ व्यङ्ग्यव्यञ्जक-सम्बन्ध—रससिद्धान्त, पृ० १७४ ले०—डॉ० नगेन्द्र

करते हैं। उनका कहना है कि रसादिक के अनुमेय होने पर विभावादिक तथा रस के बीच जो कार्यकारणमूलक गम्य-गमक भाव सम्बन्ध रहता है, उसका क्रम संलक्षित नहीं होता, फलस्वरूप लोगों को वहाँ साधन एवं साध्य की साथ-साथ प्रतीति का का भ्रम होता है और वे भ्रान्तिवश वहाँ साध्यसाधनभाव न मानकर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव मानते हैं। पर वस्तुस्थिति तो यही है कि विभावादिक एवं रस के बीच भी कार्यकारणमूलक साध्यसाधनभाव है, हाँ इतना अवश्य है कि वह क्रम लक्षित नहीं होता।[1] इस पर ध्वनिवादियों का यह कहना कि 'सभी सहृदयों का यह अनुभव है कि विभावादिक के साथ ही रत्यादिक स्थायी की प्रतीति होती है, उन दोनों की प्रतीत के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध का स्मरण नहीं होता और चूंकि रत्यादि-प्रतीत ही रस-प्रतीत है, अतः वहाँ पर विभावादिक एवं रस के बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्ध मुखय वृत्ति से ही स्वीकार किया जाना चाहिए, लक्षणया नहीं। रस एवं विभावादिक के बीच जो गम्य-गमकभाव सम्बन्ध है, वह प्रदीप एवं घट जैसा है।[2]' ठीक नहीं इसलिए कि वाच्य एवं प्रतीयमान की क्रमिक प्रतीति को तो ये ध्वनिवादी भी अस्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्वयं यह कहा है कि विभावादिक ही रस नहीं है। अतः विभावादिक से अविनाभावरूप से सम्बद्ध रूप में रस की प्रतीति होती है, इसलिए उनके बीच कार्यकारणभाव सम्बन्ध होने के कारण उनकी प्रतीतियों के बीच क्रम अवश्यम्भावी है। वह क्रम समय-व्यवधान की अत्यल्पता के कारण दिखायी नहीं देता इसलिए रसादिक असंलक्ष्यक्रम एवं व्यङ्ग्य कहे जाते हैं।[3]

ध्वनिवादी आचार्य वाच्य एवं व्यङ्ग्य अथवा विभावादिक एवं रस-प्रतीति के बीच न केवल क्रम मानते हैं, अपितु वे इनके बीच निमित्तनैमित्तिकभाव भी स्वीकार

---

१. 'केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः। तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्।' —हि० व्य० वि०, पृ० ५९

२. 'ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरुपजायमाना सर्वैरेवावधार्यते। न तु तत्रान्तरा सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानसंवित्तिः काचिद्। रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यैव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः।'—वही०, पृ० ६२-६६

३. 'उच्यते। वाच्यप्रतीयमानयोः यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्नसमकालं यथा चानयोर्गम्यगमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं तदेवास्माभिः समाधित्सुभिः इह लिख्यते परम्। तद्यथा—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अतएव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय इत्युक्तम्' इति। वही०, पृ० ६७।

करते ही हैं।[1] इस प्रकार विभावादिक एवं रस की प्रतीति क्रम से होती है और यह भी स्पष्ट है कि दोनों के बीच निमित्तनैमित्तिकमूलक साध्यसाधनभाव है। अतः दोनों की युगपत्प्रतीति सिद्ध नहीं होती, इसीलिए युगपत्प्रतीति पर आधारित दोनों के बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का भी उन्मूलन हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस व्यङ्ग्य नहीं अनुमेय है, विभावादिक रत्यादिक स्थायी के गमक हैं तथा इनसे गम्य रत्यादिक ही सहृदय के हृदय में चमत्कार का आधान करने के कारण रस हैं। इस प्रकार विभावादिक के आधार पर अनुमित रत्यादिक की ही रस संज्ञा है और चूँकि सामाजिक वचनव्यापारपूर्वक पञ्चावयववाक्य की प्रक्रियापूर्वक इस रसानुभूति तक पहुँचता है अतः रसानुमिति परार्थानुमान के अन्तर्गत आती है, क्योंकि त्रिरूपलिङ्ग का कथन परार्थानुमान में ही होता है।[2]

इस प्रकार रसानुमिति को परार्थानुमान के अन्तर्गत मान लेने पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि परार्थानुमान की प्रक्रिया में जिस प्रकार साध्य एवं साधन शब्दतः उपात्त होते हैं, उसी प्रकार दृष्टान्त का भी उपादान होता है, किन्तु काव्य एवं नाट्य में दृष्टान्त शब्दतः उपात्त नहीं रहता। अतः दृष्टान्त के अभाव में प्रतीयमान अथवा रस को अनुमेय कैसे माना जा सकता है? महिमभट्ट का समाधान है कि काव्य एवं नाट्य में दृष्टान्त का उपादान आवश्यक नहीं इसलिए कि यहाँ प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले साधन (हेतु) के उपादान से ही उसका आक्षेप हो जाता है। ऐसा कहा भी गया है कि साधन एवं साध्य को न जानने वाले व्यक्ति के लिए ही दृष्टान्त का प्रतिपादन आवश्यक है, विद्वान् व्यक्ति तो केवल हेतु को देखकर ही हेतुमान् (साध्य) को जान लेता है।[3] काव्य एवं नाट्य को समझने और देखने वाले जन विमल प्रतिभा वाले होते ही हैं अतः काव्य नाट्य में दृष्टान्त का अभाव रस की अनुमेयता में प्रतिबन्धक नहीं बनता।

पूर्वपक्षी पुनः यह शङ्का कर सकता है कि लोक में लिङ्ग से शोकादिक के अनुमेय होने पर अनुमाता सुखास्वाद करता नहीं देखा जाता। इसके विपरीत साधु एवं

---

१. 'पुनश्च तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावाद् नियमभावी क्रमः। स तूक्तयुक्तेः क्वचिल्लक्ष्यते क्वचित्तु न लक्ष्यत इति।' वही० पृ० ६७

२. 'तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोः वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति···। तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम्। त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तत्र लक्षयत्यविचक्षणो लोकः।'—वही, पृ० ६७

३. 'अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते तद् यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्, तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात्। न। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षाया प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः॥' वही, पृष्ठ ६९

उदासीन जनों तक में भय, शोक, दौर्मनस्यादिक दुःख की उत्पत्ति देखी जाती है। काव्य में करुण एवं भयानक रसों की भी अनुभूति से सामाजिक आनन्दित ही होता है, दुःखी नहीं होता। काव्य में लोक की अपेक्षा अन्य विशेष तो है नहीं, जिससे कि आनन्द की यह अनुभूति केवल काव्य में ही मानी जाय, लोक में नहीं, क्योंकि लोक में कारण-कार्यसहकारिभूत वे ही काव्यादि में विभावादि संज्ञा से अभिहित होते हुए गमक होते हैं तथा वे ही लौकिक रत्यादिक भाव गम्य होते हैं। तो फिर काव्य नाट्य में लोक की अपेक्षा कौन सा वैशिष्ट्य है जिससे काव्य में ही रसास्वाद होता है, लोक में इन्हीं गमकों से उन्हीं गम्यों की अनुमिति से नहीं होता।[1] महिमभट्ट का समाधान है कि जहाँ पर विभावादिक से रत्यादि भावों की अवगति होती है, वहीं रसास्वाद का आविर्भाव होता है और यह रसास्वाद भी केवल उन्हें होता है, जो सहृदय हैं। भरत ने भी कहा है कि विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पति होती है।[2] साथ ही पूर्वपक्षी का यह कहना कि लोक में भी विभावादिक अथवा भाव होते हैं, ठीक नहीं है, इसलिए कि लोक में विभावादिक का होना सम्भव ही नहीं है, ये तो एकमात्र काव्य एवं नाट्य के तत्त्व हैं, लोक में हेत्वादिक ही होते हैं। हेत्वादिक तथा विभावादिक को एक बताना भी उचित नहीं, इसलिए ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। लोक में रामादिगत रत्यादिक स्थायित्व से युक्त अवस्थाविशेषमात्र हैं, किन्तु काव्य एवं नाट्य के अन्तर्गत कवि एवं नट के द्वारा वर्णनार्थ एवं अभिनयार्थ अपने ऊपर आरोपित किए गए ये रत्यादिक तत्तद् रसों का भावन (आस्वादन) कराने के कारण भाव कहलाते हैं। भरत ने भी कहा है कि नाट्यप्रयोक्ता द्वारा नाना अभिनयों के सम्बन्ध से ये भाव रसों का भावन कराने के कारण ही भाव कहलाते हैं।[3] इसी प्रकार लोक में उन्हीं रत्यादिक

---

१. 'ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः…। न हि लोके लिङ्गतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते। प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखमसममुपजायमानमवधार्यते। न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः येनासौ तत्रैवोपगम्येत न लोके। त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपगमकाः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। तत् कोऽतिशयः काव्यादौ यत् तत्रैव रसास्वादो न लोके…।'—वही, पृ० ७०

२. 'उच्यते। यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमः तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्। यदाह भरतः—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति।' वही, पृ० ७०

३. न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषाः केचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्थमात्मन्युपसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—
नानाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥" वही, पृ० ७१

अवस्थाओं के हेतुभूत जो सीता इत्यादिक हैं वे ही काव्य एवं नाट्य में प्रयुक्त होने पर उन भावों का विशेषेण भावन कराने के कारण विभाव कहलाते हैं। जैसा कि भरत ने भी कहा है—वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय के आश्रय से रहने वाले बहुत से अर्थ इनके द्वारा विभावित किए जाते हैं। अतः ये विभाव कहलाते हैं।[1]

लोक में उन रत्यादिक के कार्यभूत जो मुखप्रसादादिक हैं, काव्य और नाट्य में दिखाए जाने पर तत्तद् भावों का अनुभावन कराने के कारण अनु भाव कहलाते हैं। भरत ने भी कहा है—चूँकि वाणी, अङ्ग और सत्त्व के अभिनयों द्वारा अर्थ का अनुभावन होता है, इसलिए वाणी, अङ्ग एवं उपाङ्ग से युक्त वह अभिनय अनुभाव कहलाता है।[2]

इन रत्यादिक स्थायी भावों के बीच-बीच में उत्पन्न होने वाले दीर्घकाल तक स्थिर न रहने वाले अतः लहरों के समान तथा उन्हीं भावों के अवान्तर हेतुओं से उत्पन्न जो निर्वेदादिक अवस्थाविशेष हैं वे ही काव्य में अपने-अपने विभावादिक के माध्यम से प्रदर्शित किए जाते हुए विशेषरूप से तत्तद् भावों के अनुरूप रहने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं। जैसा कि भरत ने भी कहा है—ये व्यभिचारी कहलाते हैं, इसलिए कि ये रसों के अनुकूल भाँति-भाँति से सञ्चालित होते हैं।[3]

इस प्रकार विभावादिक कृत्रिम होते हैं जब कि हेत्वादिक वास्तविक होते हैं। साथ ही एक का क्षेत्र काव्य एवं नाट्य है तो दूसरे का क्षेत्र लोक। अतः दोनों के बीच इस स्वरूपभेद एवं विषयभेद के होने के कारण दोनों को एक नहीं माना जा सकता, दोनों ही परस्पर भिन्न हैं।[4] अतः लोकानुमिति के नीरस होने के बावजूद भी काव्यानुमिति अथवा रसानुमिति की सरसता में कोई व्याघात नहीं उपस्थित होता, कारण कि रसानुमिति के साधन विभावादिक अलौकिक हैं। इन कृत्रिम अतएव अलौकिक विभावादिक रूप लिङ्ग से (नट में) वस्तुतः असत् रत्यादिकभूत लिङ्गी की प्रतीति सहृदय को होती है। चूँकि ये रत्यादिक नट में परमार्थतः विद्यमान नहीं होते अतः प्रतीतिमात्र ही उनका

१. 'ये च तेषां हेतवः सीताद्याः केचित् त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥'' वही, पृ० ७१-७२

२. 'ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्याद्युपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः यस्मादर्थोऽनुभाव्यते।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः ॥'' वही, पृ० ७३

३. ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः इति।'—वही, पृ०७२

४. 'तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेः…।' वही, पृ० ७४

सार है। इसलिए वे रत्यादिक (रस) प्रतीयमान तथा विभावादिक से गम्य होने के कारण गम्य भी कहलाते हैं। रत्यादिक की उपर्युक्त प्रतीति का सामाजिक द्वारा व्याप्ति-स्मरण, दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन की प्रक्रियापूर्वक परामर्श ही रसास्वाद है।[1]

प्रतिपक्षी का यह आक्षेप कि 'केवल प्रत्यक्षानुभूति ही चमत्कारजनक होती है, परोक्ष नहीं अतः रसानुमिति भी परोक्ष होने के कारण चमत्कारजनक नहीं हो सकती फलस्वरूप उससे आनन्दानुभूति भी सम्भव नहीं', उचित नहीं, इसलिए कि रत्यादिक को परोक्ष स्वीकार कर लेने पर भी उक्त दोष के लिए अवकाश नहीं रहता। कारण यह है कि प्रत्यक्ष भी अर्थ साक्षात् संवेद्यमान होने पर चमत्कार का उतना विस्तार नहीं करता जितना कि वही अर्थ सत्कवि के वाणी का विषय बनकर चमत्कृत करता है। जैसा कि कहा भी गया है—कवि की शक्ति द्वारा उपस्थापित भाव सामाजिक को तन्मय बना देने की युक्ति के कारण जितना चमत्कृत करते हैं, उतना प्रत्यक्ष गृहीत भी अर्थ नहीं करते। और वह कविशक्त्यर्पित भी अर्थ उतना चमत्कारकारी नहीं होता जितना कि विभावादिक के द्वारा अनुमेयता को प्राप्त होने पर। विभावादिक से अनुमित रत्यादिक अर्थ का स्वभाव ही है आनन्दप्रदता, अतः प्रामाणिकों का इनके चमत्कारित्व अथवा आनन्दप्रदता के विषय में प्रश्न करना उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है कि हेत्वादिक से अनुमित अर्थ उतना आनन्ददायक नहीं होता है जितना कि विभावादिक से अनुमित अर्थ तथा वाच्यार्थ उतना सुख नहीं प्रदान करता है, जितना कि वही प्रतीय-मान बन जाने पर। इस तथ्य को ध्वनिकार भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सारभूत अर्थ अपने वाचक शब्द से उक्त न होते हुए प्रकाशित होकर अधिक शोभा धारण करता है।[2]

इस प्रकार विभावादिक के द्वारा (नटस्थरूपेण) किन्तु वस्तुतः असत् रत्यादिक की अनुमिति ही रस है और उक्त प्रकार से वह चमत्कारजनक भी होती है। पर प्रति-पक्षी इतना सब स्वीकार करते हुए भी यह शङ्का उठा सकता है कि उस असत् रत्यादिक

---

१. 'यदा विभावादिभिः भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्र-सारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।' वही, पृ० ७४

२. 'आस्तां वा रत्यादिः नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। यदुक्तम्—

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल॥ इति

सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—

नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥

इति। ध्वनिकृताप्युक्तम्—साररूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति इति।' —वही, पृ० ७५-७६

की अनुमिति से सामाजिक के अथवा शिक्षणीय जनों के किस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है ? अतः यह रसानुमिति फिर भी व्यर्थ ही रही । महिमभट्ट का समाधान है कि काव्य का सर्वस्व तो प्रतीति ही है, इसलिए कि प्रतीतिमात्र से शिक्षणीय जनों को विधिनिषेध-रूप व्युत्पत्ति हो ही जाती है[1] और सामाजिक को असत्य रत्यादिक की अनुभूति से आनन्द लाभ भी हो जाता है । अभीष्ट-लाभ एकमात्र यथार्थज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा ही नहीं होता । वह तो अयथार्थ ज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा भी होता देखा जाता है । मणि की प्रभा को ही मणि समझने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति वस्तुतः भ्रान्तिजनित है, क्योंकि मणि-प्रभा तो मणि है नहीं, किन्तु मणि-प्रभा तक जाने वाले उस व्यक्ति को मणि का लाभ होता है यद्यपि यह भी सत्य है कि हर भ्रान्तिजन्य प्रवृत्ति से इष्ट लाभ होते नहीं देखा जाता क्योंकि दीप-प्रभा को मणि मानकर प्रवृत्त होने वाले को मणि का लाभ नहीं होता । पर इस फल-भेद के लिए तो दोनों भ्रान्तियों का भिन्न कोटि का होना उत्तरदायी है । मणिप्रभाजन्य भ्रान्ति संवादी भ्रान्ति है अतः उससे इष्ट-लाभ होता है, जबकि दीप-प्रभा-जन्य भ्रान्ति के विसंवादी होने के कारण उससे इष्ट-लाभ नहीं होता । इसी प्रकार नटस्थरूपेण रत्यादि की प्रतीति यद्यपि भ्रान्ति है तो भी संवादी होने के कारण इससे चमत्कार अथवा आनन्दरूप फल की प्राप्ति हो ही जाती है अतः यह स्पष्ट हो गया कि रत्यादिक का पक्ष में अभाव होने पर भी काव्य को फलभूता आनन्दानुभूति की कोई हानि नहीं होती । इसीलिए काव्य एवं नाट्य में प्राज्ञों के लिए गम्य एवं गमक की सत्यता और असत्यता का विचार ठीक नहीं है ।[2]

इस प्रकार महिमा की दृष्टि में रस का परिनिष्ठित स्वरूप यह निर्धारित होता है—विभावादि कहलाने वाले कृत्रिम कारणों के माध्यम से असत् अतः प्रतिबिम्ब-कल्प एवं स्थायिभाव नामधारी रत्यादिक भाव जब कवि द्वारा प्रतिपत्ता की प्रतीति के विषय बना दिए जाते हैं तो हृदय-संवाद के कारण आस्वाद्यता को प्राप्त होकर वे ही रस कहलाते हैं ।[3]

महिमभट्ट की इस रसानुमिति में अधोलिखित तथ्य अवधेय हैं—

विभावादिक एवं रस की युगपत्प्रतीति सम्भव नहीं । इनकी प्रतीति के बीच न केवल क्रम है अपितु इनके बीच कार्यकारणभावमूलक साध्यसाधनभाव है । विभावादिक

---

१. 'प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः ।' —वही, पृ० ७६

२. 'तदुक्तम्—'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' । इति ।

मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।। इति च

तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव ।' —वही, पृ० ७६-७८

३. 'यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्ब-कल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदय-संवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते ।' —वही, पृ० ८३

साधन हैं रस साध्य। अतः रस व्यङ्ग्य न होकर अनुमेय है। वचनव्यापारपूर्वक होने के कारण रसानुमिति परार्थानुमान का विषय है। रसानुमिति के प्रसङ्ग में दृष्टान्त का का उपादान आवश्यक नहीं। काव्यानुमिति अथवा रसानुमिति लौकिक अनुमिति से सर्वथा विलक्षण होती है, इसलिए कि साधन या लिङ्गभूत विभावादिक अलौकिक हैं तथा अनुमित रत्यादिक वस्तुतः असत्। अतः लोकानुमिति में भले ही चमत्कार का अभाव हो, काव्यानुमिति में उसका अभाव नहीं होता। अनुमिति होने के नाते रसानुमिति भी परोक्षानुमिति की कोटि में आएगी अतः रसानुभूति में चमत्कार का अभाव होना चाहिए पर कविशक्त्यर्पित होने के कारण तथा अनुमेय वस्तु के सौन्दर्य के कारण रसानुमिति में चमत्कार का अभाव नहीं है। कृत्रिम विभावादिक से असत् रत्यादिक की अनुभूति ही रस है, अतः यह रसानुभूति भ्रान्ति हुई किन्तु संवादी भ्रान्ति होने के कारण उससे सामाजिक को आनन्द-लाभ होता ही है।

महिमभट्ट का रसानुमिति से सम्बद्ध उक्त विवेचन बहुत से अर्थों में श्री शङ्कुक की रसानुमिति की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विशद होता हुआ भी तत्त्वतः उससे अभिन्न है। शङ्कुक के अनुसार कृत्रिम विभावादिक से गम्य रत्यादिक का अनुकरण रस है तो महिमा भी स्पष्ट कहते हैं कि कृत्रिम विभावादिक से गम्य असत् रत्यादिक की प्रतीति रस है। शङ्कुक की दृष्टि से भी विचार करने पर रत्यादिक वस्तुतः नट में होते नहीं, सामाजिक को वे नटस्थ रूप से केवल प्रतीत होते हैं। रस की वाच्यता के निषेध एवं गम्यता का प्रतिपादन दोनों ही आचार्यों ने किया है। साथ ही रस-सम्बद्ध इस प्रतीति को भ्रान्ति बताते हुए दोनों ही आचार्यों ने इस भ्रान्ति के अर्थक्रियाकारित्व का प्रतिपादन किया है किन्तु जहाँ अन्त में श्री शङ्कुक रसानुभूति के भ्रान्तित्व का निषेध करते हुए उसे सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन चारों ही प्रतीतियों से भिन्न कोटि का प्रतिपादित करते हैं, महिमा इसे अन्त तक भ्रान्ति ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही आचार्यों ने पूर्वपक्षी की इस शङ्का को कि 'अनुमिति होने के कारण रसानुमिति परोक्षानुभूति की श्रेणी में आने के कारण चमत्कारयुक्त नहीं हो सकती' स्वीकार करते हुए रसानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण दिखाया है पर इस वैलक्षण्य का कारण दोनों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। श्री शङ्कुक के अनुसार यह रसानुमिति अनुमेय वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा रसनीयत्व के कारण अन्य अनुमितियों से विलक्षण है, जब कि महिमा की दृष्टि में रसानुमिति के वैलक्षण्य का कारण है, इनके लिङ्गभूत विभावादिक का अलौकिकत्व तथा रसानुमिति का कविशक्त्यर्पितत्व।

इन समानताओं के अतिरिक्त महिमभट्ट की रसानुमिति का श्री शङ्कुक की रसानुमिति से जो वैषम्य परिलक्षित होता है, उसे श्री शङ्कुक की ही रसानुमिति का विशदीकरण कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं—प्रथम तो यह कि महिमभट्ट ने रसानुमिति का अन्तर्भाव परार्थानुमान के अन्तर्गत सोपपत्ति दिखाया है जिसकी ओर श्री शङ्कुक का ध्यान नहीं गया था और दूसरे यह कि महिमा ने ही सर्वप्रथम रसानुमिति के प्रसङ्ग में दृष्टान्त की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। अतः ये दोनों ही उद्भावनाएँ रसानुमिति के क्षेत्र में उनकी मौलिकता के अन्तर्गत आती हैं। साथ ही श्री शङ्कुक ने रसानुमिति की पुष्टि उदाहरणों द्वारा नहीं की थी, पर महिमभट्ट ने

रसध्वनि के बहुत से उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या की। इन सब के साथ विषय के प्रतिपादन की सुष्ठु एवं वैज्ञानिक शैली भी इनकी अपनी है। महिमभट्ट के इस साङ्गोपाङ्ग विवेचन का परवर्ती काव्यशास्त्र पर द्विविध परिणाम दिखायी पड़ता है। एक ओर तो उनके इस परिपुष्ट विवेचन के फलस्वरूप रसानुमिति अपने पूर्ण परिनिष्ठित रूप में हमारे सम्मुख आती है, दूसरी ओर प्रायः समस्त परवर्ती व्यञ्जनावादी आचार्य अपने सिद्धान्त-पक्ष की रक्षा के लिए पूर्ण जागरूक हो गए। परवर्ती काव्यशास्त्रियों में से कोई भी महिमभट्ट की उपेक्षा न कर सके और महिमभट्ट की काव्यानुमिति किंवा रसानुमिति के प्रकाश में अकाट्य तर्कों पर व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता को आधारित किया। मम्मट एवं विश्वनाथ द्वारा सिद्ध की गयी अनुमितिवाद की अनुपादेयता महिमभट्ट की देन है—इसमें कोई सन्देह नहीं। फलस्वरूप महिमभट्ट के अनन्तर किसी भी अन्य आचार्य को उनकी सरणि पर रस को अनुमेय प्रतिपादित करने का साहस नहीं हुआ।

पर महिमभट्ट की इस काव्यानुमिति की अपनी सीमाएँ हैं। प्रमाण होने के नाते अनुमान-प्रमा-ज्ञान का साधन है। अनुमान के माध्यम से हमें साध्य का निश्चयात्मक बोध होता है पर काव्य में साध्यभूत प्रतीयमान अर्थ निश्चित रूप से कोई एक हो यह आवश्यक नहीं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ प्रतीयमान अर्थ अनेक होते हैं। उदाहरणार्थ 'गतोऽस्तमर्कः' में एक वाच्य से अनेक प्रतीयमान का बोध होता है। अनुमिति से उन सभी अर्थों का बोध सम्भव नहीं, क्योंकि जब यह अनुमिति सभी उदाहरणों में केवल एक प्रयीयमान अर्थ तक पहुँचने में समर्थ नहीं तो अनेक प्रतीयमान तक इसकी पहुँच भला कैसे सम्भव है? निश्चित रूप से महिमभट्ट की यह काव्यानुमिति अव्याप्ति दोष से दूषित है अन्यथा वे 'अत्था एत्थणिमज्जइ' उदाहरण में प्रतीयमान की सत्ता का निषेध क्यों करते? अतः यह कहना कि 'काव्यानुभूति के प्रत्येक पक्ष में चाहे वह वस्तुमात्र, अलङ्कार या रस हो अनुमान की प्रक्रिया तो ठीक-ठीक ही बैठ जाती है।[१]' तथ्य का अतिरञ्जनमात्र है। साथ ही महिमभट्ट का अन्धानुकरण करते हुए रसानुभूति को भ्रान्ति बताना[२] अविचारिताभिधान होगा इसलिए कि सहृदय प्रमाण हैं कि रसानुभूति भ्रान्ति नहीं हैं सत्य है। साधारणीकृत होने के नाते नाट्य एवं काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्त्विक तथा स्थायी एवं उस स्थायी की चर्वणा ये सभी सत्य हैं—यह तथ्य अभिनवगुप्त के विवेचन से सुस्पष्ट है। इस प्रसङ्ग में काव्य-नाट्य से होने वाली अत्यन्त तीव्र अनुभूति वाले सहृदयों की निन्दा भी धृष्टतामात्र है।

अभिनव के विवेचन से सुस्पष्ट है कि रसानुभूति एक अलौकिक अनुभूति है अतः उसे रत्यादिविषयकज्ञानविशेष का ग्रहणमात्र बताते हुए उसे प्रामाण्याप्रामाण्य की सीमा से परे बताना अनभिज्ञतामात्र है।[३] सुतरां रस को ज्ञानविशेष का ग्रहण मानने पर तो उसके प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्धारण आवश्यक हो जाता है।

---

१. 'संस्कृत-साहित्य-शास्त्र को महिमभट्ट की देन' शोधप्रबन्ध, पञ्चम परिच्छेद का पञ्चम विमर्श-लेखक व्रजमोहन चतुर्वेदी।

२. 'वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो रसानुभूति किसी के भी पक्ष में वास्तविक नहीं होती। वह एक प्रकार का भ्रान्ति-ज्ञान ही है—यथार्थ-ज्ञान नहीं। जिन लोगों को नाट्य या काव्य से होने वाली अनुभूति अत्यन्त तीव्र होती है उन्हें अतिमूढ़ ही मानना चाहिए—वही, पञ्चम परिच्छेद, पञ्चम विमर्श

३. वही, पञ्चम परिच्छेद का पञ्चम विमर्श

इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि रससिद्धान्त की गुत्थी को अनुमान की दृष्टि से सुलझाने का प्रयास महिमभट्ट ने किया और अपने इस प्रयास में श्री शङ्कुक की अपेक्षा अधिक सफल रहे किन्तु यह कहना कि 'रस-सिद्धान्त की गुत्थी को सुलझाने में जितना वह सफल रहे उतना अन्य कोई आचार्य नहीं'[१] अतिशयोक्ति ही नहीं, असत्य-कथन होगा, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो आज रसानुमितिवाद ही मान्यतम सिद्धान्त होता, रसाभिव्यक्तिवाद नहीं। विभावादिक की अलौकिकता का प्रतिपादन करने वाले प्रथम आचार्य अभिनवगुप्त हैं[२] अतः इसका श्रेय महिमभट्ट को देना भ्रामक है। एवं मम्मटादि ने भी अभिनवगुप्त की सरणि पर विभावादि के हेतुत्व का खण्डन किया है, महिमा की सरणि पर नहीं।[३]

महिमभट्ट ने विभावादिक एवं रत्यादिक की युगपत्प्रतीति का जो खण्डन किया है, वह अनावश्यक खण्डन है इसलिए कि महिमा द्वारा उद्धृत ध्वनिकार के उद्धरणों से ही स्पष्ट है कि ध्वनिकार भी उनकी युगपत्प्रतीति नहीं मानते। साथ ही वे इनके बीच निमित्तनैमित्तिकभाव भी मानते ही हैं, हाँ यह निमित्तनैमित्तिकभाव घटप्रदीपन्यायेन ही काव्य में लागू होता है। अतः युगपत्प्रतीति का जो खण्डन महिमा ने किया है इसके लिए वे बधाई के पात्र नहीं हैं।[४]

महिमभट्ट की विषय-प्रतिपादन की शैली प्रभावशाली एवं ओजपूर्ण है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनके तर्क एवं युक्तियाँ अकाट्य रहे। जैसा कि प्रकृत-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ही प्रतिपादित किया जा चुका है, मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में पञ्चमोल्लास के अन्त में जो अनुमितिवाद का खण्डन मिलता है, वह वस्तुतः महिमभट्ट का ही खण्डन है। अतः यह कहना कि 'इनकी युक्तियाँ तथा तर्क इतने प्रबल तथा पुष्ट हैं कि उनका उल्लेख कर खण्डन करने का साहस मम्मट प्रभृति किसी भी उत्तरकालिक आलङ्कारिक आचार्य को नहीं हुआ[५] सर्वथा असत्य है। मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक, विद्याधर तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी महिमभट्ट की रसानुमिति का खण्डन किया है, जो कि प्रकृत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में उपस्थापित किया जा चुका है अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं की जाती।

———

१. वही, पञ्चम परिच्छेद का निष्कर्ष।
२. 'किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा'—हिं० अभि० भा०, पृ० ४८५
३. 'महिमभट्ट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने विभावादि के लौकिक हेत्वादि से भिन्न होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।...मम्मटादि उत्तरकालीन आचार्यों ने महिम की ही सरणि पर विभावादिक की हेतुता का खण्डन किया है।' संस्कृत साहित्य शास्त्र को महिमभट्ट की देन' शोधप्रबन्ध, पञ्चम परिच्छेद, पञ्चम विमर्श—निष्कर्ष
४. 'विभावादि एवं रत्यादि के युगपत्प्रतीति का खण्डन कर महिमभट्ट ने उसमें होने वाली सहभाव की प्रतीति को भ्रान्त बताया और विभावादि एवं रत्यादि में भी साध्यसाधनभाव नामक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया और इस प्रकार रस को अनुमेय सिद्ध कर दिया।' वही, पञ्चम परिच्छेद का निष्कर्ष।
५. वही, पञ्चम परिच्छेद का निष्कर्ष

पञ्चम अध्याय

आचार्य महिमभट्ट की काव्यदोषविषयक कल्पना

काव्यशास्त्र की परम्परा के निरीक्षण से ऐसा ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही आचार्यों द्वारा काव्यगत दोषों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। किसी भी काव्य खण्ड के काव्य होने का सबसे प्रथम तथा आवश्यक मापदण्ड उसका निर्दोषत्व माना गया। दोष-राहित्य अपने आप में ही एक महान् गुण माना गया है। 'महान् निर्दोषिता गुणः।' भामह ने स्पष्ट शब्दों में दोष का प्रबल प्रतिवाद करते हुए यह प्रतिपादित किया कि कवि को एक भी दुष्ट पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुष्ट काव्य के कारण कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र बनता है, जैसे पिता कुपुत्र के कारण। कविता न करना अधम, व्याधि या दण्ड का हेतु नहीं है, किन्तु कुकाव्य करना तो साक्षात् मृत्यु ही है।[1] उनके इस कथन का दण्डी ने हृदय से समर्थन किया। वे कहते हैं—अत्यल्प भी दोष काव्य में उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि सुन्दर शरीर कुष्ठ के एक चिन्ह के कारण विरूप हो जाता है।[2]

आनन्दवर्धन ने भी दोष को रसभङ्गहेतु स्वीकार किया है।[3] भोज ने दोष-हान को शब्दार्थ के चतुर्विध साहित्यों में प्रथम[4] माना है और आचार्य मम्मट ने भी अपने 'काव्यलक्षण' में 'तददोषौ' पद के सन्निवेश द्वारा दोषाभाव को काव्य के आवश्यक उपादानों में प्रथम स्थान प्रदान किया।[5] इस प्रकार भरतमुनि ने तो नाट्यशास्त्र में काव्य के केवल दश दोषों का उल्लेखमात्र किया था[6] किन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसका विशद विवेचन तो किया ही साथ ही दोष-राहित्य का काव्य-लक्षण में स्थान भी सुनिश्चित कर डाला। अलङ्कारों की भाँति ही दोषों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और मम्मट के समय तक दश से आरम्भ हुए वे दोष सत्तर तक पहुँच गए। दोषों के इतिहास के इस विकास-क्रम में विभिन्न आचार्यों का योगदान रहा है, जिसमें महिमभट्ट का योग कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

---

१. 'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥ नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा। कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥'—काव्यालङ्कार १।११-१२

२. 'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।' —काव्यादर्श १।७

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्—ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत

४. Bhoja's शृङ्गार प्रकाश, वी० राघवन्, पृ० २३५

५. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'—काव्यप्रकाश, १।४

६. भरतकृत नाट्यशास्त्र १६।८८-६४

जैसा कि 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के प्रतिज्ञावाक्य से ही स्पष्ट है, महिमभट्ट का यह ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य था -- ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध करना,[१] काव्यशास्त्र के आवश्यक उपादानों की मीमांसा नहीं, किन्तु उस ध्वनिखण्डन एवं स्वपक्ष-मण्डन के प्रसङ्ग में अनेक ऐसे अवान्तर प्रसङ्ग स्वतः ही महिमभट्ट की कृति में समाविष्ट हो गए हैं, जो न केवल काव्य के आवश्यक उपादानों में से हैं, अपितु जिनके महिमकृत विवेचन ने परवर्ती काव्यशास्त्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। महिमकृत दोष-विवेचन ऐसे ही प्रसङ्गों में से एक है। काव्यगत दोषों के इतिहास में महिमभट्ट का दोष-विवेचन अनुपम है। महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' में प्रथम बार दोषों का इतना सूक्ष्म, प्राञ्जल एवं प्रौढ़ विवेचन उपलब्ध होता है। उनके दोष संख्या में सीमित हैं, किन्तु प्रतिपादनशैली इतनी सुष्ठु एवं हृदयग्राहिणी है, तथा उनकी सूझ इतनी विलक्षण है कि स्वयं वाग्देवतावतार मम्मट ने भी उनके विवेचन एवं दोषविषयक सुझावों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, यद्यपि सम्प्रदाय की दृष्टि से वे महिमभट्ट के विरोधी आचार्य हैं। किन्तु उनके दोषविषयक योगदान के मूल्याङ्कन के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि उनके पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों एवं नाट्यशास्त्र में उपलब्ध दोषविवेचन पर हम दृष्टिपात करें।

भरतकृत दोष-विवेचन

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय परम्परा का आरम्भ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से होता है। यद्यपि मूलतः यह ग्रन्थ नाट्य ग्रन्थ है तो भी आचार्य ने छन्दोविधान, वृत्तलक्षण, रसनिरूपण आदि काव्यतत्त्वों को भी अपने इस आकरग्रन्थ में स्थान दिया है। इस ग्रन्थ के सोलहवें अध्याय में आचार्य भरत ने काव्य के दोषों, गुणों; अलङ्कारों तथा लक्षणों का विधिवत् निरूपण किया है। अतः काव्य के रस इत्यादिक अन्य उपादानों के समान ही काव्यगत दोषों का इतिहास भी भरतमुनि से ही आरम्भ होता है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में दश काव्यदोषों के स्वरूप का निर्वचन किया है। ये हैं—(१) गूढार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ, (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायादपेत, (८) विषम, (९) विसन्धि, (१०) शब्दच्युत।[२]

(१) गूढार्थ—पर्यायशब्दाभिहित गूढार्थ होता है।[३] भरत के इस निर्वचन से इस दोष का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। अभिनव ने उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि जहाँ किसी शब्द के बलात्परिकल्पित गूढ़ अर्थ वाले पर्याय का प्रयोग किया जाय वहाँ यह दोष होता है, जैसे 'दशरथ' शब्द के

---

१. हि० व्य० वि० १।१

२. 'गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥' ना० शा० १६।८८

३. 'पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमिति संज्ञितम्।' वही, १६।८९ का पूर्वार्द्ध

प्रयोग के स्थान पर 'अधिकनवविमान' शब्द का प्रयोग 'गूढार्थ' नामक दोष के अन्तर्गत आएगा इसलिए कि यदृच्छा शब्द कभी पर्यायों के द्वारा व्यवहृत नहीं होते।[1] किन्तु सम्भवतः भरत का सङ्केत उन सभी गूढ़ स्थलों से है जहाँ गूढ़ पर्यायों के प्रयोग के फलस्वरूप प्रसादगुण का अभाव हो, केवल यदृच्छावाचक शब्दों के स्थल से नहीं।

(२) **अर्थान्तर**—अवर्ण्य का वर्णन अर्थान्तर नामक दोष है।[2] अभिनव के अनुसार इस दोष का उदाहरण है—"चिन्तामोहमनङ्गमङ्गतनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः" इस कथन में वस्तुतः काम का विस्तार वर्ण्य है, किन्तु वर्णन किया गया है, चिन्ता एवं मोह के विस्तार का भी, जो अवर्ण्य है, अतः यहाँ पर अर्थान्तर दोष हुआ।[3] पर विचार करने पर अभिनवगुप्त का यह उदाहरण बहुत उचित नहीं प्रतीत होता, इसलिए कि सुन्दरी का प्रेक्षण केवल काम की वृद्धि नहीं करता, अपितु जिस सकाम व्यक्ति को उसकी उपलब्धि नहीं होती है, उसके चिन्ता एवं मोह का विस्तार भी सुन्दर भौहों वाली स्त्री का प्रेक्षण करता है। अतः इस कथन में अर्थान्तर दोष नहीं है। भरतमुनि-कृत इस दोष का स्वरूपनिर्वचन सुस्पष्ट है और इसके अन्तर्गत काव्य के वे सभी स्थल आ जायेंगे जो काव्य के लिए अथवा उसके परमार्थभूत रस के लिए अनुपयोगी हैं।

(३) **अर्थहीन**—असम्बद्धकथन तथा ऐसे कथन जिसके सुनने से अभीष्टार्थ की स्पष्ट, निश्चित प्रतीति न हो, 'अर्थहीन' नामक दोष के अन्तर्गत आते हैं।[4] अभिनवगुप्त ने इन दोषों के क्रमशः ये उदाहरण दिए हैं—

'अद्यापि स्मरसि रसालमनो मे मुग्धायाः स्मरचतुराणि' इस कथन में पूर्वापर में विरोध होने के कारण असम्बद्धता है। जो मुग्धा है, उसकी चेष्टाएँ स्मरचतुर कैसे हो सकती हैं और यदि उसकी चेष्टाएँ स्मरचतुर हैं तो फिर वह मुग्धा कैसे हुई?

'स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः' इति। अर्थ के प्रकरणापेक्षी होने के कारण यहाँ पर अभीष्ट अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो रही है इसलिए कि 'भाग्य-वशात्' के 'अभाग्यवशात्' माने जाने की भी सम्भावना है।[5] साथ ही 'महापदम्' को महा+पदम् न मानकर महा+आपदम् भी मानने की सम्भावना है।

(४) **भिन्नार्थ**:—असभ्य एवं ग्राम्य प्रयोग इस दोष के अन्तर्गत आयेंगे तथा

---

१. 'तत्र पादानां, वाक्यस्य तदर्थस्य च यथा दशरथ इति वक्तव्ये बलात्परिकल्पितेन वस्तुतो पर्यायशब्देनाभिधानं 'अधिकनवविमान' इति। न हि यदृच्छाशब्दाः पर्यायभाजः।' अभिनवभारती, पृ० ३३१।

२. 'अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते।'—ना० शा०, १६।८८

३. 'अर्थान्तरं यथा—'चिन्तामोह···सुभ्रुवः' इत्यत्र कामः स्वीकृतः चिन्तादिशब्देनावर्ण्य-नीयमपि वर्णितम्'—अभि० भा०, १६।८८

४. 'अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।'—ना० शा०, १६।८९ पूर्वार्द्ध

५. 'अर्थहीनं यथा—'अद्यापि···स्मरचतुराणि।' अत्रपूर्वापरव्याघातादसम्बद्धता। यथा वा 'स महात्मा···उपागतः।' अत्र हि सावशेषः प्रकरणापेक्षो वस्तुनिश्चयः अभाग्य-वशादित्यपि सम्भाव्यत्वात्'—अभि० भा०, पृ० ३३२।

भिन्नार्थ नामक यह दोष वहाँ भी होता है, जहाँ विवक्षित तो कुछ और होता है, किन्तु प्रतिपादन किसी और अर्थ का कर दिया जाता है।[१] इनके उदाहरण हैं—

'ज्वरं भुञ्जीतसञ्जातमलपाकं चिरस्थितम्
अजादुग्धोदनं हन्यात् त्रिदोषोत्कोपसम्भवम् ॥'

इस पद्य में ज्वर एव तत्सम्बद्ध क्रिया हन्यात् के बीच पर्याप्त व्यवधान होने के कारण 'ज्वर' का सम्बन्ध 'भुञ्जीत' के साथ प्रतीत होता है तथा 'अजादुग्धोदन' का सम्बन्ध हन्यात् के साथ प्रतीत होता है और इस प्रकार असभ्य अर्थ की प्रतीत होती है। अतः वहाँ पर भिन्नार्थ दोष आर्थ है।[२]

इसी प्रकार 'भद्रे भजस्व मामिदं ते दास्यामि' यह कथन ग्राम्य होने के कारण भिन्नार्थ दोष का उदाहरण है।[३] तृतीय भिन्नार्थ का उदाहरण है—

'स्याच्चेदेष न रावणः' ऐसा कहकर यह कहना कि 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।' क्योंकि यहाँ पर वस्तुतः रावण का अनुपादेयत्व उद्दिष्ट है पर इस कथन का उत्तरार्ध इसके विपरीत प्रतिपादित करता है।[४]

(५) **एकार्थ**[५]—विशेष का अभिधान न किया जाना एकार्थ नामक काव्यदोष है। तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रयुक्त शब्द वक्ता के कथन में अतिरिक्त वैशिष्ट्य का आधान नहीं करते वहाँ यह दोष होता है, जैसे—

'कुन्देन्दुहारहरहासहसितम्' इस कथन में कुन्द, इन्दु, हार एवं हरहास इन चारों ही पदों का प्रयोजन एक है[६] —'हसित' के वैमल्य का प्रतिपादन जो कि किसी भी एक पद के उपादान से हो जाता। अतः अन्य तीन पद किसी भी अतिरिक्त वैशिष्ट्य का आधान न करके एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं, अतः यहाँ एकार्थ दोष है।

(६) **अभिप्लुतार्थ**—अभिप्लुतार्थ का स्वरूपनिर्वचन करते हुए भरत का कथन है—अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत्पदेन समस्यते।

---

१. 'भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥
विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः ॥'—ना० शा०, १६।९०-९१

२. भिन्नार्थं त्रिधा—तत्र मृश्यो दूरसम्बन्धव्यवधाने सति यत्रार्थो यथा ज्वरं···सम्भवम्' इति—अभि० भा०, पृ० ३३२।

३. 'ग्राम्यं यथा—'भद्रे···दास्यामि' इति। वही, पृ० ३३२

४. तृतीयं भिन्नार्थं यथा—'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्युक्त्वा' 'क्वनु···गुणाः' इति। उद्दिष्टं ह्यत्र रावणस्यानुपादेयत्वं क्व नु पुनरित्यनेनान्यथाकरणाद्भेदितम्। वही, पृ० ३३२

५. 'अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्।'—ना० शा०, १६।९२ पूर्वार्द्ध

६. 'एकार्थं यथा कुन्देन्दुहारहरहासहसितम्' इति। एकप्रयोजनं हि सर्वमेतत्। न हि काव्यं शास्त्रवदुपदेश्यं कश्चित्किञ्चिज्जानीयादिति प्रवर्तते।' —अभि० भा०, पृ० ३३२

किन्तु उनके इस कथन से उक्त दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। अभिनवगुप्त ने इस दोष का जो उदाहरण दिया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि इसमें 'यत्पदेन समस्यते' के स्थान पर 'यत्पादेन समाप्यते' रहा होगा। इस प्रकार यह दोष वहाँ होगा जहाँ हर पाद के साथ एक अर्थ की समाप्ति हो जाय। इस प्रकार पूरे श्लोक में एक-दूसरे से असम्बद्ध अनेक अर्थ हो जायँगे। जैसे कि इस उदाहरण श्लोक में—

स राजा नीतिकुशलः सरः कुमुदशोभितम्।
सर्वप्रिया वसन्तश्रीर्ग्रीष्मे मालतिकागमः॥

इसमें प्रत्येक पाद के साथ अर्थ के समाप्त हो जाने के कारण पूरे श्लोक की एकार्थता नहीं बनती।[1]

(७) न्यायादपेत[2]—प्रमाणविरुद्ध कथन न्यायादपेत नामक काव्यदोष कहलाता है। जैसे—

सुवीरेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता।
अक्षेटनारिकेलाढ्या यस्याः पर्यन्तभूमयः॥[3]

यहाँ पर मथुरा नगरी का वर्णन अप्रामाणिक है, इसलिए कि मथुरा नगरी न तो सौवीर प्रान्त में है और न ही उसकी भूमि अक्षेट एवं नारिकेलबहुल है। अतः न्यायादपेत दोष हुआ।

(८) विषम—वृत्त का भेद विषम नामक दोष है। अभिनव ने इस दोष का अधोलिखित उद्धरण दिया।[4]

'अयि पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालधारिणीम्॥'

यह श्लोक वैतालीय वृत्त में लिखा गया है, किन्तु उसका लक्षण पूर्णतया इसमें घटित नहीं होता, अतः विषम दोष है।

(९) विसन्धि—भरत इस दोष का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

'अनुपश्लिष्टशब्दं यत्तद्विसन्धीति कीर्तितम्।[5]

उनके इस लक्षण से इस दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि व्याकरणात्मक सन्धिरहित तथा व्याकरण की दृष्टि से गलत सन्धि के स्थल इसके उदाहरण होंगे।

(१०) शब्दच्युत—भरतकृत इस दोष का लक्षण है—

'शब्दच्युतं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात्।[6]

---

१. अभिप्लुप्तार्थं यथा—
'स राजा···मालतिकागमः॥ अत्र प्रतिपादमर्थस्य परिसमाप्तत्वादभिप्लुतत्वं, एकवाक्येन निमज्जनाभावात्।' अभि० भा०, पृ० ३३२

२. 'न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्'—ना० शा०, १६।९३ पूर्वार्द्ध

३. अभिनवभारती, पृ० ३३३

४. वही, पृ० ३३३

५. भरत का ना० शा०, १६।९४ पूर्वार्द्ध

६. वही, १६।९४ उत्तरार्द्ध

स्पष्ट है कि अशब्दों की योजना के फलस्वरूप इस दोष की उत्पत्ति होती है। अशब्द के दो अर्थ लिए जा सकते हैं--(१) व्याकरण की दृष्टि से असाधु शब्द, (२) वे शब्द जो कि व्याकरणात्मक दृष्टि से साधु होते हुए भी तथा उस अर्थ के वाचक होते हुए भी कवि के अभीष्ट अर्थ की व्यञ्जना कराने में असमर्थ हों, क्योंकि काव्यजगत में ऐसी मान्यता है कि अन्य पर्यायों के रहते हुए भी कवि के विवक्षितार्थ का वाचक कोश में एक ही शब्द हुआ करता है।[1] जैसे कालिदास के 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' श्लोकार्ध में 'कपालिनः' से जिस अर्थ की व्यञ्जना होती है, 'पिनाकिनः' शब्द उस अर्थ को नहीं दे सकता। फलस्वरूप 'कपालिनः' का पर्यायवाची होने पर भी तथा इसके प्रयोग से छन्दोभङ्ग के लिए कोई अवकाश न होने पर भी कवि ने 'कपालिनः' का ही प्रयोग किया है, 'पिनाकिनः' का नहीं इसलिए कि पिनाकी शब्द विवक्षितार्थ की व्यञ्जना न करा पाने के कारण प्रकृत प्रसङ्ग में अशब्द है।

भरत के उक्त दोष-विवेचन के सम्बन्ध में ये तथ्य अवधेय हैं--

प्रथमतः तो यह कुछ सीमित दोषों का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन है—परिगणन एवं प्रत्येक का स्वरूपकथनमात्र। उदाहरण के द्वारा स्पष्टीकरण भी भरत ने नहीं किया है। प्रकृत प्रबन्ध में जो उदाहरण उनके दोषों के प्रस्तुत किए गए हैं वे सब अभिनवभारतीकार के हैं, जिनमें से अधिकांश उन्होंने वामन के काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति से भिन्न नाम से निर्दिष्ट काव्यदोषों से लिया है।

दूसरी बात यह है कि भरत ने काव्यसामान्य का लक्षण नहीं किया है, केवल दोषों के परिगणनपूर्वक उन उन विशिष्ट दोषों के लक्षण दिए हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने किया है, भरत दोषों का पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत अथवा रसगत विभाजन नहीं करते। चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि वे दोषों को अभावरूप न मानकर भावरूप मानते हैं।[2]

(२) **भामह**--भरत के अनन्तर स्वतन्त्ररूप से काव्यशास्त्र पर ही लिखे गए ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें दोषगुणालङ्कारादि काव्य के विविध उपादानों की विस्तृत मीमांसा मिलती है। ऐसे ग्रन्थों में कालक्रमानुसार भामह के काव्यालङ्कार का प्रथम स्थान है।

भामह ने अपने इस ग्रन्थ में काव्य के लिए आवश्यक विविध उपादानों के विस्तृत विवेचन के साथ काव्यगत दोषों का भी विवेचन किया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही वे काव्य में दोषाभाव की आवश्यकता का प्रतिपादन जोरदार शब्दों में करते हैं।[3]

---

१. (क) 'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि' --वक्रोक्तिजीवित १।९
(ख) द्र० १।

२. 'एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥' ना० शा०, १६।८५

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणां हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुः मनीषिणः ॥ काव्या० १।११-१२

अनन्तर वे दोष-सामान्य का लक्षण बिना दिए हुए दोषों का विवेचन करते हैं। दोष-विषयक यह विवेचन सम्पूर्ण काव्यालङ्कार में चार स्थलों पर उपलब्ध होता है। सर्व-प्रथम वे प्रथम परिच्छेद की ३७ वीं कारिका में ६ दोषों के परिगणनपूर्वक उनका स्वरूप निरूपण करते हैं। अनन्तर ४७ वीं कारिका में वाणी के ४ दोषों का परिगणन तथा आगे उनका विवेचन करते हैं। ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में वे उपमा के साथ दोषों का निरूपण करते हैं और अन्त में चतुर्थ परिच्छेद में वे ११ दोषों का निरूपण करते हैं।[1]

भामह के इस दोष-विवेचन में दोषों की संख्या की वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु उनके इस विवेचन का आधार भरतकृत दोष-विवेचन को माना जा सकता है, इसलिए कि इनके अधिकांश दोष भरत के दोषों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः इस साम्य को संयोग कहकर इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उपमा-दोष-निरूपण के प्रसङ्ग में भामह यह स्पष्ट कहते हैं कि ये सात दोष मेधावी द्वारा कहे गए हैं पर अन्य दोषों के निरूपण के अवसर पर वे ऐसा कुछ नहीं कहते, जिससे कि उपर्युक्त धारणा को बल मिले। साथ ही दोनों के प्रतिपादन-शैली में भी भेद है। जहाँ भरत ने दोषों का परि-गणन एवं उनका लक्षण करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली है भामह ने अधिकांश दोषों का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है, कुछ दोष (जैसे पुनरुक्त) का परिहार-प्रकार भी बताया है पर उनका यह वैशिष्ट्य निश्चित रूप से दोष-विवेचन के विकास का अनिवार्य परिणाम है।

भामह के द्वारा क्लिष्ट एवं अन्यार्थ दोष के रूप में उदाहृत उदाहरणों से यह सुस्पष्ट है कि इनका अन्तर्भाव भरत के शब्दच्युत नामक दोष के अन्तर्गत हो जायगा।[2] वस्तुतः उदाहरण वाक्य में 'विजह्रुः' एव 'विकृतं' क्रियायें कवि के विवक्षितार्थ को देने में असमर्थ होने के कारण व्याकरणात्मक भूल के अन्तर्गत अतश्च भरत के अनुसार शब्दच्युत दोष के अन्तर्गत आएँगी। भामह का अवाचक दोष भरत के गूढार्थ से अभिन्न है। इसी प्रकार गूढशब्दाभिधान भरत के गूढार्थ में ही अन्तर्भूत हो जायगा, इसलिए

---

१. (क) नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ॥ १।३७॥

(ख) श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुः वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥ १।४७॥

(ग) हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचो भेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥ २।३९॥
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। २।४० पूर्वार्द्ध

(घ) अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तंविसन्धि च ॥ ४।१
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ ४।२

२. 'क्लिष्टं व्यवहितं विद्यादन्यार्थं विगमे यथा
विजह्रुस्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विकृतं च तत् ॥ काव्या० १।४०

कि पृथक्-पृथक् निर्देश, लक्षण तथा उदाहरण होने पर भी भामह के इन दोषों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।[१] भामह का अर्थदुष्ट भरत का भिन्नार्थ नामक दोष है, इसलिए कि जिस वाक्य के बोलने पर शब्दों से विवक्षित अर्थ के साथ साथ असभ्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह दोष होता है[२] और भरत भी ऐसे स्थलों पर भिन्नार्थ मानते हैं। भामह का अपार्थक भरत के अभिप्लुतार्थ से भिन्न नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण श्लोक के एकार्थता के अभाव में भामह इस दोष को मानते हैं[३] और भरत ने भी कहा हैं—'अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत्पादेन समाप्यते'। भामह का शब्दहीन[४] भरत के शब्दच्युत दोष से भिन्न नहीं है। यतिभ्रष्ट दोष अवश्य भामह की कल्पना है, किन्तु यह भरत के विषम नामक दोष का विकास कहा जा सकता है। भिन्नवृत्त[५] नामक दोष भरत के विषम नामक दोष से भिन्न नहीं है तथा विसन्धि दोष का भामह लक्षण नहीं करते केवल उदाहरण देते हैं। पर उसी से स्पष्ट है कि उनका यह दोष भरत का विसन्धि दोष ही है।[६] इनके अतिरिक्त भामह का देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी, आगम विरोधी, प्रतिज्ञाहेतु तथा दृष्टान्त-हीनादि दोष भरत के न्यायादपेत का विस्तारमात्र है। यहाँ पर यह अवधेय है कि भामह जिस न्यायविरोधी का विवेचन करते हैं वह भरत के न्यायादपेत का एक भेदमात्र है, इसलिए कि भरत का 'न्याय' प्रमाणवाचक होता हुआ एक व्यापक शब्द है, जब कि भामह का 'न्याय' त्रिवर्गनिरूपक शास्त्रों एवं दण्डनीति का वाचक होने के कारण[७] सङ्कुचित है। शास्त्र एवं लोक के विरुद्ध प्रतिपादित हर कथन प्रमाण-विरुद्ध में अन्तर्भूत हो जाता है।

---

१. हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्
 साक्षाद्रूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते। वही, १।४१
 गूढशब्दाभिधानं च न प्रयोज्यं कथञ्चन
 सुधियामपि नैवेदमुपकाराय कल्पते॥ वही, १।४५

२. अर्थदुष्टं पुनर्ज्ञेयं यत्रोक्ते जायते गतिः।
 असभ्यवस्तुविषया शब्दैस्तद्वाचिभिर्यथा॥ वही, १।५०

३. समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते।
 दाडिमानि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम्॥ वही, ४।८

४. सूत्रकृत्पदकारेष्ट प्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्।
 तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा॥
 स्फुरत्तडिद्वलयिनो वितताम्भोगरीयसः।
 तेजस्तिरयतः सौरं घनान् पश्य दिवोऽभितः॥ वही, ४।२२-२३

५. गुरोर्लघोश्च वर्गस्य योऽस्थाने रचनाविधिः
 तन्न्यूनाधिकता वापि भिन्नवृत्तमिदं यथा॥ वही, ४।२६

६. कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
 पातां वः शम्भुशर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः॥ वही, ४।२८

७. न्यायः शास्त्रं त्रिवर्गोक्तिर्दण्डनीतिञ्च तां विदुः
 अतो न्यायविरोधीष्टमपेतं यत्तया यथा॥ —वही, ४।३९

पर भामह द्वारा विवृत कुछ दोष निस्संदेह मौलिक हैं। नेयार्थ दोष की कल्पना उनकी अपनी है, अतः इसे भरत के गूढार्थ नामक दोष से अभिन्न बताना भ्रामक है।[1] पर्यायशब्दाभिहित गूढ होता है, जब कि नेयार्थ दोष के स्थल वे हैं जहाँ शब्द न्याय के अनुकूल नहीं होने से सङ्गत अर्थ, अपने अभिप्राय के अनुसार विद्वानों को किसी प्रकार बलपूर्वक निकालना पड़े।[2] इसी प्रकार अयुक्तिमत् दोष भी भामह का अपना है। मेघ, पवन, चन्द्रमा, भ्रमर, हारीत, चक्रवाक, शुक आदि का दूत बनाना अयुक्तिमत् दोष है, क्योंकि वाणी-विहीन अथवा अस्पष्ट वाणी वाले दूर तक विचरण कर दूतकर्म कैसे कर सकते हैं।[3] इनके अतिरिक्त श्रुतिदुष्ट, कल्पनादुष्ट एवं श्रुतिकष्ट की कल्पना भी भामह की मौलिक उद्भावना है। इनमें श्रुतिदुष्ट दोष ऐसे शब्दों के प्रयोग के फलस्वरूप होता है, जिनसे उनके अपने अर्थ के साथ-साथ एक अश्लील अर्थ की प्रतीति हो, जैसे विट्वर्चस् विष्ठित क्लिन्न आदि।[4] कल्पनादुष्ट वहाँ होता है जहाँ दो शब्दों के मेल से किसी अनिष्ट अर्थ की प्रतीति हो रही हो[5] तथा श्रुतिकष्ट दोष अजिह्लदत् जैसे कर्णकटु शब्दों के फलस्वरूप होता है।[6] चतुर्थ परिच्छेद में विविक्त व्यर्थ, एकार्थ, (पुनरुक्त) संशय तथा अपक्रम दोष नये हैं। यदि वक्ता द्वारा कहे गए पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अर्थ में विरोध के फलस्वरूप विपर्यय हो जाय तो व्यर्थ दोष होता है, जैसे कि इस कथन में—

सखि मानं प्रिये धेहि लघुतामस्य मा गमः।
भर्त्तुश्छन्दानुवर्त्तिन्यः प्रेम घ्नन्ति न हि स्त्रियः॥[7]

---

१. 'भामह' s नेयार्थ is clearly the गूढार्थ of Bharata'...Bhoja's शृङ्गारप्रकाश — V. Raghvan p. 224

२. नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।
शब्दन्यायानुपारूढः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिना॥ काव्या० १।३८

३. अयुक्तिमत् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥ वही, १।४२, ४३।

४. विड्वर्चोविष्ठितक्लिन्नच्छिन्नवान्तप्रवृत्तयः।
प्रचारर्धितोद्गारविसर्गहृदयन्विताः॥
हिरण्यरेताः सम्बाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः।
वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः॥ वही, १।४८, ४९

५. पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्पते।
तदाहुः कल्पनादुष्टं स शौर्याभरणा यथा॥ वही, १।५२

६. यथाऽजिह्लददित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः।
न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरे किल॥ वही, १।५३

७. विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते।
पूर्वापूरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा।
सखिमानं......स्त्रियः॥ वही, ४।९-१०

एकार्थ दोष का विवेचन भरत ने भी किया है किन्तु नाम्ना साम्य होने पर भी भामह का एकार्थ भरत के एकार्थ से स्वरूपतः भिन्न है। भरत का एकार्थ पुनरुक्ति नहीं है, जब कि भामह का एकार्थ से तात्पर्य अर्थपौनरुक्त्य से है।[1] एकार्थ का उदाहरण है—

तामुत्कमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्बताम्।
सौधेषु घनमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम्॥

इस उदाहरण में 'उत्कमनसं' में अर्थ की पुनरुक्ति है, इसलिए कि 'उत्क' का अर्थ ही होता है उत्कण्ठित और उत्कण्ठा मन का धर्म है अतः 'उत्कं' कहने से ही कार्य की सिद्धि हो जाने से 'मनस्' का प्रयोग पुनरुक्तिमात्र है।

साधारण धर्मों के सुनने और विशेष धर्मों के न सुनने से जो ज्ञान अनिश्चित रह जाय उसे संशय कहते हैं। अतः उस संशय के उत्पादक वचन को ससंशय कहेंगे जैसे इस वाक्य में—

व्यालवन्तो दुरारोहा रत्नवन्तः फलान्विताः।
विषमा भूभृतस्तेभ्यो भयमाशु प्रमादिनाम्॥

इस पद्य में सारे धर्म उभयनिष्ठ हैं। अतः यह निश्चय नहीं हो पाता कि वस्तुतः यहाँ राजा विवक्षित है अथवा पर्वत। अतः यह ससंशय दोष का उदाहरण हुआ।[2]

जिस क्रम से वस्तुओं का निर्देश हो चुका है तत्सम्बद्ध वस्तुओं का भी उसी क्रम में निर्देश न होना अपक्रम दोष कहलाता है। जैसे—

विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥

इस श्लोक में विष्णु एवं शङ्कर के धर्मों का उल्लेख जिस क्रम से है, उसी क्रम से उनका उल्लेख न होने से अपक्रम दोष हुआ।[3]

इस प्रकार भरत द्वारा विवेचित दोषों के परिवर्धन के साथ साथ भामह श्रुति-दुष्टादिक तथा पुनरुक्त दोष के गुण हा जाने के स्थल का भी निर्देश करते हैं[4] जो काव्यगतदोष-विवेचन को उनकी बहुत बड़ी देन है, इसलिए कि मम्मटादिक परवर्ती आचार्यों की नित्यानित्य दोषों की विभाग-व्यवस्था भामह की इस उद्भावना पर ही आधारित है। दोष-सामान्य का लक्षण भरत की भाँति ही भामह ने भी नहीं किया है।

दण्डी—भामह की ही सरणि पर दण्डी भी काव्य में दोष-हानि को अनिवार्य बताते हैं[5] और काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद के अन्त में भामह द्वारा चतुर्थ परिच्छेद

---

१ यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते।
पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः।
अत्रार्थपुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते।
उक्तस्य पुनराख्याने कार्यासम्भवतो यथा॥ वही, ४।१२, १५

२. वही, ४।१७, १८, १९

३. वही, ४।२०-२१

४. वही, १।५४, ५५ तथा ४।१४

५. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ काव्यादर्श १।७

में ही निरूपित प्रथम दश दोषों का उसी क्रम से परिगणन करने के अनन्तर[1] उनमें से प्रत्येक का अलग-अलग स्वरूप स्पष्ट करते हैं। दण्डी के ये दश दोष भामह के उपरि-निर्दिष्ट दश दोषों के साथ न केवल नाम्ना साम्य रखते हैं अपितु स्वरूपतः भी ये उनसे अभिन्न हैं। उनमें से कुछ दोषों में तो पदावली का साम्य भी स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु दण्डी का यह दोष-विवेचन अधिक विकसित इस अर्थ में है कि जहाँ भामह के दोष-विवेचन में किसी किसी दोष का उदाहरण ही है, लक्षण नहीं, दण्डी ने बिना किसी अपवाद के हर दोष का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही दिया है। साथ ही भामह ने दोष के परिहार का उल्लेख केवल दो दोषों के प्रसङ्ग में किया है पर दण्डी ने भिन्नवृत्त नामक दोष को छोड़कर शेष सभी दोषों की गुणरूपता के स्थलों का निर्देश किया है। भामह द्वारा चतुर्थ परिच्छेद में ही परिगणित प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्तहीन नामक दोष को, तद्विषयक विचार को कर्कश बताते हुए, दण्डी नहीं अपनाते।[2]

'काव्यालङ्कार' के प्रथम परिच्छेद में निरूपित भामह के दश काव्य-दोषों का उल्लेख एवं उनका स्वरूप-निरूपण दण्डी नहीं करते, किन्तु काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में वैदर्भमार्ग के श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति एवं समाधि नामक दश गुणों के निरूपण के प्रसङ्ग में उन्होंने कुछ दोषों का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ दोष भामह द्वारा प्रथम परिच्छेद में निर्दिष्ट कुछ दोषों से साम्य रखते हैं।

दण्डी ने श्लेष गुण को शैथिल्याभावरूप प्रतिपादित किया है। जिससे यह व्यञ्जित होता है कि शैथिल्य वैदर्भमार्ग के लिए दोष है तथा यह अल्पप्राण अक्षरों के आधिक्य के फलस्वरूप होता है। जैसे 'मालतीमाला' तथा 'लोलालिकलिला' पद शिथिल पद कहे जायँगे।[3]

इसी प्रकार गौडमार्गानुयायियों के द्वारा मान्य, लोक-व्यवहार में अप्रसिद्ध तथा व्युत्पन्न प्रयोग भी प्रसादगुण का विपर्ययरूप होने से वैदर्भ-मार्ग के लिए दोष है तथा इस प्रकार के प्रयोग अनतिरूढ़ नामक दोष कहलाएँगे। जैसे 'अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः' जैसे प्रयोग।[4] निश्चित रूप से ये दोनों दोष दण्डी के अपने हैं।

दण्डी के अनुसार रसयुक्त की मधुर संज्ञा है[5] तथा अर्थ में इस रस का सञ्चार

१. वही, ३।१२५, १२६

२. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥ वही, ३।१२७

३. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।
शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा॥ वही, १।४३

४. प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः॥
व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते।
यथानत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः॥ वही, १।४५-४६

५. 'मधुरं रसवद्'...—वही, १।५१

सभी अलङ्कारों द्वारा होता है, तथापि इसका उत्तरदायित्व ग्राम्यता दोष के अभाव पर अधिक है।[१] जैसे –

'कन्ये कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम्।' वाक्य के अर्थ के स्वरूप में ग्राम्यता है। अतः इस अर्थ में सरसता का अभाव है।[२] यह ग्राम्यता दोष केवल अर्थ में नहीं होता, अपितु अशिष्ट शब्दों के कथन में भी होता है, जैसे रति-उत्सव के वर्णन में यकार से आरम्भ हुए पदों का कथन।[३] 'सुरत' आदि शब्द शिष्ट-समाज द्वारा आदृत होने के नाते ग्राम्यतारहित है किन्तु इसी अर्थ के वाचक 'यमन्' आदि पदों का प्रयोग ग्राम्यता की श्रेणी में आता है। यह ग्राम्यता दोष कुछ पदों के योग से अथवा सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ द्वारा भी दुष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकता है, जैसे 'या भवतः प्रिया' कथन[४] में 'या' एवं 'भवतः' के सयोग से 'यभ् मैथुने' धातु के द्वारा दुष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, जो ग्राम्यता दोष से युक्त है। अतः पदों के सान्निध्य से उद्भूत ग्राम्यता दोष के कारण यहाँ माधुर्य गुण का अभाव हो रहा है। इसी प्रकार 'खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान्' इस सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ द्वारा भी एक ग्राम्य अर्थ की व्यञ्जना हो रही है[५] अतः ऐसे प्रयोग हेय हैं।

माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट अर्थ-ग्राम्यता तथा शब्द-ग्राम्यता दोषों के इस निरूपण एवं उनके उदाहरणों के पर्यालोचन से यह सुस्पष्ट है कि भामह के कई दोष इनमें अन्तर्भूत हो सकते हैं। वस्तुतः भामह के श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट तथा कल्पनादुष्ट ये तीनों ही दण्डी के शब्द-ग्राम्यता दोष से अभिन्न हैं।

दण्डी के अनुसार अकर्णकटु तथा कोमल अक्षरों से युक्त वाक्य सुकुमारगुण-विशिष्ट होता है।[६] स्पष्ट है कि इसके विपरीत रचित वाक्य दोष होगा तथा इस दोष का उल्लेख दण्डी दीप्तत्व अथवा कृच्छ्रोद्यत्व नाम से करते हैं तथा उदाहरणरूपेण 'न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति' को उद्धृत करते हैं,[७] जिसे भामह के श्रुतिकष्ट की श्रेणी में सरलता से गिनाया जा सकता है।

अर्थव्यक्ति गुण को दण्डी ने अर्थ के नेयत्वाभावरूप प्रतिपादित किया है[८] अतः स्पष्ट है कि इस गुण का विपर्यय अर्थनेयत्व दोष है जो कि भामह के नेयार्थ दोष से भिन्न नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि इनके नेयार्थ दोष के अन्तर्गत वे स्थल भी आते हैं जहाँ वाक्य का अर्थ निकालने के लिए अध्याहार का आश्रय लेना पड़े।[९]

१. काव्यादर्श, १।६२
२. वही, १।६३
३. वही, १।६५
४. वही, १।६६
५. वही, १।६७
६. वही, १।६९
७. वही, १।७२
८. वही, १।७३
९. वही, १।७३, ७४

लौकिक अर्थों के अनतिक्रमणपूर्वक लोकप्रसिद्धि के अनुरूप वस्तु का वर्णन दण्डी के अनुसार कान्तिगुण है[1] अतः भामह के अयुक्तिमत् को तद्विपर्ययरूप स्वीकार किया जा सकता है।

दण्डीकृत इस दोष-विवेचन से स्पष्ट है कि दोष-विषयक मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने अधिकतर भामह का ही अनुकरण किया है।

वामन—काव्यगत दोषों के इतिहास में प्रथम बार वामन के काव्यालङ्कार-सूत्र वृत्ति में दोषों का सुव्यवस्थित वर्णन मिलता है इसलिए कि दोषों की विभागव्यवस्था-पूर्वक निरूपण करने वाले ये प्रथम आचार्य हैं। जैसा कि पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है, दोष-निरूपण की परम्परा का आरम्भ तो भरत मुनि से ही हो जाता है तथा भामह एवं दण्डी उस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं, किञ्चित् परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ। साथ ही ये आचार्य काव्य में दोष-राहित्य की अनिवार्यता का भी प्रतिपादन करते हैं, किन्तु यह दोष-हान काव्य में आवश्यक क्यों है, इस तथ्य का प्रतिपादन सर्वप्रथम वामन ने ही किया। उनकी मान्यता है कि काव्य अलङ्कार के योग से उपादेय हो सकता है, अलङ्कार का अर्थ है, सौन्दर्य और काव्य में यह सौन्दर्याधान दोषहान तथा गुण एवं अलङ्कारों के उपादान से ही सम्भव है।[2] भामह एव दण्डी के दोष विषयक अधिकांश मान्यताओं को ज्यों का त्यों अपनाते हुए भी ये प्रथम आचार्य हैं, जिसने दोषसामान्य का लक्षण किया और भरत की मान्यता के विपरीत उसकी गुणाभावरूपता का प्रतिपादन किया।[3]

अपने ग्रन्थ के सम्पूर्ण द्वितीयाधिकरण में वे दोषो का विवेचन करते हैं। इस अधिकरण के प्रथम अध्याय में तो पद एवं पदार्थगत दोषों का निरूपण है तथा द्वितीय अध्याय में वाक्य एवं वाक्यार्थगत दोषों का निरूपण। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह एवं दण्डी को भी दोषों के शब्दगत तथा अर्थगत होने का आभास था, इसलिए कि काव्यालङ्कार के प्रथम अध्याय में वे श्रुतिदुष्ट एवं अर्थदुष्ट दोषों का अलग-अलग उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ अध्याय में एकार्थ अथवा पुनरुक्त दोष के प्रसङ्ग में वे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि पुनरुक्त शब्दार्थभेद से द्विविध होता है।[4] दण्डी ने भी भामह की ही सरणि पर पुनरुक्त दोष के प्रसङ्ग में शब्दतः एवं अर्थतः उसकी द्विविधता की ही पुनरावृत्ति की थी पर इन आचार्यों ने शब्दगत एवं अर्थगत दोषों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची थी। वामन के दोष-विषयक विवेचन की यह मौलिकता है कि उन्होंने दोषों का वर्गीकरण किया।

---

१. 'कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।' वही, १।८५ पूर्वार्द्ध
तथा 'कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥' वही, १।८८

२. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।'—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १।१।१, २,३।

३. 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः'—वही, २।१।१

४. पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः—काव्यालङ्कार ४।१२
न शब्दःपुनरुक्तं तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते। वही, ४।१३
....
अत्रार्थपुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते'। वही, ४।१५

सर्वप्रथम वे पदगत दोषों का उल्लेख एवं स्वरूप-निरूपण करते हैं उनके अनुसार पदगत दोष ये हैं—

(१) असाधु, (२) कष्टप्रद, (३) ग्राम्य, (४) अप्रतीत और (५) अनर्थक। इनमें से असाधु दोष भामह दण्डी का शब्दहीन है, कष्टपद भामह का श्रुतिकष्ट तथा दण्डी का दीप्तत्व अथवा कृच्छ्रोद्यत्व दोष है, ग्राम्य दोष भरत के भिन्नार्थ दोष से अभिन्न है है और भामह भी ग्राम्य दोष का लक्षण तो नहीं करते पर श्रुतिकष्ट नामक दोष के निरूपण के अवसर पर वे गण्ड जैसे ग्राम्य शब्द को हेय बताते हैं।[1] अन्तिम दो दोष वामन की देन हैं। इनमें से अप्रतीत दोष ऐसे पदों के प्रयोग के फलस्वरूप होता है, जो केवल शास्त्रों में प्रयुक्त होते हैं[2] लोक में नहीं तथा अनर्थक दोष के अन्तर्गत पादपूरणार्थ प्रयुक्त अव्यय तावत्, तु इत्यादि तथा निष्प्रयोजन-प्रयुक्त अन्यपद भी आ जाते हैं।[3]

वामन द्वारा पदार्थ-दोष के रूप में निरूपित दोष हैं—(१) अन्यार्थ, (२) नेयार्थ, (३) गूढ़ार्थ, (४) अश्लील तथा (५) क्लिष्ट।

इनमें से अन्यार्थ दोष भामह के अन्यार्थ से अभिन्न है तथा नेयार्थ भामह के नेयार्थ की अपेक्षा भरत के गूढ़ार्थ के अधिक निकट है, अतः वामन के नेयार्थ को भामह के नेयार्थ से अभिन्न बताना ठीक नहीं।[4] भामह के नेयार्थ दोषयुक्त पद का अर्थ निकालना ही असम्भव है, जब कि वामन के उदाहरण में अर्थ निकल आता है, केवल तत्तद् अर्थों के साक्षात् वाचक शब्दों के अभाव के कारण थोड़ा विलम्ब होता है। वामन का गूढार्थ भामह के गूढ़-शब्दाभिधान से नाम्ना साम्य रखते हुए भी उससे भिन्न है। किसी शब्द के प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दोनों ही अर्थ होने पर अप्रसिद्ध अर्थ में उस शब्द का प्रयोग होने पर गूढार्थ दोष होता है।[5] अतः इस दोष की कल्पना वामन की अपनी है।

वामन का अश्लील भामह का श्रुतिदुष्ट एवं कल्पनादुष्ट है पर वामन का अश्लील-दोष-विषयक विवेचन भामह के विवेचन की अपेक्षा अधिक विकसित एवं विस्तृत

---

१. न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरे किल। वही १।५३

२. शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् ।२।१।८ शास्त्र एव प्रयुक्तं यन्न लोके तदप्रतीतम् यथा 'किं भावितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः। गुणनान्तरीयकंच प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः' अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे न लोके इत्यप्रतीतम्। काव्या० सू० वृ० पृ० ७३

३. पूरणार्थमनर्थकम्—२।१।९—पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम्। दण्डापूपन्यायेन-पदमन्यदप्यनर्थकमेव। यथा—

'उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं, तिमिरं निपीय किरणैः सविता।' अत्र 'तु' शब्दस्य पादपूरणार्थमेव प्रयोगः न वाक्यालङ्कारार्थम्।—वही, पृ० ७५

४. वामन's अन्यार्थ and नेयार्थ are identical with those two flaws in भामह Ch. I, P. 230' Bhoia's शृङ्गारप्रकाश V. Raghavan.

५. अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् २।१।१३ यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्चाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूढार्थम्। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

है। अश्लील दोष के अपवाद एवं त्रिविध भेदों का विवेचन सर्वप्रथम वामन ही करते हैं।[1] वामन तथा भामह के क्लिष्ट दोष के लक्षणों में पदावली का साम्य होने पर भी विचार-भेद है। भामह जिसे क्लिष्ट बताते हैं वहाँ शब्द का वस्तुतः गलत अर्थ में प्रयोग हुआ रहता है। अतः शब्द उस अर्थ को देने में समर्थ नहीं होता पर यहाँ शब्दों से वह अर्थ निकलता है, पर प्रयुक्त शब्द उस अर्थ में रूढ़ नहीं होता अतः अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति थोड़ा विलम्ब से होती है।[2]

वामन के वाक्य-दोष हैं—अश्लील, क्लिष्ट, भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि। अतः वामन के वाक्यदोषों की संख्या केवल तीन बताना भ्रामक है।[3] इनमें अश्लील दोष को भामह का अर्थदुष्ट कहा जा सकता। भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट भी भामह के इन दोषों से अभिन्न हैं पर यतिभ्रष्ट का विवेचन भामह की अपेक्षा विशद है। वामन विसन्धि दोष के तीन विभाग करते हैं—सन्धि का अभाव, सन्धिजन्य अश्लीलत्व तथा सन्धिजन्य श्रुति-कष्टत्व। इनमें सन्ध्यभाव तो भामह का विसन्धि है तथा सन्धि-जन्य-अश्लीलत्व भामह का कल्पनादुष्ट है एवं सन्धि-जन्य श्रुतिकष्ट भामह के श्रुतिदुष्ट के निकट है। वामन की क्लिष्ट दोष की धारणा भी भामह की धारणा से भिन्न है। इनके अनुसार क्लिष्ट दोष वहाँ होता है जहाँ दूरान्वय के कारण वाक्य का अर्थ कठिनाई से समझ में आए। स्वरूपतः यह भरत के भिन्नार्थ के निकट पड़ता है।

वामन ने वाक्यार्थ-दोष सात बताए हैं, ये हैं—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त अपक्रम, लोक-विरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध। इनमें से व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अपक्रम तथा लोक एवं विद्याविरुद्ध दोषों का विवेचन भामह एवं दण्डी पहले ही कर चुके हैं। एकार्थ के प्रसङ्ग में महाकवियों द्वारा प्रयुक्त एकार्थ दोष का जो समाधान वामन ने दिखाया है वह सराहनीय है। अप्रयुक्त दोष का वामन केवल लक्षण देते हैं। इस दोष की संख्या कम बताते हुए वे इसका उदाहरण नहीं देते। लक्षण से उक्त दोष का स्वरूप पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो पाता।

रुद्रट—काव्यालङ्कार के द्वितीय अध्याय के आठवें श्लोक में रुद्रट ने सात वाक्यगुणों का उल्लेख किया है, जिनके विपर्ययरूप में ७ पदवाक्य दोषों का बोध होता है। नमिसाधु ने अपनी टीका में इन सातों दोषों का उल्लेख किया है, ये हैं—

(१) न्यूनपद, (२) अधिकपद, (३) अवाचक पद, (४) अपक्रम, (५) अपुष्टार्थ, (६) अशब्द, और (७) अचारुपद।

न्यूनपद दोष वहाँ होता है जहाँ वाक्य में किसी पद के अभाव के कारण दुष्ट अर्थ की प्रतीति हो अथवा विवक्षितार्थ की प्रतीति ही न हो। रुद्रट का अधिकपददोष वामन तथा भामह के एकार्थ दोष का ही नामान्तरमात्र है। वाचक शब्दों के प्रयोग के

---

१. 'असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम्' २।१।१४ तथा न 'गुप्तलक्षितसंवृतानि' ।२।१।१५ अपवादार्थमिदम्। गुप्तं लक्षितं संवृतञ्च नाश्लीलम्। तथा—'तत्त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात्—२।१।१६ वही।

२. व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टं।२।१।२०, अरूढार्थत्वात् २।१।२१ वही

३. भोज's शृङ्गारप्रकाश—वी राघवन, पृ० २२८

अभाव में वाक्यगत अवाचकपद दोष होता है। भामह अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ही इस दोष का इसी नाम से उल्लेख कर चुके हैं। अपक्रम दोष से दुष्ट वे वाक्य कहलाएँगे जिनमें व्याकरण की दृष्टि से 'इति' आदिक शब्दों का उचित स्थान पर सन्निवेश न होने के कारण अर्थ के गलत हो जाने की आशङ्का हो। अपुष्टार्थ दोष वहाँ होता है, जहाँ बिना किसी अभिप्राय के बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ हो, जैसे त्रिलोचन शब्द के स्थान पर द्वादशार्धार्धलोचन कहने से किसी अतिरिक्त उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती अतः यहाँ पर अपुष्टार्थ दोष हुआ। पर इसे अधिकपद दोष का भेदमात्र बताना भ्रामक है।[1] इसलिए कि अधिकपद दोष पुनरुक्तिदोष है, जब कि यहाँ पुनरुक्ति के लिए अवकाश नहीं है। यहाँ प्रश्न है, ऐसे पर्याय के प्रयोग का, जिसमें शब्द तो बहुत हों पर उनसे किसी अतिरिक्त उद्देश्य की सिद्धि न हो रही हो। अशब्द दोष भामह का शब्दहीन है तथा अचारुपद दोष भामह के श्रुतिकष्ट में अन्तर्भूत हो जाता है।

काव्यालङ्कार के पाँचवें अध्याय में शब्दालङ्कारों के निरूपण के अनन्तर रुद्रट छठें अध्याय में शब्द-दोषों का विवेचन करते हैं और स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि अन्यूनाधिकादि जिन पदवाक्यस्थ दोषों का विवेचन पहले हो चुका है, उनके अतिरिक्त का विवेचन अतिव्याप्ति-निवारणार्थ प्रस्तुत करते हैं।[2] ये शेष हैं—

असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीतकल्पना, ग्राम्य, अव्युत्पत्ति तथा देश्य। असमर्थ दोष वहाँ होता है जहाँ शब्द उस अर्थविशेष का वाचक होते हुए भी उपसर्गादिक के योग के कारण उस अर्थ को देने में असमर्थ हो जाय, जैसे प्रस्थितः शब्द का 'स्था' धातु के अर्थ में प्रयोग असमर्थ दोष कहलाएगा, इसलिए कि 'प्र' के योग के कारण 'प्रस्थितः' पद का अर्थ 'स्थितः' के अर्थ से विपरीत हो जाता है। अतः प्रस्थितः का 'स्थितः' अर्थ में प्रयोग असमर्थ दोष है।[3] जैसा कि इसके स्वरूप से ही स्पष्ट है, यह भामह एवं वामन का अन्यार्थ दोष है किन्तु रुद्रट असमर्थ के अन्य प्रकारों का भी उल्लेख करते हैं। इनके अनुसार असमर्थ दोष वहाँ भी होगा, जहाँ शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध अर्थ में न होकर अप्रसिद्ध अर्थ में हो जैसे 'हन्ति' क्रिया का गमन अर्थ में प्रयोग।[4] शब्द के प्रवृत्ति-हेतु के विद्यमान होने पर भी रूढ़िवश शब्द यदि वह अर्थ देने में असमर्थ हो तो भी यही दोष होता है, जैसे जलभृत् का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ समुद्र हो सकता है, किन्तु वह केवल 'मेघ' अर्थ में रूढ़ है अतः सागर अर्थ में उसका प्रयोग

---

१. 'अपुष्टार्थ is related to अधिकपद' Bhoja's शृङ्गार प्रकाश page 231

२. पदवाक्यस्थो दोषा वाक्यविशेषप्रयोगनियमेन।
यः परिहृतस्ततोऽन्यस्तदतिव्याप्तिश्च संह्रियते। काव्यालङ्कार—रुद्रट ६।१

३. पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम्।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्यं निमित्तेन॥
धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान्।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ॥ वही, ६।३, ४

४. इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यतेऽतदर्थोऽसौ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति॥ वही, ६।५

असमर्थ दोष होगा ।[1] असमर्थ दोष के इन दोनों ही प्रकारान्तरों का वामन के क्रमशः गूढार्थ एवं अन्यार्थ में ही अन्तर्भाव हो जाता है । यह असमर्थ दोष वहाँ भी होता है, जहाँ शब्द उस अर्थ का वाचक होते हुए भी समानरूप से अन्य अर्थों का वाचक होने के कारण विवक्षित अर्थविशेष का प्रत्यायन कराने में असमर्थ हो ।[2] अप्रतीति दोष वहाँ होता है जहाँ पर युक्तिपूर्वक उस अर्थ में उसका प्रयोग किया गया हो, जिसमें वह रूढ़ न हो । यह अप्रतीत दोष द्विविध होता है—संशयवत् अप्रतीत तथा असंशयाप्रतीत । इस दोष का प्रथम प्रकार वहाँ होता है, जहाँ शब्द रूढ़ि के अभाव में विवक्षितार्थ के साथ-साथ अविवक्षितार्थ की भी प्रतीति करा रहा हो, जैसे अग्नि के लिए हिमहा शब्द का प्रयोग इसलिए कि हिमहा का अर्थ सूर्य भी हो सकता है, अतः वक्ता को क्या विवक्षित है, इसका निर्धारण कठिन है । द्वितीय प्रकार वहाँ होता है जहाँ शब्द निश्चित रूप से एक ही अर्थ दे रहा हो पर रूढ़ि के अभाव के कारण उस शब्द का उस अर्थ में प्रयोग दोष माना जाता हो, जैसे वडवानल के लिए अश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान्' शब्द का प्रयोग ।[3] विसन्धि दोष वामन के विसन्धि नामक वाक्य-दोष से अभिन्न है । जिस पद का विवक्षितार्थ से विरोधी अर्थ निकल रहा हो, वह विपरीत प्रतीति के कारण विपरीत-परिकल्पना नामक पददोष कहलाता है, जैसे 'अकार्यमित्र' पद । यहाँ पर अकारण-बन्धुत्व तो विवक्षितार्थ है पर 'अकार्य' का अर्थ पाप भी होता है, अतः 'पापकर्म में साथ देने वाला' इस अविवक्षित विपरीतार्थ की भी प्रतीति होती है । यह दोष रुद्रट की मौलिक उद्‌भावना है । इसे वामन के सन्दिग्ध दोष से अभिन्न बताना ठीक नहीं,[4] इसलिए कि सन्दिग्ध वस्तुतः वाक्य-दोष है जब कि प्रकृत दोष पददोष है । वहाँ दोष शब्दों के विन्यास से जन्य है जबकि प्रकृत में 'अकार्य' के दोनों अर्थ सम्भव हैं । रुद्रट के अनुसार अनुचित पद ग्राम्य-दोष की श्रेणी में आते हैं और वक्तृभेद एवं विषयभेद से यह ग्राम्यदोष द्विविध होता है । वक्ता भी अधम, मध्यम एवं उत्तम भेद से त्रिविध होते हैं । उत्तम प्रकृति के लोगों द्वारा राजा के लिए 'भगवन्' शब्द का प्रयोग प्रथम प्रकार का ग्राम्य दोष है । रुद्रट के ग्राम्य का द्वितीय भेद वामन के ग्राम्य से अभिन्न है । केवल ग्राम्य दोष का अनौचित्य बताना उचित नहीं प्रतीत होता । वस्तुतः तो सारे ही दोष अनौचित्य की ही श्रेणी में आते हैं । साथ ही रुद्रट के ग्राम्य के प्रथम भेद को ग्राम्य कहा भी नहीं जा सकता । देशीय पदों का प्रयोग देश्य दोष है तथा प्रकृति-प्रत्ययमूलक व्युत्पत्ति से रहित 'भडह' आदि शब्दों का प्रयोग अव्युत्पत्ति नामक दोष है । रुद्रट के अनुसार वाक्य दोष तीन है—(१) सङ्कीर्ण, (२) गर्भित, (३) गतार्थ ।

जिस वाक्य के पद वाक्यान्तर के पदों से मिश्रित होते हैं, वे वाक्य सङ्कीर्ण दोष से दूषित हैं । ऐसे वाक्य या तो अर्थ का बोध ही नहीं कराते और यदि कराते हैं

---

१. वही, ६।६

२. वही, ६।७

३. वही, ६।११-१३

४. विपरीतकल्पना is illustrated by the expression अकार्यमित्र and this is वामन's Sandigdha'—Bhoja's शृङ्गारप्रकाश page 231

तो अनर्थ का बोध कराते हैं। यह दोष वामन के क्लिष्ट दोष जैसा ही है, जिसमें दूरान्वय के कारण अर्थबोध कठिनाई से होता है। जिस वाक्य के मध्य में एक दूसरा वाक्य हो ऐसे वाक्य गर्भित कहलाते हैं तथा इनके अर्थ का बोध कठिनाई से होता है अतः ये दुष्ट वाक्य हैं। जिस वाक्य का अर्थ अथवा प्रयोजन अन्य वाक्यों से गम्य होता है वे गतार्थ के उदाहरण हैं। यह दोष प्रबन्धगत दोष है। निश्चित रूप से अन्तिम दो दोष रुद्रट की उद्भावना हैं।

काव्यालङ्कार के सातवें अध्याय में अन्यथाकरण नामक एक सामान्य अर्थदोष का उल्लेख रुद्रट करते हैं जिसका आशय है कि कविजनों को अकारण देश, कालादि के नियम के विरुद्ध वर्णन नहीं करना चाहिए। स्पष्ट है कि यह दोष भामह दण्डी तथा वामन के देशकालविरुद्ध के अन्तर्गत आ जायगा।

ग्यारहवें अध्याय में रुद्रट ने जिन अर्थ-दोषों का निरूपण किया है वे हैं— अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् तथा अतिमात्र। अपहेतु दोष वहाँ होता है जहाँ कोई अर्थ हेतुत्व को प्राप्त होकर अधिक बलवती युक्ति द्वारा बाधित हो जाय। इस प्रकार रुद्रट परवर्ती आचार्यों में प्रथम है, जिसने भामह के हेतुहीन को मान्यता दी। अप्रतीत दोष स्वरूपतः वामन का गूढ़ार्थ नामक अर्थदोष है। निरागम दोष भामह के आगम-विरोधी से अभिन्न है। बाधयन् पूर्वापरविरोध रूप होने से भामह, दण्डी तथा वामन के व्यर्थ दोष से अभिन्न है। प्रक्रान्तार्थ के लिए अनुपयोगी अर्थ का प्रयोग असम्बद्ध दोष है, जैसे 'ते कीर्तिः बहुफेनं जलधिमुल्लङ्घ्य गता' प्रयोग में यदि बहुफेनत्व जलधि के दुस्तरता में हेतु होता तब तो यह कीर्ति के अतिशय का विस्तार करता किन्तु बात ऐसी है नहीं, अतः बहुफेनं अर्थ अनुपयोगी होने के कारण असम्बद्ध है। यह दोष रुद्रट की अपनी उद्भावना है, अतः इसे वामन के एकार्थ के द्वितीय भेद से अभिन्न बताना भ्रामक है।[1] इसलिए कि वामन के अनुसार उक्तार्थ पद का प्रयोग एकार्थ दोष है जिसे अर्थपुनरुक्ति भी कहा जा सकता है। प्रकृत प्रसङ्ग में पुनरुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, बहुफेनं पद का अर्थ वाक्य में किसी अन्य पद से उक्त नहीं है। वह तो असम्बद्ध केवल इसलिए है कि वाक्य में किसी अतिरिक्त वैशिष्ट्य का आधान न कर पाने के कारण उसकी सार्थकता नहीं है, उसके इस असार्थकता का कारण उक्तार्थता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि वामन ने एकार्थ का कोई भेद नहीं माना है, 'न विशेषः चेद्' वामन के इस सूत्र का अर्थ केवल इतना है कि उक्तार्थ पदों का प्रयोग भी दोष नहीं है, यदि वे पद वाक्य में किसी अतिरिक्त वैशिष्ट्य का आधान करते हैं। रुद्रट के अनुसार व्यवहार, आकार, वेष एवं वचन का देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, वय, स्थान एवं पात्र विषयक अनौचित्य ग्राम्य दोष है। स्पष्ट है कि यह दोष भामहादि का लोकविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध है। अन्य रस के प्रसङ्ग में (क्रमावेत) प्रसङ्ग-विरुद्ध रस का निरूपण विरस दोष है। प्रकृत रस की अत्यधिक वृद्धि भी विरस दोष होता है। अवधेय है कि रस-दोष का उल्लेख प्रथम बार रुद्रट ने ही किया है।

१. 'असम्बद्ध is वामन's एकार्थ of the second variety न विशेषश्चेदेकार्थम्।'
Bhoja's शृं० प्र० p. 232.

अव्यभिचारी गुणादिक छन्द-पूरणार्थ यदि विशेषणरूपेण प्रयुक्त होता है तो तद्वान् दोष होता है। लक्षण से स्पष्ट है कि यह दोष वामन के अनर्थक दोष के अन्तर्गत आ जाता है। लोकप्रसिद्ध सीमा का अतिक्रमण करने वाला अर्थ अतिमात्र दोष होता है तथा यह दण्डी के अयुक्तिमत् दोष से भिन्न नहीं है। इन अर्थ-दोषों के निरूपण के अनन्तर वे असम्बद्ध दोष के अभाव के स्थलों का निर्देश करते हैं और अन्त में भामह दण्डी तथा वामन की ही सरणि पर उपमा दोषों का भी विवेचन करते हैं जिसका उल्लेख प्रकृत में अप्रासङ्गिक होगा, इसलिए कि महिमभट्ट ने अलङ्कारों के दोषों का विवेचन नहीं किया है।

आनन्दवर्धन –आनन्दवर्धन के आविर्भाव के साथ संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में एक नये युग की अवतारणा होती है। भामह दण्डी आदि आचार्यों को रस का आभास तो था पर वे इसे अलङ्कारमात्र समझते थे। शब्द एवं अर्थ के साहित्य को वे काव्य मानते थे। फलस्वरूप उनकी दृष्टि में गुण, अलङ्कार तथा दोषों का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से था। अतः गुणों एवं अलङ्कारों के साथ साथ ये आचार्य शब्द एवं अर्थ के दोषों का भी निरूपण करते हैं। वामन एवं रुद्रट जैसे किञ्चिद् परवर्ती आचार्य इन दोषों का पद, पदार्थ वाक्य, वाक्यार्थ वर्गों में विभाजन भी करते हैं। आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तर्गत रस का स्थान निर्धारित किया और काव्यगत हर तत्त्व का विवेचन रस की दृष्टि से किया। रस को अङ्गी निर्धारित करते हुए वे गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस के साथ स्थापित करते हैं।[1] गुणों की भाँति ही वे दोषों का सम्बन्ध भी रस के साथ ही मानते हैं। अन्यथा दोष के नित्यानित्य-विभाग की व्यवस्था नहीं बनती। श्रुति-दुष्टादिक दोषों को अनित्य केवल इसी आधार पर बताया जाता है कि वे केवल शृङ्गार में हेय हैं। अन्यत्र बीभत्स, रौद्रादिक रसों में वे गुण हैं। इस प्रकार रस के साथ सम्बद्ध कर देने पर ही दोषों को नित्य और अनित्य रूप से विभाजित किया जा सकता है।[2] जो दोष सभी रसों में दोष हैं वे तो नित्य दोष कहलाएँगे जैसे च्युत-संस्कृति आदि दोष तथा जो कुछ में दोष तथा कुछ में गुण होगे वे अनित्य दोष की श्रेणी में आएँगे जैसे श्रुति-दुष्टादिक। शङ्का हो सकती है कि फिर आचार्यों ने पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थगत दोषों का निरूपण कैसे किया है। इसका समाधान ध्वनिवादी आचार्यों के पास यह है कि चूँकि अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए यह दोष अर्थगत भी कहे जाते हैं और शब्द अर्थ तथा रस दोनों के लिए उपयोगी है अतः दोष को परम्परया शब्दगत भी माना गया है। आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार भी यदि रसाभिव्यक्ति में सहायक

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः विज्ञेयाः कटकादिवत् ॥ ध्व० २.६॥

२. श्रुतिदुष्टादयो दोषाऽनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ २.११
अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्येऽर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि ? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्।
—ध्व० द्वि० उद्योत, पृ० ४६८

नहीं होते तो वे दोष हैं, जैसे शृङ्गार के सभी भेदों में उसका प्रकाशक न होने के कारण अनुप्रास का प्रयोग तथा यमकादि का निबन्धन। वस्तुतः अनौचित्य ही रसभङ्ग-हेतु होने के कारण दोषों के मूल में है।[1] पर आनन्दवर्धन अन्य आचार्यों की भाँति पद-पदार्थ, वाक्य एवं वाक्यार्थगत दोषों का निरूपण नहीं करते, इसलिए कि वे महात्माओं के दोषों की उद्घोषणा करने में अपना ही दोष देखते हैं।[2] केवल कवि-जनों के पथप्रदर्शनार्थ विविध अलङ्कारों की रस-विशेष के प्रति अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के दिङ्मात्र का निर्देश करते हैं। साथ ही 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में रस के विरोधियों का विवेचन करते हैं[3] किन्तु महाकवियों के दुष्ट स्थलों का उद्धरण वे यहाँ भी नहीं देते।

भोज—भोज ने शब्द एवं अर्थ के साहित्यों में दोष-हान को प्रथम स्थान दिया है। भोज का दोष-विवेचन भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट के दोष-विवेचन से बहुत अधिक प्रभावित है। उन्होंने दोषों का वर्गीकरण तीन भागों में किया है—(१) पद-दोष, (२) वाक्य-दोष तथा (३) वाक्यार्थ दोष। उल्लेखनीय है कि वामन ने इन तीन प्रकार के दोषों के अतिरिक्त पदार्थगत दोषों का भी विवेचन किया है। किन्तु भोज पदार्थगत दोषों का उल्लेख नहीं करते। पर वामन के पदार्थगत दोषों का उल्लेख ये पदगत दोषों के ही अन्तर्गत करते हैं। भोज द्वारा निर्दिष्ट पद-दोष सोलह है[4], उनमें से असाधु, कष्टपद, अनर्थक, अप्रतीत, क्लिष्ट, अन्यार्थक, नेयार्थ गूढ़ार्थ तथा ग्राम्यदोष वामन के उन्हीं दोषों से अभिन्न हैं। भोज के अपुष्टार्थ, असमर्थ और देश्य दोष रुद्रट से लिए गए हैं।[5] इसी प्रकार भोज का अप्रयोजक, रुद्रट के तद्वत् से साम्य रखता है। उनके 'सन्दिग्ध' दोष का विवेचन भी पूर्वाचार्यों ने किया है। अप्रयुक्त दोष भोज की मौलिक उद्भावना है। 'अप्रयुक्त दोष' वहाँ होता है, जहाँ कवियों के द्वारा अप्रयुक्त पदों का प्रयोग किया जाय।[6]

भोज के वाक्य-दोष भी संख्या में सोलह हैं।[7] इन सोलह वाक्य-दोषों में शब्द-

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्यकारणम्
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ वही, पृ० ७८०

२. तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम् ६४०,

३. विरोधिरससम्बन्धिविभावदि‹प›रिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च॥ ध्व ३।१८,१९

४. 'सरस्वतीकाण्ठाभरण, पृ० ४

५. 'काव्यालङ्कार' २।८ तथा ६।२

६. 'सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ५

७. वही, पृ० १८

हीन, 'व्याकीर्ण, अपद, अशरीर, तथा अरीतिमत् दोषों को छोड़कर शेष सभी पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा व्याख्यात हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि उपमा-दोषों को भी वाक्य-दोष के अन्तर्गत लिया गया है। असाधु नामक पद-दोष से युक्त वाक्य भोज के अनुसार शब्दहीन दोष से दूषित है। 'व्याकीर्ण' दोष वहाँ होता है, जहाँ विभक्तियों की असङ्गति के फलस्वरूप कर्त्ता, कर्म इत्यादि का ठीक ठीक बोध न हो। वक्ता की प्रकृति के विरुद्ध पदप्रयोग अपद दोष के अन्तर्गत आता है। क्रिया से हीन वाक्य अशरीर दोष है तथा अरीतिमत् दोष दण्डी के गुणों के विपर्ययरूप हैं।

भोज के वाक्यार्थदोष भी संख्या में सोलह हैं।[1] इनमें से चौदह तो पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा ही व्याख्यात हैं। केवल 'खिन्न' एवं 'परुष' दोष नये हैं 'खिन्न दोष' वहाँ होता है, जहाँ कवि उपक्रान्त विषय के निर्वाह में अशक्त होता है। क्रूर अर्थ को भोज ने परुष कहा है।

महिमभट्ट—इस सम्पूर्ण पूर्वपीठिका के साथ काव्यशास्त्र के रङ्गमञ्च पर उपस्थित होते हैं, महिमभट्ट। किन्तु इन समस्त आलङ्कारिक आचार्यों की भाँति उनका उद्देश्य काव्यशास्त्र के विविध विषयों का विवेचन नहीं था (यद्यपि प्रसङ्गतः काव्यशास्त्र के कुछ विषयों पर उन्होंने प्रकाश डाला है।) उनका उद्देश्य था—ध्वनिसिद्धान्त का समूलोच्छेदन एवं उसकी अनुमान में गतार्थता सिद्ध करना। फलस्वरूप 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम विमर्श में वे प्रसिद्ध ध्वनिकारिका की मनमानी छीछालेदर करते हैं और इतने पर भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तो वे ध्वनिकार की प्रथमकारिका में दोष-दर्शन के अभिप्राय से द्वितीय विमर्श का आरम्भ ही दोष-विवेचन से करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक था कि प्रकृत कारिका में उन्हें जितने दोष दिखायी पड़ते उतने का ही वे विवेचन भी करते। फलस्वरूप उनके दोष-विवेचन में दोषों की संख्या में वह विस्तार नहीं है जो पूर्ववर्ती आचार्यों में मिलता है तथा विवेचन की उस पूर्व प्रचलित परिपाटी को भी वे नहीं अपनाते जिसमें आचार्यों ने दोषों का परिगणन, उदाहरण एवं दोष-परिहार का कथन कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली है। इनके दोष संख्या में अति सीमित हैं किन्तु उनके प्रतिपादन-शैली की प्रौढ़ि और रमणीयता तथा वैज्ञानिक विवेचना-पद्धति में हृदय एवं मस्तिष्क को प्रभावित करने की एक अपूर्व क्षमता है। अस्तु।

महिमा के दोष-विवेचन के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वे दोषों का उल्लेख 'दोष' नाम से न करके 'अनौचित्य' नाम से करते हैं—

'इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति।'

इसका कारण क्या था? इस पर यहाँ विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है आनन्दवर्धन ने प्रधान अर्थ रस को बताया था और अनौचित्य को उस रसभङ्ग का हेतु बताया था। अतः उनके अपने ही शब्द द्वारा उनके खण्डन के लोभ से महिमभट्ट ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'दोष' पद के स्थान पर अनौचित्य को ही ग्रहण किया।

---

१. वही, पृ० ३६

महिमा के अनुसार अनौचित्य दो प्रकार के होते हैं—

(१) अर्थ विषयक, (२) शब्दविषयक।

इनमें से अर्थ विषयक अनौचित्य रसों के अनुपयुक्त विभावानुभावव्यभिचारियों के प्रयोग के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। रस से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण यह अन्तरङ्ग अनौचित्य भी कहलाते हैं। इस अनौचित्य का आनन्दवर्धनादि ने पर्याप्त विवेचन किया है। अतः महिमा इनका विवेचन नहीं करते। शब्दविषयक अनौचित्य रस से परम्परया सम्बद्ध होने के कारण बहिरङ्ग अनौचित्य कहलाता है तथा यह अनेक प्रकार का होता है। इनमें से कुछ हैं--विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रम-भेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन। 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श में महिमभट्ट ने इन्हीं पाँच शब्दानौचित्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

इन पाँच दोषों का विवेचन आरम्भ करने से पूर्व ही वे वृत्त के दुःश्रवत्व को भी शब्दानौचित्य बताते हैं, इसलिए कि जिस प्रकार अनुप्रास इत्यादि का रसानुगुण प्रयोग कवि को इष्ट होना चाहिए उसी प्रकार छन्द की भी रसानुगुणता इष्ट होनी चाहिए।[1] अतः जिस प्रकार रसाभिव्यक्ति के अनुकूल न होने पर अनुप्रासादिक सदोष होते हैं, दुःश्रव होने पर उसी प्रकार रसानुगुणता के अभाव में छन्द भी सदोष होगा। किन्तु चूँकि यह वृत्तदुःश्रवत्व विधेयाविमर्शादि की भाँति वाचकत्व पर आश्रित नहीं होता इसलिए इसका उल्लेख महिमा ने उनके साथ नहीं किया है।[2]

भिन्नवृत्तत्व के दोषत्व का प्रतिपादन तो भरत के काल से ही होता आ रहा है। भामह ने भिन्नवृत्त के साथ-साथ यतिभ्रष्ट दोष का भी उल्लेख किया है किन्तु वृत्त के दुःश्रवत्व की कल्पना महिमभट्ट की मौलिक कल्पना है। उनकी इस मान्यता से जहाँ एक ओर यह ध्वनित होता है कि वृत्तविशेष का लक्षण पूर्णतया घटित होने पर भी यदि वह वृत्तविशेष रसानुगुण न होने के कारण दुःश्रवत्व दोषयुक्त है अतः वह रचना सदोष हुई, वहीं दूसरी ओर यह भी व्यञ्जना निकलती है कि वृत्तभङ्ग होने के बावजूद भी यदि कोई श्लोक दुःश्रव नहीं है तो उसका वह वृत्तभेद दोष नहीं माना जायगा। सुतरां द्वितीय विकल्प का तो उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन भी किया है। कालिदास के अधोलिखित श्लोक के चतुर्थ चरण में—

'स्रस्तान्नितम्बादवलम्बमानां पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य।'

श्लोक के चतुर्थ चरण में 'द्वितीयमौर्वीम्' को सदोष बताते हुए वे उसके स्थान पर 'मौर्वीं द्वितीयां' के प्रयोग को उचित बताते हैं। किन्तु ऐसा करने से वृत्त-भङ्ग हो जायगा। यह वृत्त-भङ्गत्व महिमा की दृष्टि में दोष नहीं है। वे कहते हैं—

'अत्र मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः। न चैवं वृत्तभङ्गाशङ्का कार्या। तस्य

---

१. दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टत्वात्।—हि० व्य० वि०, पृ० १८१

२. केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्ष्यतयोपात्तम्। वही, पृ० १८१

श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् । तदपेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्ततानियमस्य सकर्णकैरनाप्यनादृतत्वात् । अतएव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्माभिः ।'

वस्तुतः वसन्ततिलकादि छन्दों के प्रयोग में बहुधा कविजन ऐसा करते भी रहे हैं कि दुःश्रवत्व के कारण अन्त्य गुरु न करके लघु करते रहे हैं[1] किन्तु काव्यशास्त्री इस तथ्य की उपेक्षा करके इसी बात पर बल देते रहे कि काव्य में छन्द-विशेष का लक्षण पूर्णतया घटित होना चाहिए, अन्यथा काव्य दुष्ट कहा जायगा तथा यह भिन्न-वृत्तत्व साधारण दोष नहीं, अपितु सुनिन्दित दोष है ।[2] वस्तुतः इस दिशा में महिमभट्ट की यह मान्यता उनकी मौलिक उद्भावना होने के साथ ही एक बहुत ही क्रान्तिकारी पदविन्यास है । मम्मट ने हतवृत्तता का 'हतं लक्षणानुसरणेऽपि अश्रव्यम्' लक्षण करके महिमा की इस मान्यता का स्वागत किया है ।[3]

पूर्वाचार्यों द्वारा अनुसृत परम्परा के विरुद्ध महिमभट्ट ने दोष का सामान्य लक्षण भी दिया है । उनके अनुसार दोष का लक्षण है विवक्षित रसादि की प्रतीति में विघ्नकारी होना ।[4]

विधेयाविमर्श—महिमभट्ट इस दोष का विशेष लक्षण नहीं करते किन्तु जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वाक्य के विधेय अंश के परामर्श का अभाव विधेयाविमर्श नामक दोष होता है । वाक्य में अनूद्य होने के कारण उद्देश्य अंश अप्रधान होता है तथा प्रतिपाद्य होने के कारण विधेय अंश प्रधान होता है । किसी भी कारण से विधेय की प्राधान्येन प्रतीति का विघात होने पर ही उक्त दोष होता है । विधेय के प्राधान्य-विघात के कारण कई हो सकते हैं—

(१) नञ् समास का प्रयोग

(२) यद् से उपक्रमित विषय के तद् द्वारा उपसंहार का अभाव

(३) तथा विधेय अंश को समास का अङ्ग बना देना ।

विधेयाविमर्श दोष के उदाहरण के रूप में वे कुन्तक द्वारा सर्वथा निरवद्य घोषित किए गए एक ऐसे श्लोक को उद्धृत करते हैं, जिसमें उक्त तीनों हेतुओं के फलस्वरूप विधेयाविमर्श दोष है । यह श्लोक है—

---

१. 'In fact as we all know the well known metre वसन्ततिलका has a final short syllable instead of the long one in the works of almost all Sanskrit poets. The rigid rule of metrics, demanding a long syllable at the end of each foot, is observed more in its violation than in fulfilment' A Novel view of Mahimabhatta; on the place of metre in poetry—Poona Orientalist Vol. 14. 1949

२. 'वर्णानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः । तत्र तद्भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ।' काव्यादर्श, ३।१५६

३. 'हिन्दी काव्यप्रकाश, पृ० २१४

४. 'एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम् ।'—हि० व्य० वि, पृ० १८२ ।

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥

इस श्लोक में सर्वप्रथम तो असंरब्धवान् में नञ् समास के कारण विधेयाविमर्श दोष है। इसलिए कि नञ् का विषय पर्युदास होता है प्रसज्यप्रतिषेध नहीं।[1] आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि ऐसे स्थल ही पर्युदास के विषय होते हैं जहाँ पर विधि की प्रधानता तथा प्रतिषेध की अप्रधानता हो अतः ऐसे ही स्थलों पर अप्रधान प्रतिषेध के द्योतक नञ् का उत्तर पद के साथ समास उचित है।[2] जैसे—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः[3] आदि में ।

स्पष्ट है कि इस पद्य में नञर्थ से विशिष्ट उत्तर पदार्थ का विधान प्रधान है, त्रस्तत्वादि का निषेध प्रधान नहीं है। उनमें अत्रस्तत्वादि पूर्वसिद्ध है अतः उनका अनुवाद करके गोपन आदि का विधान किया जा रहा है। ऐसे स्थलों पर जहाँ कि निषेध का प्राधान्य ही विवक्षित नहीं है, निषेधवाची नञ् को समास में डालने पर उसके प्राधान्य के आहत होने की शङ्का भी निर्मूल ही है। किन्तु जहाँ विधि का प्राधान्य न होकर निषेध की ही प्रधानता हो वहाँ निषेधार्थ के प्रतिपादक 'न' को समास में डालना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उत्तरपदार्थप्रधान नञ्समास में पड़कर 'न' अपना प्राधान्य खो बैठता है। ऐसे स्थल प्रसज्यप्रतिषेध के विषय बनते हैं और यहाँ 'न' का प्रयोग क्रियापद के साथ किया जाता है।[4] इसके उदाहरण हैं—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥[5]

यहाँ पर दृप्त निशाचर का प्रतिषेध प्रधान है न कि अदृप्तनिशाचर की विधि। अतः 'न' पद का दृप्तनिशाचर के साथ समास भी नहीं किया गया है। इसी प्रकार अन्य 'न' पद भी समास में नहीं लाये गये हैं। प्रकृत स्थल भी प्रसज्यप्रतिषेध का है। यहाँ पर कवि को 'संरब्धवत्' का निषेध अभीष्ट है, असंरब्धवत् की विधि नहीं। अतः विधेयत्व 'न संरब्धवान्' के 'न' द्वारा प्रतिपादित निषेधार्थ में है। अतः इस 'न' को समास में डालकर गौण बनाना उचित नहीं, क्योंकि उस दशा में वह विधेय का विमर्श

---

१. 'अत्र ह्यसंरब्धवानिति नञ्समासस्तावदनुपपन्नः। तस्य हि पर्युदास एव विषयः। तत्रैव विशेषणत्वान्नञः सुबन्तेनोत्तरपदेन सम्बन्धोपपत्तेः।' —वही, पृ० १८५

२. 'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयः यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥'— वही, पृ० १८५

३. वही, पृ० १८५

४. अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥ वही, पृ० १८७

५. वही, पृ० १८७

करा नहीं पाता और इस प्रकार यहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है ।[१] निष्कर्ष यह है कि जब नञर्थ प्रधान होता है तथा निषेध्य अर्थ अप्रधान होता है तो समास नहीं किया जाता, इसलिए कि समास करने से अर्थ के उलट-फेर हो जाने की सम्भावना रहती है ।[२]

आचार्य के इस वैदुष्यपूर्ण विवेचन की छाप मम्मट की इन पङ्क्तियों में दर्शनीय है --

आनन्दसिन्धुरति चापलशालिचित्त
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।
.........................धिगस्मान् ॥[३]

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः । यथा—
नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
.........................प्रिया न ममोर्वशी ॥'

'इत्यत्र न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद् विहितम् । यथा
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
.................................अन्वभूत् ॥
इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

'संरम्भः करिकीट' पद्य में दूसरा विधेयाविमर्श दोष चतुर्थ पाद में है । यहाँ 'योऽसौ' के द्वारा जिस अर्थ का उपक्रम किया गया है, तद् के प्रयोग के अभाव में उसका उपसंहार न हो पाने के कारण विधेय अंश का विमर्श नहीं हो पाता इसलिए कि नियमतः यत् अनुवाद्यार्थं तथा तद् विधेयार्थ के लिए प्रयुक्त होता है । अतः तद् के अभाव में विधेय का परामर्श सम्भव नहीं । नियम यह है कि जहाँ यत्तद में से किसी एक के द्वारा उपक्रम होता है वहाँ उसके प्रत्यवमर्शी दूसरे के द्वारा उपसंहार होना चाहिए इसलिए कि यत् एवं तद् नित्य सम्बद्ध हैं ।[४]

---

१. इह च पर्युदासाश्रयणमसङ्गतम् अर्थस्य अयुक्तत्वप्रसङ्गात् । संरब्धवत्प्रतिषेधो ह्यत्राभिमतः नासंरब्धवद्विधिः तत्रैव क्रियांशप्रतिषेधावगतौ नञः क्रियाभिसम्बन्धोपपत्तेः । न चासौ प्रतीयते गुणीभूतसंरम्भनिषेधस्यार्थान्तरस्यैव संरब्धवत्सदृशस्य विधौ प्रतीतेः न च तत्प्रतीतौ विवक्षितार्थसिद्धिः काचित् । तत्सिद्धिपक्षे च समासानुपपत्तिः नञर्थस्य विधीयमानतया प्राधान्यादुत्तरपदार्थस्य चानूद्यमानतया तद्विपर्ययात् । समासे च सति अस्य विध्यनुवादभावस्यास्तमयप्रसङ्गात् । यत्र तु विपर्ययस्तत्र समासो भवत्येव । यथा—
काव्यार्थतत्त्वागमो न वृद्धाराधनं विना । अनिष्टवान् राजसूयं कः स्वर्गं मुख्यमश्नुते ॥—वही, पृ० १८८

२. नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये । समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः वही, पृ० १८३

३. काव्यप्रकाश चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १८०-१८१

४. 'यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमः तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदिरेणोपसंहारो न्यायः तयोरप्यनुवाद्यविधेयार्थत्वेनेष्टत्वात् तयोश्च परस्परापेक्षया नित्यत्वात् । अतएवाहुः 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः ।'—इति हि० व्य० वि० पृ० १८६

किन्तु काव्य में ऐसे भी स्थल मिलते हैं जहाँ पर यत्तद् में से केवल एक का ही प्रयोग रहता है और वे स्थल दुष्ट भी नहीं समझे जाते हैं, जैसे—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।

इस पद्य में या के अभाव में भी केवल 'सा' का ही प्रयोग हुआ है। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का महिमा के पास यह समाधान है कि यत् एवं तद् का उपक्रमोपसंहार दो प्रकार का होता है—शाब्द एवं आर्थ। जब दोनों का उपादान रहता है तो यह शाब्द होता है जैसे—

'यदुवाच न तन्मिथ्यायद्ददौ न जहार तत्'
अथवा

'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां श्रृणोति यः ।' आदि पद्यों में। किन्तु जब दो में से किसी एक का ही उपादान होता है तो (उपक्रमोपसंहार) आर्थ होता है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर दूसरे का अर्थ-सामर्थ्य से आक्षेप कर लेते हैं। इनमें से केवल तद् का उपादान होने पर जो आर्थ उपक्रमोपसंहार होता है वह त्रिविध होता है कारण कि वह (तद् शब्द) तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्धवस्तुविषयक, अनुभूतवस्तु-विषयक, तथा प्रक्रान्तवस्तुविषयक। इनके क्रमशः उदाहरण हैं —

(१) 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां' आदि
(२) 'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा' आदि तथा
(३) 'कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥'

इनके अतिरिक्त वह एक चतुर्थ प्रकार भी बताते हैं जहाँ यत् तद् दोनों का ही अर्थसामर्थ्य से आक्षेप किया जाता है—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' ॥"
अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते यं प्रति यत्नो में सफलीभविष्यति इति उभयोरपि तयोरर्थादाक्षेपः ।"

केवल यद् का उपादान होने पर आर्थ उपक्रमोपसंहार द्विविध होता है। प्रथम तो वह जहाँ प्रक्रान्तवस्तुविषयक (अध्याहृत) तद् के साथ उसका सम्बन्ध होता है 'यं सर्वशैला परिकल्प्य वत्सं' में 'यं' का सम्बन्ध प्रक्रान्त 'स हिमालयोऽस्ति' के 'स' से है। दूसरे वह जहाँ ऐसे 'तद्' शब्द का प्रयोग न हो जिसके द्वारा ऐसे पदार्थ का परामर्श हो रहा हो जो यद् शब्द द्वारा कर्म या करण आदि के रूप में कहा जा चुका हो। जैसे 'आत्मा जानाति यत्पापं माता जानाति यत्पिता ।' इत्यादि में 'तदात्मा जानाति' इस प्रकार के अर्थ का आक्षेप हो जाता है। इसी प्रकार—

यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥

में यद्यपि यत् का प्रयोग एक बार और तद् का प्रयोग दो बार हुआ है तो भी वह दोष नहीं कारण कि यत् का सम्बन्ध तदपि में आए तद् से है तथा तदूर्जितंगत 'तद्' तो प्रसिद्धि का परामर्शक है, उसका यत् के साथ सम्बन्ध आर्थ है।

प्रकृत में विधेयाविमर्श के निषेध के लिए यदि प्रतिपक्षी यह कहता है कि 'योऽसौ' में असौ तद् का पर्याय समझ लिया जाय तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि उस दशा में तो

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणी: ।

वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ।।

पद्य में यत् शब्द के परामर्श की अपेक्षा आ धमकेगी तथा अधोलिखित पद्य में तत् शब्द की पुनरुक्ति सिद्ध होगी—

यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूदुत्फुल्लकिंशुकतरुप्रतिमो मनोभूः

योऽसौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः पायात् स वः शशिकलाकलितावतंसः ।।

इस प्रकार अदस् इत्यादि के साथ तद् अभिन्नार्थक तो हो ही नहीं सकता। इतने पर भी यदि—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।

स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ।।

तथा 'स्मृतिभूस्मृतिभूर्विहितो येनासौ रक्षतात् क्षताद् युष्मान्' आदि प्रयोगों को देखते हुए इदमादि तथा तद् की अभिन्नार्थकता समझी जाती है तो वह वहीं पर समझी जाय जहाँ अदस् आदि पद यद् इत्यादि से दूरस्थ हों। समीपस्थ और अव्यवहित होने पर तो अदस् आदि की तद् से अभिन्नार्थकता तभी मानी जाय जब वे यद् से भिन्न विभक्ति में हों। और ऐसा न होने पर (अर्थात् अव्यवहित और समानविभक्तिक होने पर) उनकी एक दूसरे के परामर्श की आकांक्षा और अधिक सामने आती है, जैसे—

'सोऽयं वटः श्याम इति प्रकाशस्त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः।' इत्यादि में। किन्तु प्रस्तुत 'योऽसौ' में तो न तो अदस् व्यवहित है और न ही भिन्नविभक्तिक है जैसा कि 'योऽविकल्पमिदसर्थमण्डलं' अथवा 'स्मृतिभू...' उदाहरणों में किया गया है।

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश या निकलता है कि प्रकृत पद्य में 'योऽसौ' में निर्दिष्ट विधेयाविमर्श दोष का निराकरण किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है इसलिए कि प्रश्न यह है कि यद् को किससे सम्बद्ध माना जाय ? यह पद्य मुक्तक है इसलिए उस यद् से सम्बद्ध किसी प्रक्रान्त अर्थ की सम्भावना ही नहीं है, जिसके साथ इसका सम्बन्ध मान लिया जाय। ऐसा भी नहीं हो सकता कि प्रक्रंस्यमान अम्बिकाकेसरी के लिए कल्पित 'तद्' शब्द के साथ उसका सम्बन्ध माना लिया जाय, क्योंकि ऐसा तभी सम्भव है जब उसका शब्दतः उपादान हो।[1]

आचार्य के 'यौऽसौ' से सम्बद्ध इस विवेचन का काव्यप्रकाशकार के द्वारा दिए गए विधेयाविमर्श के विवेचन से स्पष्ट ही अत्यधिक साम्य परिलक्षित होता है। काव्य-प्रकाश के अधोलिखित स्थल विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—

अपाङ्गसंसर्गितरंङ्गितं दृशोः...तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ।।

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत्। तथाहिप्रक्रान्तप्रसिद्धोऽनुभूता-

---

१. वही, पृ० २०४

र्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते । क्रमेणोदाहरणम्—
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् आदि

+ + +

इयं गत सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः···नेत्रकौमुदी ।।
मम्मट द्वारा दिया गया अनुभूतार्थविषयक उदाहरण महिमा के उदाहरण से भिन्न है ।

अपने विवेचन के मध्य एक स्थल पर महिमभट्ट ने प्रतिपक्षी द्वारा उपस्थापित 'तद्' से रहित 'यद्' के प्रयोग के उदाहरण में यह बताया था कि वस्तुतः वहाँ पादप्रक्रम-भङ्ग दोष है, उसे सुधार देने पर 'तद्' का तो अर्थसामर्थ्य से आक्षेप हो जायगा । मम्मट ने महिमा द्वारा सुधारे गए रूप में ही उसे उद्धृत किया है ।[1]

इसी प्रकार यत्तद दोनों का शब्दतः उपादान न होने पर दोनों का ही अर्थसामर्थ्य से आक्षेप मम्मट भी मानते हैं और वही उदाहरण उद्धृत करते हैं जो महिमभट्ट ने दिया है ।[2] अदस् शब्द तद् शब्द के अर्थ का बोधक नहीं बन सकता ऐसा मम्मट भी स्वीकार करते हैं और महिमा द्वारा उद्धृत 'असौ मरुच्चुम्बिच्चारुकेसरः' आदि श्लोक से अपने कथन की पुष्टि करते हैं ।[3] मम्मट भी अदस् को तद् शब्द के अर्थ का अभिधायक भी तभी स्वीकार करते हैं, जब कि वह अदस् या तो यत् से दूरस्थ[4] हो या समीप रहने पर भिन्नविभक्तिक हो । इस सम्बन्ध में भी मम्मट महिमा का ही उद्धरण ('योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं' आदि) प्रस्तुत करते हैं । इतना ही नहीं, महिमा की भाँति ही मम्मट भी यह स्वीकार करते हैं कि यत् शब्द के निकट प्रयुक्त तद् एवं अदस् आदि प्रसिद्धि के परामर्शक हो जाते हैं[5] और महिमा द्वारा किञ्चिद् भिन्न प्रसङ्ग में उद्धृत 'यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः' आदि के द्वारा अपने इस कथन की पुष्टि करते हैं ।

विधेयाविमर्श का तृतीय प्रकार वहाँ होता है, जहाँ विशेषण पद समास का अङ्ग बन जाने के कारण विवक्षितार्थ की प्रतीति नहीं करा पाता । प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ पाद में 'अम्बिकाकेसरी' समस्तपद इसी प्रकार का पद है । महिमभट्ट की धारणा है कि इस उदाहरण में 'अम्बिका' पद केसरी में कुछ वैशिष्ट्यों के आधानार्थ उपन्यस्त है और इसीलिए चमत्काराधायक होने के कारण ही वह प्रधान भी है किन्तु उत्तरपदप्रधान तत्पुरुष समास का अङ्ग बन जाने पर वह अपना प्राधान्य खो बैठता है और केवल सम्बन्ध

---

१. 'यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात् पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—
साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ।। का० प्र० पृ० २०१

२. का० प्रकाश पृ० २०१—"अनुपादानेऽपि सामर्थ्याद कुत्रचिद् द्वयमपि गम्यते यथा—
ये नाम केचिदिह नः···विपुला च पृथिवी ।।

३. वही, पृ० २०२

४. 'योऽविकल्पमिदं···कुतोभयम् ।। इतीदंशब्दवददः शब्दस्तच्छब्दार्थममिधत्ते इति उच्यते तद्यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव' । वही, पृ० २०३

५. 'यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति । यथा यत्तदूर्जितमत्युग्रं··· हारितम् ।।' वही, पृ० २०३

मात्र का बोधक रह जाता है। पर कवि को सम्बन्धमात्र का ज्ञान कराना ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु वह तो इस विशेषण द्वारा यह दिखाना चाहता है कि अम्बिका का कृपा-पात्र होने के कारण ही वह केसरी अपनी जाति के अन्य सिंहों से विलक्षण है। कवि की विवक्षा के कारण प्रस्तुत स्थल पर यही विधेय है किन्तु उसके प्रतिपादक पद 'अम्बिका' के समास में पड़ जाने से उस विधेय का विमर्श नहीं हो पाता फलस्वरूप यहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है।

विशेषण का विधेयत्व होने पर समास न करने का यह नियम केवल उत्तरपद-प्रधान तत्पुरुष के ही लिए नहीं विहित है, अपितु विधेयवाचक पद को तो किसी भी समास में नहीं डालना चाहिए क्योंकि समास में डालने पर उन पदों की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचना अवश्यम्भावी है। अव्ययीभाव, द्वन्द्व, बहुव्रीहि तथा द्विगु समासों में भी समस्तपद के अङ्गभूत पद अपने पूरे पूरे अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकते। अतः पदविशेष से व्यक्त होने वाला सम्पूर्ण अर्थ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम उन्हें समास का अङ्ग न बनायें। आचार्य ने यथास्थान ऐसे उदाहरण भी दिए हैं जहाँ उपर्युक्त समास सम्भव हो सकते थे, किन्तु कवियों ने समासरहित पदावली का प्रयोग किया है केवल इसलिये कि प्रत्येक शब्द अपने सम्पूर्ण अर्थ को दे सके, उसमें किसी प्रकार का व्याघात न उपस्थित हो। साथ ही प्रत्युदाहरण एवं उसमें परिष्कार भी महिमा ने दिए हैं जिनम 'स्रस्तान्नितम्बादवलम्बमानां पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम्' श्लोक विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि मम्मट ने भी प्रत्युदाहरण के रूप में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए उसी परिष्कृत रूप को स्वीकार किया है जिसका सुझाव महिमा ने रखा था।

विशेषण-विशेष्य-भाव तथा विध्यनुवादभाव के स्थलों के अतिरिक्त समासाभाव के इस नियम का अतिदेश वे कृत्तद्धित वृत्तियों में भी मानते हैं, क्योंकि वहाँ भी प्राधान्याप्रधान्य की विवक्षा रहती ही है पर कृत् या तद्धित प्रत्यय जोड़ देने पर वह प्राधान्य आहत हो जाता है।[1] अपने इस मत के समर्थन में वे पाणिनि के सूत्र उद्धृत करते हुए यह कहते हैं कि आचार्य को भी यह अभिमत था कि जहाँ विशेषण का प्राधान्य हो वहाँ विशेष्यवाची पद के साथ उसका समास नहीं करना चाहिए तभी तो 'वृषल्याः कामुको' तथा 'दास्याः पुत्र' इत्यादि में कामुकादि में आक्रोशजनित अपकर्ष की प्रतीति के लिए ही समास होते हुए भी विभक्ति-लोप का निषेध किया है।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश आचार्य के ही शब्दों में द्रष्टव्य है, वे कहते हैं—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान् पर्युपासते॥
तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम्॥
अतएव च वैदर्भी रीतिरेकैव शस्यते।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते॥

---

१. प्रत्ययोत्पत्तौ पुनर्न्यग्भूतसर्वादिकर्मभावः कषणादिषु कर्त्रंश एव उन्मग्नतया प्रकाशते न कर्मांशः तत्रैव प्रत्ययोत्पत्तेः।—हि० व्य० वि०, पृ० २६०

सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तूभयमप्यदः ।। व्य० वि० २।१४,१५,१६,१७

विधेयार्थ के प्रतिपादक पद को समास में डालकर गुणीभूत न करने के अपने इस विचार की पुनरावृत्ति वे बार बार करते हैं[1] उनके इन समस्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि विशेष्य में उत्कर्ष या अपकर्ष का आधान करने के कारण विशेषण प्रधान अतश्च विधेय बन जाता है। ऐसी दशा में उस विशेषण का उसके विशेष्य के साथ समास कर देने पर उसका प्राधान्य समाप्त हो जाता है। यहाँ पर शङ्का यह हो सकती है कि विशेषणत्व एवं प्राधान्य यह दोनों एक ही आश्रय में रहें यह सम्भव नहीं। इस प्रकार जब विशेषण का प्राधान्य ही नहीं सिद्ध होता तो उसके नष्ट होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का आधार ही भ्रामक है। इस शङ्का का समाधान आचार्य के ही शब्दों में द्रष्टव्य है—

'विभक्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी हि विशेषणानां विधेयतावगतिः। तत एव चैषां विशेष्ये प्रमाणान्तरसिद्धस्वोत्कर्षाधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थं प्राधान्यं विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्ये आर्थो गुणभावोऽनूद्यमानत्वादिति उक्तम्।''[2]

पूर्वाचार्यों के दोष-विवेचन को देखते हुए यह सुस्पष्ट है कि विधेयाविमर्श दोष महिमभट्ट की मौलिक उद्भावना है। स्वयं उनके भी कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[3] यदि यह उनकी मौलिक उद्भावना न होती तो अपने विचारों का समर्थन उन्हें पाणिनि के व्याकरण में न ढूंढ़ना पड़ता।

जैसा कि स्थान-स्थान पर सङ्केत किया जा चुका है मम्मट का दोष-निरूपण महिमा के दोष-विवेचन से बहुत अधिक प्रभावित है। मम्मट ने सप्तम उल्लास में इस

१. (क) पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम्।
न तत् समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ।। वही, २।११

(ख) तदिदमत्र तात्पर्यं यत् कथञ्चिदपि प्रधानतया विवक्षितं न तन्नियमेनेतरेण सह समासमर्हति।—वही, पृ० २६२

(ग) प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः ।। वही, २।२५

(घ) यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात्।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते ।।
अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सिते।
कामाचारः...........................। वही, २।२६, २७

२. वही, पृ०२५३

३. 'न चायमर्थः स्वमनीषिकयैवास्माभिः उपकल्पितः किं तर्हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान्। केवलं तदभिप्रायमनवगच्छद्भिः व्याख्यातृभिः सापेक्षतादिदोषान्तरव्यावृत्तिपरतयैव तद् व्याख्यातं न पुनरेतद्द्वयावृत्तिपरतयापीति तदभिप्रायमेवास्माभिः प्रकटयद्भिस्तस्येहार्थत्वमपि प्रतिपादितं न त्वपूर्वं किञ्चिद्।'—वही, पृ० २७४

दोष का उल्लेख अविमृष्टविधेयांश नाम से किया है। महिमाचार्य के अधिकतर विचार एवं उदाहरणों को मम्मट ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, किन्तु इतना अधिक साम्य होने पर भी यह कहना कि मम्मट ने अविमृष्टविधेयांश के अन्तर्गत सब कुछ—उदाहरण एवं समीक्षण—महिमभट्ट से लिए हैं,[1] ठीक नहीं, इसलिए कि अविमृष्टविधेयांश के अन्तर्गत दो चार उदाहरण ऐसे भी हैं जो 'व्यक्तिविवेक' में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त आचार्य का पूरा पूरा अनुकरण करने के बाद भी प्रतिपादन-प्रकार मम्मट का अपना है। महिमा से मम्मट का सर्वप्रथम भेद तो यही है कि मम्मट ने पद एवं वाक्य के आधार पर अविमृष्टविधेयांश के दो भेद माने हैं। 'नञ्' की अनुपयुक्तता तथा समास के अनौचित्य का विवेचन वे पदगत दोष के अन्तर्गत करते हैं तथा 'योऽसौ' से सम्बद्ध विवेचन तथा एकाधिक अनुचित समस्तपदों वाले उदाहरणों का विवेचन वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश के अन्तर्गत करते हैं। महिमा ने जहाँ प्रसज्यप्रतिषेध एवं पर्युदास का विशद विवेचन किया है मम्मट इनका नामोल्लेख भी नहीं करते। जहाँ महिमा पूर्वपक्ष उपन्यस्त करते हुए दीर्घ वाद-विवाद के पश्चात् अपने सिद्धान्त को स्थापित करते हैं तथा आचार्य पाणिनि के सूत्रों द्वारा अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, मम्मट अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति एवं अपनी शैली के अनुरूप सूत्र-रूप में उस सारे विवेचन का सार ही देते हैं। सम्भवतः मम्मट को महिमकृत विवेचन इतना पुष्ट प्रतीत हुआ कि उन्होंने उस विवेचन को उपस्थित करना अनावश्यक समझ केवल उसका निष्कर्ष देना ही पर्याप्त समझा।

इस प्रकार दोषों के अध्याय में विधेयाविमर्श नामक एक नया दोष जुड़ने के साथ-साथ एक नया परिवर्तन परवर्ती दोष-निरूपण में हमें दीखता है—वह है समासगत दोष-निरूपण की प्रथा का जन्म। पूर्ववर्ती आचार्यों ने पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ तथा उपमा के दोषों का निरूपण किया था पर मम्मट ने समासगत दोष का भी विवेचन किया है। इसकी प्रेरणा उन्हें सम्भवतः इस विधेयाविमर्श से ही प्राप्त हुई जो कि समासगत दोष है।

(२) **प्रक्रमभेद**—महिमभट्ट द्वारा निरूपित दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दोष प्रक्रमभेद है। महिमाचार्य की धारणा है कि किसी पद्य का उपसहार उस पद्य के उपक्रम जैसा ही होना चाहिए अन्यथा इस एकरसता के अभाव में प्रक्रमभङ्ग नामक दोष होता है जो रसभङ्ग का कारण बनता है, इसलिए कि वह उपक्रम के अनुसार एक रूप से बढ़ती जा रही ज्ञाता की ज्ञानधारा को गर्त की भाँति गिरा कर कष्ट देती है।[2] चूँकि प्रक्रम-भेद के विषय प्रकृति, प्रत्यय, पर्याय आदि भेदों से अनन्त होते हैं, अतः यह दोष भी अनन्त प्रकार का होता है।[3]

---

१. 'Under अविमृष्टविधेयांश everything said by मम्मट, illustrations and comments, is taken from Mahimbhatta' Bhoja's शृङ्गारप्रकाश p. 243

२. 'स हि यथाप्रक्रममेकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति।' हि० व्य० वि०, पृ० २८७

३. वही, पृ० २८७

(क) **प्रकृतिप्रक्रमभेद:**—धात्वादिकप्रकृति के भेद होने पर यह दोष होता है जैसे—

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या ।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्या: ॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपक्रम 'भाष्' धातु से हुआ है पर उपसंहार में लप् धातु का प्रयोग है। दोनों क्रियाओं का वचन एवं अर्थ एक है तो भी चूँकि वाक्य का आरम्भ 'भाष्' क्रिया से किया गया है अत: निर्वाह भी उसी से करना उचित था, अन्य क्रिया के द्वारा नहीं, इसलिए कि प्रक्रमाभेद नामक यह शब्दौचित्य भी विध्यनुवादभाव के समान ही माना गया है।[१] जिसमें प्रक्रान्त अनुवाद्य होता है तथा उपसंहृत विधेय होता है।[२]

प्रकृति-प्रक्रम-भेद के अन्य उदाहरण भी महिमभट्ट प्रस्तुत करते हैं, जिसमें

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नात: परं भद्रतरं समस्ति ॥

उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है इसलिए कि मम्मट ने प्रकृति-प्रक्रम-भेद के उदाहरण के रूप में इसे ही उद्धृत किया है। साथ ही वे महिमा द्वारा सुझाए गए सुधार 'अत्र हि गता निशापीति युक्त: पाठ:' को ही अपनी मान्यता प्रदान करते हैं।[३]

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि तब तो यहाँ पर शब्दपुनरुक्ति दोष होगा, क्योंकि वामन ने कहा है कि एक पद का दो बार प्रयोग प्राय: नहीं होना चाहिए। महिमभट्ट का कहना है कि ऐसी शङ्का ठीक नहीं इसलिए कि पुनरुक्ति एवं प्रक्रमाभेद के विषय भिन्न हैं। जहाँ पर उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव होता है, वहाँ प्रक्रमाभेद होता है, जब कि उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव के अभाव में शब्द-पुनरुक्ति होती है। अत: इस विषय-भेद के कारण पुनरुक्ति दोष के लिए यहाँ अवकाश नहीं है।[४] इस विवेचन को भी पूर्वपक्षोपस्थापन सहित मम्मट ज्यों का त्यों अपना लेते हैं।[५]

(ख) **सर्वनामप्रक्रमभेद**—जहाँ प्रक्रान्त का परामर्श पहले एक सर्वनाम से करके अन्त भिन्न सर्वनाम से किया जाय वहाँ यह दोष होता है, जैसे कि इस उदाहरण में—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुन: प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टा: खमुद्ययु: ॥

---

१. 'प्रकृतिप्रक्रमभेदो यथा—सततमनभिभाषणं···भवत्या: । अत्रहि भाषतिलपत्योरुभयोरपि वचनार्थाविशेषेऽपि यदा भाषतिप्रयोगक्रमेण वस्तु वक्तुमुपक्रान्तं तदा तेनैव निर्वाह: कर्तुमुचितो नेतरेण । एवंविधस्य प्रक्रमाभेदाख्यस्य शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वोपगमात् ।' —वही, पृ० २८८

२. 'उपक्रान्तं ह्यनुवादस्थानीयम् । निर्वाहकं च विधेयप्रख्यम्' हि० व्य०वि०व्या;पृ०२८९

३. काव्यप्रकाश—मम्मट, पृ० २२८

४. न चैवं शब्दपुनरुक्तिदोषप्रसङ्ग: यथान्ये मन्यन्ते—'नैकं पदं द्वि: प्रयोज्यं प्रायेण' (वामनस्य का० सू० ५।१।१) इति तयोर्भिन्नविषयत्वात् । यथोद्देशं हि प्रतिनिर्देशोऽस्य विषय: । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावाभावविषयस्तु शब्दपुनरुक्तिदोष इति कुतस्तस्य प्रसङ्ग: ।—हि० व्य० वि०, पृ० २९०

५. काव्यप्रकाश—मम्मट, पृ० २२९

यहाँ पर प्रक्रान्त भगवान् शिव का पहले 'इदम्' सर्वनाम द्वारा परामर्श हुआ है अतः बाद में भी उनका परामर्श 'इदम्' से ही होना चाहिए पर कवि ने ऐसा न करके 'तद्' का प्रयोग किया है जो कि उक्त प्रकार से ठीक नहीं। इसलिए कि 'इदम्' और 'तद्' दोनों ही भिन्नार्थक हैं।[१] मम्मट ने भी सर्वनामप्रक्रमभेद दोष का उल्लेख किया है तथा उदाहरण भी यही दिया है।[२]

(ग) **प्रत्यय-प्रक्रमभेद**—प्रत्ययप्रक्रमभेद के भी महिमा कई उदाहरण देते हैं, जिनमें से—

'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥

भी एक है। यहाँ पर तुमुन् प्रत्यय से वस्तु का उपक्रम किया गया है अतः उपसंहार भी उसी से होना चाहिए। पर कवि ने ऐसा नहीं किया है अतः उक्त दोष है। अतः यहाँ 'यशोऽधिगन्तुं सुखमीहितुं वा' पाठ होना चाहिए। मम्मट ने इस उदाहरण तथा सुधार को भी ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।[३]

(घ) **पर्यायप्रक्रमभेद**—महिमा द्वारा पर्यायप्रक्रमभेद के उद्धृत उदाहरणों में से

'महीभृतःपुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥'

उदाहरण को ही मम्मट उद्धृत करते हैं।[४] महिमा के अनुसार यहाँ पर पुत्र और अपत्य शब्द ही पर्याय होने के कारण प्रक्रमभेद के विषय हैं, पुष्प एवं चूत शब्द नहीं, इसलिए कि वे सामान्यविशेषवाची हैं। अतः इस पद्य को निर्दुष्ट बनाने के लिए आवश्यक है कि पुत्रवतः के स्थान पर अपत्यवतः पाठ कर लिया जाय।[५]

(ङ) **विभक्तिप्रक्रमभेद**—जिस विभक्ति से उपक्रम किया जाय, उपसंहार उसी विभक्ति से न होने पर यह दोष होता है, जैसे—

बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्कः सिंहाजिनस्यैव दुकूलभावः॥

यहाँ पर प्रथमा विभक्त्यन्त से वस्तु का उपक्रम हुआ था, उसका निर्वाह न करके सिंहाजिनस्य को षष्ठ्यन्त कर दिया गया है। अतः यहाँ 'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्य' पाठ होना चाहिए।

(च) **उपसर्गप्रक्रमभेद**—उपसर्गप्रक्रमभेदका उदाहरण है—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥

---

१. 'अत्र हि भगवन्तं शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्य तेनैवोक्तरीत्या तत्परामर्शः कर्तुं युक्तो न तदा तयोर्देवदत्तयज्ञदत्तशब्दयोरिव भिन्नार्थत्वात्। न चासौ कृत इति सर्वनामप्रक्रमभेदः।'—हि० व्य० वि०, पृ० २६२

२. मम्मट का काव्यप्रकाश पृ० २३०

३. वही, पृ० २२६

४. वही, पृ० २३०

५. हि० व्य० वि०, पृ० २६५

इसमें विपद् तथा आपद् पदों में उपसर्ग का भेद कर देने से उक्त दोष है। आपदुपेतम् के स्थान पर 'तदुपेतं विजहाति चायतिः' कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। साथ ही उत्तरार्द्ध में 'लघुता' तथा 'अगरीयान्' पदों में प्रकृति-प्रक्रम-भेद तथा अगरीयान् में ईयसुन् प्रत्यय अधिक होने के कारण प्रत्यय-प्रक्रम-भेद भी सुस्पष्ट है। अतः उत्तरार्द्ध में इनके निवारणार्थ 'न लघुर्जातु पदं नृपश्रियः' पाठ होना चाहिए।

मम्मट भी उपसर्गप्रक्रम-भेद के उदाहरण में यही पद्य देते हैं। हाँ उनके द्वारा सुधारा गया पाठ महिमा के पाठ से भिन्न अवश्य है।[१]

(छ) **वचनप्रक्रभेद** — वचन-प्रक्रम-भेद का उदाहरण है—

> **काचित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी—**
> **रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।**
> **भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमानाः**
> **प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः॥**

यहाँ उपक्रम उपसंहार के अनुकूल नहीं है। अतः उक्त दोष है। पर काचित् को काश्चित् कर देने पर उसका निरास हो जाता है। मम्मट ने इस दोष के प्रसङ्ग में भी उक्त उदाहरण ही देते हुए महिमा के सुधार को अक्षरशः दुहराया है।[२]

(ज) **तिङन्त-प्रक्रम-भेद**—इस दोष का उदाहरण भी उपर्युक्त पद्य का 'अपरा भूमिवत् कम्पमानाः' अश है, इसलिए कि यहाँ किसी एक क्रिया का प्राधान्य न होकर सभी का प्राधान्य विवक्षित है। अतः 'कम्पमापुः' उचित पाठ होगा। इस प्रकार पद्य के अन्य वाक्यों की भाँति ही इस वाक्य का भी उपसंहार तिङन्त में होता है। मम्मट ने उक्त पद्य में इस सुधार का भी उल्लेख किया है।[३]

(झ) **कालविशेषप्रक्रमभेद**— महिमभट्ट इस दोष का विवेचन करते हुए यह उदाहरण देते हैं—

> **सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि**
> **जक्षुर्विषान्धृतविकासिबिसप्रसूनाः।**
> **सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-**
> **दोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम्।**

यहाँ वस्तु का उपक्रम 'सस्नुः' का प्रयोग करते हुए लिट् लकार द्वारा किया गया है, किन्तु 'अनेनिजुः' आदि लुङ्लकारान्त क्रिया से उपसंहार किया है। अतः यहाँ काल-विशेषप्रक्रम-भेद दोष होता है। 'अनेनिजुः' इत्यादिक के लिट्लकार के रूप के प्रयोग से उक्त दोष दूर हो जायगा। अतः 'सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजुः' तथा चतुर्थ पाद के स्थान पर 'दोषं वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः' कर देने से उक्त दोष का परिहार हो

---

१. 'विपदो…नृपश्रियः। अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च। तदभिभवः कुरुते निरायतिं। लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इति युक्तम्।'—का० प्र०, पृ० २३१

२. का० प्र०—मम्मट, पृ० २३१

३. वही, पृ० २३१

जाता है। इस प्रकार इस दोष का सोदाहरण विवेचन करने के अनन्तर काल के विशेष को विवक्षाजन्य मानते हुए उसके दोषत्व का ही निराकरण करते हैं।[1]

(ञ) कारकशक्तिप्रक्रमभेद

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्तु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।'

इस पद्य में आरम्भ में आख्यात द्वारा कर्ता कथित है कर्म नहीं पर तृतीय पङ्क्ति में आख्यात द्वारा कर्म कथित होने से उस क्रम का निर्वाह अन्त तक नहीं हो पाता। फलस्वरूप उक्त दोष होता है। 'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिम्' पाठ कर देने से यह दोष दूर हो जाता है। वस्तुतः महिमा का यह सुझाव भी सर्वथा निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। 'कुर्वन्तु' क्रियापद रखने से आत्मनेपदी क्रियाओं के बीच परस्मैपदी के प्रयोग से जन्य प्रक्रमभेद दोष उपस्थित होता है। अतः काव्य-प्रकाश के टीकाकार उद्योतकार का सुधार अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।[2] मम्मट ने इस दोष को भी सोदाहरण महिमभट्ट से ही लिया है किन्तु सुधार उनका अपना है।[3]

(ट) शब्दप्रक्रमभेद—

चारुतावपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः॥

इस पद्य में 'भूषित करना' अर्थ प्रक्रान्त है जो कि 'तां मदो' तक शाब्द है, किन्तु उसके आगे शब्दतः प्रतिपादित न होने से आर्थ हो जाता है। अतः यहाँ शाब्द प्रक्रम-भेद है। 'तमपि वल्लभसङ्ग' कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है।

(ठ) आर्थप्रक्रमभेद—जहाँ प्रक्रान्त वस्तु का उपक्रम आर्थ हो पर उसका उपसंहार शाब्द हो जाय वहाँ आर्थप्रक्रमभेद दोष होता है, जैसे—

मत्ततादयितसङ्गमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम्।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम्॥

स्पष्ट है कि यहाँ प्रक्रान्त वस्तु का उपक्रम आर्थ है पर प्रथम पाद के बाद उपसंहार शाब्द हो जाने से उसका निर्वाह नहीं हुआ है अतः उक्त दोष है। 'मत्ततां' दयितसङ्गति-रेषा' कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है।

(ड) क्रमप्रक्रमभेद—

'तवकुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः
त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि'

---

1. 'यदि वा दोषोऽयमनुद्भावनीय एव। कालविशेषस्य विवक्षामात्रभावितयाऽनवस्थित-त्वात्।'—हि० व्य० वि०, पृ० ३०२
2. 'विस्रब्धं कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिं पल्वले।' उद्योत टीका
3. 'विस्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्'— का० प्र०, पृ० २३२

इस पद्य के प्रथमार्ध में पहले कामदेव का उल्लेख है, बाद में चन्द्रमा का अतः उत्तरार्द्ध में उनके कृत्यों का भी उल्लेख उसी क्रम से होना चाहिए पर किया गया है, इसके विपरीत है। अतः प्रक्रान्त क्रम का निर्वाह न होने से क्रम-प्रक्रम-भेद दोष है।

व्याख्यानकार यहाँ पर क्रम-प्रक्रम-भेद दोष नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार यहाँ पर चूलिका-क्रम ही उचित है। बात यह है कि स्मर सम्मुख उपस्थित है, इन्दु प्रासङ्गिक है। अतः स्मर के प्रति बिना कुछ कहे इन्दु के प्रति आयाथार्थ्य का कथन उचित नहीं। इसलिए उपक्रम में स्मर का निर्देश पहले है, किन्तु प्रतिनिर्देश में उपस्थित विषय को छोड़कर प्रासङ्गिक द्वारा वाक्यार्थ की समाप्ति उचित नहीं प्रतीत होती इसलिए उपसंहार में सामने उपस्थित स्मर से ही वाक्यार्थ की समाप्ति की जानी चाहिए। जहाँ तक पाठ-क्रम का प्रश्न है, चूलिका क्रम ही अधिक सहृदयरञ्जक है।[1] यही कारण है कि मम्मट इस दोष का उल्लेख तो करते हैं किन्तु उदाहरण वे भिन्न देते हैं।[2]

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि प्रकृति, प्रत्यय, पर्यायादि का भेद होने पर भी प्रधानभूत अर्थ का भेद तो होता नहीं अतः शब्दमात्र का भेद होने पर एकरस प्रतीति में स्खलन मानना ठीक नहीं। पूर्वपक्षी की ऐसी शङ्का ठीक नहीं, इसलिए कि यह समस्त प्रक्रमभेद विध्यनुवादभावरूप ही माना जाना चाहिए। वहाँ भी अर्थ का भेद न होने पर भी शब्द-भेद लोग नहीं पसन्द करते जैसे कि—

> **यदधरदलमाश्रितं प्रियाया वदनसरोरुहसाम्यमेति यश्च।**
> **तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दुर्विषमितरत् तमसा समस्तथान्यः॥**

उदाहरण में प्रथम तथा द्वितीय दोनों अमृत तथा इन्दु पदों का अर्थ एक ही है तो भी भिन्न शब्द से उनका अभिधान नहीं किया गया है।

इस पर पूर्वपक्षी पुनः यह आक्षेप कर सकता है कि अर्थाभेद होने पर भी शब्द-भेद लोग नहीं पसन्द करते इसलिए प्रक्रम-भेद दोष स्वीकार किए जाने पर भी शाब्द तथा आर्थ प्रक्रम-भेद नामक इसके भेद ठीक नहीं, इसलिए कि 'चारुता वपुरभूषयदासाम्' इत्यादि उदाहरणों में भूषण-भूष्यभाव प्रतिपाद्य है। वह चाहे शब्द से प्रतीत हो चाहे अर्थ से और चाहे दोनों से ही। उसके विषय में प्रक्रमाभेद के नियम का आग्रह कैसा? महिमभट्ट के अनुसार प्रतिपक्षी का यह आक्षेप ठीक नहीं इसलिए कि शाब्द-प्रक्रम-भेद अथवा आर्थ प्रक्रम-भेद के स्थलों में प्रतीति का स्खलन न होने पर भी कुछ अनौचित्य दिखायी देता ही है जो कि शब्दार्थ-व्यापार का विभाग न जानने वाले लोगों को नहीं दीख सकता। शब्द के व्यापार का विषयभूत अर्थ भिन्न होता है और अर्थ के व्यापार का विषयभूत अर्थ भिन्न। इनमें जिसे प्राधान्येन प्रतिपादित करना होता है वह शब्द-व्यापार का विषय होता है, क्योंकि उस अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध सम्भव है।

---

१. हि० व्य० वि० व्याख्यान, पृ० ३०८

२. 'अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि···पादोपसङ्ग्रहणाय च॥' अत्र क्रमस्य। का० प्र० पृ० २३२

अप्रधान अर्थ अर्थ के व्यापार का विषय होता है। ऐसी दशा में यदि भूषणभूष्यभाव को प्राधान्येन कहने का उपक्रम कवि करता है तो वह भूषणभूष्यभाव शब्द-व्यापार का ही विषय बन सकता है, अर्थव्यापार का नहीं। शब्द एवं अर्थ के व्यापार की इस प्रकार की विभाग-व्यवस्था होने पर भी इसके विपरीत प्रयोग अर्थ के एकरस प्रतीति के परिस्खलन का हेतु बनता है और इसलिए अनुचित है, जैसा कि शाब्द एवं आर्थ प्रक्रमभेद के उदाहरणों में दिखायी भी देता है।[1]

'शब्दव्यापार का विषय बनने वाला अर्थ प्रधान होता है' महिमभट्ट के इस सिद्धान्त को मान लेने से एक असङ्गति यह आती है कि तब तो प्रतीयमान वस्तुमात्र, अलङ्कार तथा रसादिक अर्थ अप्रधान हो जायँगे, क्योंकि ये भी शब्दव्यापार के विषय नहीं होते अपितु अर्थव्यापार के विषय होते हैं। पर ऐसा माना नहीं जाता इसलिए कि वे दोनों (प्रतीयमान एवं वाच्य) अग्नि एवं धूम की भाँति गम्यगमकभाव से अवस्थित हैं अतः उनमें प्राधान्याप्राधान्यभाव अवश्य होता है। इस असङ्गति का समाधान महिमा के पास यह है कि इसकी प्रधानता एवं अप्रधानता प्रतीति को लेकर स्थिर की जाती है। वाच्य की प्रतीति शब्दव्यापार का विषय है, इसलिए उसमें प्राधान्य माना जाता है तथा प्रतीयमान वैसा नहीं होता। अतः उसका अप्राधान्य ही माना जाता है। इतने पर भी वस्तुमात्र इत्यादि का जो प्राधान्य निश्चित किया जाता है, वह वाच्य एवं प्रतीयमान के बीच धूमाग्निवत् गम्यगमकभाव की दृष्टि से कहा जाता है, प्रतीति की दृष्टि से नहीं। उस गम्यगमकभाव को ही लेकर कहीं पर वाच्य को अप्रधान कहा जाता है।

एक दूसरी शङ्का उठ सकती है कि यदि एकरस प्रतीति में भेद डालने के कारण प्रक्रम-भेद अनौचित्य कहलाता है तब तो एक ही वस्तु के वर्णन के समय महाकवियों की जो अलङ्कारनामभाजन भङ्गीभणितियाँ देखी जाती हैं उनमें भी प्रक्रमभेददोष होगा इसलिए कि यहाँ और वहाँ कोई अन्तर नहीं है। महिमा उन स्थलों पर भी प्रक्रमभेद दोष मानते ही हैं। केवल अत्यन्त स्वादु अलङ्कारों के समूह में दब जाने के कारण तथा एक ही वाक्य में न होने के कारण वह वैरस्य का उत्पादक नहीं होता। वस्तुतः तो समस्त भणिति-प्रकार प्रक्रमभेद का विषय है।

(ङ) वस्तुप्रक्रमभेद

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोरसावस्यास्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

इस पद्य में नायिका के वर्णन से वस्तु का उपक्रम किया गया है पर क्रम का निर्वाह न करके द्वितीय चरण से ही उसके स्पर्श आदि का वर्णन आरम्भ हो जाता है। फलस्वरूप वस्तु प्रक्रमभेद दोष है। इसलिए यहाँ पर 'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्तिर्नयनयोः' कर देने से उक्त पद्य निर्दोष हो जाता है।

कभी-कभी कविजन चारुत्व के लिए प्रकृत भी कर्तृत्व का अन्यत्र आरोप कर देते हैं, जैसे 'अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि' पद्य में अहं के

---

१. हि० व्य० वि०, पृ० ३१०-३१२

कर्तृत्व का 'अयं' पर आरोप किया गया है। पूर्वप्रसङ्ग को देखते हुए यहाँ पर कर्तृप्रक्रम-भेद नामक दोष माना जाना चाहिए पर महिमभट्ट इसे दोष न मान कर कर्तृव्यत्यास नामक गुण मानते हैं। उनके अनुसार ये स्थल कर्तृ-प्रक्रम-भेद दोष के नहीं हो सकते हैं इसलिए कि दोनों के ही लक्षण भिन्न हैं। जहाँ पर युष्मद् और अस्मद् शब्द के अर्थ प्रकृत (प्रसङ्गप्राप्त) हों और तब भी उन्हें छोड़कर उनका कर्तृत्व चारुत्व के लिए किसी और पर आरोपित कर दिया जाय वहाँ कर्तृव्यत्यास नामक गुण होता है और जो विषय जिस ढङ्ग से प्रक्रान्त हो उसका उसी ढङ्ग से उपसंहार न होने पर प्रक्रम-भेद दोष होता है। प्रकरण से वह नहीं जाना जाता।[1] इस प्रकार लक्षण भिन्न होने से इन स्थलों पर दोष के लिए अवकाश नहीं है।

युष्मद् एवं अस्मद् के अर्थ का जिस अन्य पर आरोप किया जाता है वह चेतन और अचेतन भेद से द्विविध होता है। उपर्युक्त उदाहरण चेतन पर अस्मदर्थ के आरोप का है। अचेतन पर अस्मद् एवं युष्मद् के अर्थ के आरोप का उदाहरण है—

चापाचार्यः त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयो
बाणव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥

यहाँ पर तुमने रेणुका का कण्ठ काटा है अतः तुमसे स्पर्धा करते हुए मुझे लज्जा आती है, ऐसा कहना था पर चारुत्व के लिए युष्मद् और अस्मद् दोनों का अर्थ अचेतन परसु तथा चन्द्रहास पर आरोपित करके ऐसा कहा गया है।

महिमभट्ट का प्रक्रमभेद दोष विषयक यह विवेचन मौलिक होने के साथ-साथ बहुत ही विशद है। यद्यपि भामह बहुत पहले ही अपक्रम नामक दोष का विवेचन कर चुके थे किन्तु वह दोष महिमभट्ट के केवल क्रम-प्रक्रम-भेद नामक दोष में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उससे महिमा की मौलिकता को आघात नहीं पहुँचता। जैसा कि स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है, मम्मट ने क्रम-प्रक्रम-भेद दोष के उदाहरण को छोड़कर अन्य सब कुछ महिमभट्ट से ही लिया है और उसे अपनी सूत्रशैली में, बिना पूर्वपक्षादि-उपस्थापन के प्रतिपादित किया है। प्रक्रम-भेद के जिन भेदों को मम्मट अपनाते हैं, उन भेदों के विवेचन के समय इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है। शेष का उल्लेख मम्मट नहीं करते। केवल यह कहकर आगे बढ़ जाते हैं कि भग्न-प्रक्रमता के इसी प्रकार के अन्य उदाहरण अपने से खोज लेना चाहिए।

३. **क्रम-भेद**—इस दोष का भी महिमभट्ट लक्षण तो नहीं करते पर उनके सम्पूर्ण विवेचन के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यरूप से यह दोष उन स्थलों पर होता है जहाँ च, इव, एवमादिक अव्ययों का प्रयोग उचित स्थान पर न किया

---

१. ''प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यत्रारोप्येत गुणः स तु न दोषः॥
यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव तस्य न चेत्।
निर्वाहः स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः॥''—हि० व्य० वि०, पृ० ३२०

जाय। यह दोष वहाँ भी होता है जहाँ परामर्श्य का उल्लेख तो बाद में किया जाय किन्तु तद्परामर्शक सर्वनाम का प्रयोग पहले ही कर दिया जाय। जैसे कि अधोलिखित उदाहरण में—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्'

यहाँ पर परामर्शनीय अर्थ 'गङ्गाम्' को बिना कहे ही उसके परामर्शक तद् का उपादान पहले होने से क्रम-भेद दोष है क्योंकि सर्वनाम का विषय प्रकरण से प्राप्त अर्थ हुआ करता है, आगे आने वाला अर्थ नहीं। वह सर्वनाम-परामर्श स्मरण रूप परामर्श ही होता है और स्मृति का विषय अनुभूत ही होता है, अनुभव में आने वाला नहीं। सर्वनाम से होने वाले स्मरण रूप परामर्श में केवल प्रतीति-सामान्य अनुभवरूप में अभिप्रेत है, इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं।[1]

यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रमादवश पादों का पौर्वापर्य हो गया है, अतः उक्त क्रम-भेद दोष यहाँ वस्तुतः नहीं है, इसलिए कि पादों के पौर्वापर्य को उलट देने पर गङ्गा के प्रतीपगमन का गजसेतुबन्धरूप हेतु जो कि शाब्द है, तीर्थे एवं तदीये शब्दों से व्यवहित हो जाता है। फलस्वरूप एक अन्य ही प्रक्रम-भेद दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः यहाँ पर पादों के विपर्यय के साथ-साथ शाब्द हेतु को गङ्गा का विशेषण बनाते हुए आर्थ कर देने पर उक्त दोष का परिहार हो जाता है।[2]

वस्तुतः कालिदास के इस पद्य को उक्त प्रकार से दुष्ट सिद्ध करना महिमभट्ट का प्रमादमात्र है। उन्होंने इस पद्य में तीर्थ का अर्थ गङ्गा का अवतार मानते हुए तदीये को गङ्गा का परामर्शक माना है जबकि तीर्थ का अर्थ है—विन्ध्य का अवतार तथा तदीये अव्यवहित पूर्व वाले श्लोक में आए विन्ध्य पर्वत का परामर्शक है।[3] अतः महिमा का दोषविषयक यह सिद्धान्त तो ठीक है पर उसका यह उदाहरण ठीक नहीं है।

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।'

पद्य में भी महिमा के अनुसार क्रमभेद दोष है। जिस प्रकार से द्वितीय पाद में आरोप की निवृत्ति हो जाने पर आरोप के विषय के अभिधायक सुरधनुष के पश्चात् ही 'इदं' का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार से प्रथम पाद में भी आरोप के विषय 'नवजलधर' पद के पूर्व या पश्चात् ही 'अयं' शब्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि 'शुक्तिकेयं न रजतम्' प्रयोग के समान हो यही क्रम न्याय्य है। किन्तु यहाँ तो 'अयं' का प्रयोग दृप्तनिशाचर के विशेषण 'सन्नद्धः' पद के बाद हुआ है। अतः यहाँ न्याय्य-क्रम का निर्वाह न होने के कारण क्रम-भेद दोष है।

इसी प्रकार 'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' पङ्क्ति में द्वितीय 'च' शब्द को 'त्वम्' के पश्चात् होना चाहिए पर वह रखा गया है लोकस्य के बाद अतः क्रमभेद दोष हुआ।

---

१. वही, पृ० ३२३, ३२४

२. वही, पृ० ३२६

३. रघुवंश १६।३२, ३३ तथा ३३ पर मल्लिनाथ की टीका

मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम् ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ।।

श्लोक में 'पुनः' शब्द को तेन के बाद होना चाहिए। पर उसका प्रयोग 'अनुष्ठितम्' के बाद हुआ है अतः क्रम-भेद दोष है।

इस दोष के इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी महिमभट्ट ने दिए हैं।

मम्मट इस दोष का उल्लेख 'अक्रमता' नाम से करते हैं किन्तु इस दोष-विषयक विचारों में वे महिमा के ही अनुयायी हैं, यद्यपि अक्रमता के प्रसङ्ग में उद्धृत तीन उदाहरणों में से केवल एक उदाहरण उन्होंने महिमा से लिया है, शेष दो उनके अपने हैं।

पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि भामह ने अपक्रम नामक एक दोष का उल्लेख किया था जो कि महिमभट्ट के प्रक्रम-भेद एवं क्रम-भेद दोषों से साम्य रखता है, किन्तु दोनों के विवेचन में जो महान् अन्तर है उसे देखते हुए इन दोषों को भी महिमभट्ट की मौलिक उद्भावना मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

४. पौनरुक्त्य—जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है—भामह ने पुनरुक्ति नामक दोष का विवेचन किया है। शब्द-पुनरुक्ति एवं अर्थ-पुनरुक्ति भेद से वे इस दोष को द्विविध मानते हैं, किन्तु स्थूलत्वात् वे शब्द-पुनरुक्ति का विवेचन न कर केवल अर्थ-पुनरुक्ति का ही विवेचन करते हैं तथा इसे एकार्थ की संज्ञा देते हैं। दण्डी, वामन भी इस दोष का इसी नाम से उल्लेख करते हैं, किन्तु वामन इस दोष का उल्लेख वाक्यार्थ-दोष के अन्तर्गत करते हैं, जिससे स्पष्ट है कि वे इसे अर्थगत ही मानते हैं, शब्दगत नहीं। साथ ही वे एकार्थ दोष के ऐसे बहुत से स्थलों का उल्लेख करते हैं, जहाँ विशिष्ट अर्थों का बोध कराने के कारण एकार्थता दोष नहीं है। महिमभट्ट इस दोष का उल्लेख पौनरुक्त्य दोष के नाम से करते हैं और वामन की ही सरणि पर शब्द-पुनरुक्ति को दोष नहीं मानते। उनकी तो यह स्पष्ट घोषणा है कि शब्द-साम्य होने पर भी यदि अर्थ का भेद है तो वह शब्द-पुनरुक्ति दोष नहीं है।[१] इसके विपरीत अर्थ का भेद न होने पर शब्द-पुनरुक्ति दोष है। अर्थ का अभेद होने पर भी यदि तात्पर्य भिन्न है तो महिमा के अनुसार वह अर्थ पुनरुक्ति गुणकारी है, दोषावह नहीं कारण कि ऐसे स्थल लाटानुप्रास के माने गए हैं।[२] पर जहाँ अर्थ और तात्पर्य इन दोनों में से किसी का भी भेद नहीं होता वहाँ पुनरुक्ति दोष है जैसे—'जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूनाः' इस उदाहरण में द्वितीय 'बिस' शब्द का अर्थ सर्वनाम द्वारा कहा जाना चाहिए, 'बिस' शब्द से नहीं। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम 'बिस' शब्द 'भक्षण' क्रिया की कर्मता के द्योतनार्थ है और द्वितीय 'बिस' शब्द प्रसून के साथ उसके सम्बन्ध को बताने के लिए उपात्त है अतः यहाँ पर शब्द-पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य में भेद होने के कारण दोष नहीं है इसलिए

---

१. 'पौनरुक्त्यमार्थमेकमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। यदुक्तं "तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग्वाच्यम् अर्थपुनरुक्तेनैव गतार्थत्वात्। न ह्यर्थभेदे शब्द-साम्येऽपि कश्चिद्दोषः।" —हि० व्य० वि०, पृ० ३३२

२. 'तदभेदे तु दुष्टतैव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात् तच्च भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रास-विशेषविषयत्वेनेष्टत्वाद्।' — वही, पृ० ३३३

कि तात्पर्य कहलाता है अपने अर्थ को कह रहे शब्द का दूसरे किसी अर्थ-प्रतीति की ओर उन्मुख होना। यहाँ पर ऐसी कोई बात सम्भव नहीं है, क्योंकि कहे हुए दोनों ही अर्थ अभिधेय होने के कारण अर्थान्तर नहीं माने जा सकते और चूँकि ऐसी मान्यता है कि सर्वनाम के द्वारा परामर्श के योग्य अर्थ का जो पुनः अपने शब्द द्वारा ही कथन किया जाता है, वह शब्द-पुनरुक्ति नामक दोष होता है[1] इसलिए प्रकृत स्थल में भी 'बिस' शब्द की पुनरुक्ति दोष है। सर्वनाम द्वारा परामर्श की योग्यता दो प्रकार से होती है—प्राधान्य से तथा सम्बन्धी के कथन से। अतः समास में आए हुए अर्थ का भी सर्वनाम द्वारा परामर्श दोष नहीं होता।[2] अतः 'बिसप्रसूनाः' में आए 'बिस' का परामर्श सर्वनाम द्वारा ही होना चाहिए इस प्रकार 'जक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' पाठ उचित होगा।

यह पौनरुक्त्य अनेक प्रकार का होता है, क्योंकि उसके विषय प्रकृति, प्रत्यय, प्रकृतिप्रत्यय, पद और वाक्य-भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। प्रकृति-विषयक पौनरुक्त्य का उदाहरण है—

'अश्वीयसंहतिभिरुद्धतमुद्धुराभिर्भूरेणुजालमखिलंवियदाततान्'

यहाँ पर समूहार्थक प्रकृति ('अश्वीय', अश्व शब्द से समूहार्थक 'छ' प्रत्यय) और 'संहति' दोनों पुनरुक्त हैं।

प्रत्यय-विषयक पौनरुक्त्य का उदाहरण है 'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः'। यहाँ पर बिसकिसलयच्छेदपाथेयाः कह देने से हो अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाने से 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग पुनरुक्त है।

प्रकृतिप्रत्यय विषयक पौनरुक्त्य का उदाहरण है—'छायामपास्य महतीमपि वर्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्'। यहाँ पर केवल 'जन' शब्द से ही समूह अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः 'जनता' में समूहार्थक 'तल्' प्रत्यय रूप प्रकृति और उससे भी आगे आये बहुवचन वाचक प्रत्यय का प्रयोग पुनरुक्त है।

पद-विषयक पुनरुक्ति का उदाहरण है—

दलत्कन्दलभाग् भूमिस्सलम्बाम्बुदम्बरम्
वाप्यः फुल्लाम्बुजयुजो जाता दृष्टेर्विषं मम ॥

उपर्युक्त पद में 'भज्', 'सह' और 'युज्' पद पुनरुक्त हैं इसलिए कि यहाँ पर भी बहुव्रीहि समास द्वारा ही इनके अर्थों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ पर विशेषण से ही विशेष्य की प्रतीति सामान्यतः हो रही हो वहाँ उस विशेष्य का कथन भी पद-पुनरुक्ति दोष का उदाहरण होगा। जैसे 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः' में 'शीतकिरणाभरणो' विशेषण से ही 'भव' रूप अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः 'भव' पद पुनरुक्त है। किन्तु जहाँ विशेषण से विशेष्य की प्रतीति विशिष्ट रूप में हो रही हो वहाँ विशेष्य का उपादान पुनरुक्त नहीं होगा, जैसे—

---

१. वही, पृ० ३३५

२. 'प्राधान्यमथ सम्बन्धिनिबन्धो योग्यता द्वयी।
नातः समासगस्यापि परामर्शोऽस्य दुष्यति ॥' —वही, पृ० ३३५

'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ।।

उदाहरण में 'हर' शब्द पुनरुक्त नहीं है। इसलिए कि यहाँ पर 'पिनाकपणि' विशेषण से 'हर' की विशेषता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

इसी प्रकार जहां पर प्रतिवस्तूपमा इत्यादि अलङ्कारों से उपमानोपमेयभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा हो वहाँ पर शब्दतः उपमानत्व का कथन भी पुनरुक्ति दोष होता है।[1] क्रिया से ही अविनाभावरूप से सम्बद्ध कारक की प्रतीति क्रिया से ही हा जाती है। अतः ऐसे कारकों का प्रयोग भी पुनरुक्ति दोष हुआ। किन्तु यदि वह कारक किसी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है तो उसका शब्दतः उपादान पुनरुक्ति दोष नहीं होगा।[2] इसी प्रकार जहां एक ही अलङ्कार शाब्द रूप से और आर्थ रूप से दो बार कहा जाता है, वहाँ भी पुनर्रुक्ति दोष होता है।[3]

वाक्यार्थविषयक पौनरुक्त्य का उदाहरण है—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः''

यहाँ पर आपत्ति का हेतु 'सहसाकार्यकारित्व' है जो अविमृश्यकारिता रूप है। इन दोनों का कार्यकारणभाव प्रथम वाक्य में ही अन्वयमुखेन प्रतिपादित किया जा चुका है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यतिरेकमुखेन इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। अतः पुनरुक्ति दोष हुआ। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि 'शब्द से साधर्म्य द्वारा कथन हो तो अर्थसामर्थ्य से वैधर्म्य द्वारा भी अन्वय का बोध हो जाता है'।[4]

आचार्य मम्मट ने पुनर्रुक्त दोष का नामोल्लेख करते हुए इसके दो उदाहरण दिए हैं[5] पर उनका यह विवेचन महिमभट्ट के उस प्रौढ़ विवेचन के सम्मुख बिलकुल ही अपर्याप्त लगता है।

५. **वाच्यावचन**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'वाच्य' अर्थात् अवश्य कथनीय के न कहे जाने के फलस्वरूप यह दोष होता है। साथ ही यह दोष वहाँ भी होता है, जहाँ अवाच्य का कथन किया जाय। दोनों ही अवस्थाओं में अभीष्ट अर्थ का विपर्यय हो जाता है। इनमें से वाच्यावचन का उदाहरण है कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी। यहाँ पर भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भ्रान्ति के विषयभूत विद्युत् का 'इदम्' के द्वारा परामर्श होना चाहिए, जैसा इसी श्लोक के अन्य पादों में 'सुरधनु' तथा 'धारासार' शब्दों का परामर्श 'इदम्' पद के द्वारा हुआ है। चूँकि उस 'इदम्' का प्रयोग यहाँ पर नहीं हुआ है अतः यहाँ पर वाच्यावचन दोष हुआ। इसी प्रकार 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इस वाक्य में 'कपाली' शब्द कपाल सम्बन्ध से उत्पन्न गर्हितत्व का प्रत्यायक होने के कारण विशेषण है। अतः विशेष्य

---

१. वही, पृ० ३५४
२. वही, पृ० ३५७
३. वही, पृ० ३५८
४. साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थाद् वैधर्म्येणान्वयगतिः, वही, पृ० ३७८
५. काव्यप्रकाश, पृ० २३६

भगवान् शिव का परामर्श सर्वनाम द्वारा अवश्य होना चाहिए। किन्तु उनका परामर्श कराने वाला कोई सर्वनाम प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः यहाँ भी वाच्यावचन दोष है। इसी उदाहरण में भगवान् शिव के परामर्शक सर्वनाम शब्द का प्रयोग हो जाने पर कपाली शब्द विवक्षित गर्हितत्वरूप अर्थ की सिद्धि के प्रति हेतु बन जायगा, जैसे कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये' उदाहरण में पिनाकपाणि विशेषण के रहते हुए भी पर्याय शब्द हर के द्वारा भगवान् शिव का परामर्श किया गया है। यहाँ पर 'पिनाकपाणि शब्द धैर्यच्युति की अशक्यता में आर्थ हेतु है।

जहाँ कोई अन्य अलङ्कार उपयुक्त हो वहाँ किसी अन्य अलङ्कार का प्रयोग भी महिमभट्ट के अनुसार वाच्यावचन दोष है, जैसे समासोक्ति के क्षेत्र में श्लेष का प्रयोग अथवा श्लेष के स्थल में उपमा का प्रयोग अथवा रूपक के स्थल में उपमा का प्रयोग।[1]

अवाच्यवचन—जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, 'वाच्यावचन' के अन्तर्गत ही अवाच्यवचन दोष का भी सङ्ग्रह हो जाता है। इसके अन्तर्गत दोष के वे सभी स्थल समाविष्ट हो जाते हैं जहाँ अवाच्य—अकथनीय का कथन किया गया हो। इस दोष का विवेचन भी महिमभट्ट ने बहुत विस्तार में किया है। यहाँ पर स्थालीपुलाकन्य येन केवल कुछ उद्धरण उद्धृत किए जाते हैं।

'सरित्समुद्रान् सरसींश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥'

इस उदाहरण में जलरूप एक ही अर्थ का जो पर्याय-भेद बताकर उपमानोपमेय-भाव बतलाया गया वह अवाच्यवचन दोष है। इसलिए कि उपमानोमेयभाव तो भिन्न अर्थों में रहता है। यहाँ पर 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्' कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है।[2] इसी प्रकार

'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो
रसावस्यास्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

श्लोक में साक्षात् नायिका का जो वर्णन है, वह अवाच्य है क्योंकि यहाँ नायिका सम्बन्धी स्पर्श आदि की ही भाँति ही रम्य पदार्थों को नायिका का अङ्ग स्वीकार किया गया है। इसलिए उस नायिका का कथन दोष है।[3] 'रुरुचे हिमाचल-गुहामुखोन्मुखः पयसां प्रवाह इव सौरसैन्धवः' इस उदाहरण में जो 'पयसां' शब्द का

---

१. हि० व्य० वि०, पृ० ३९१-३९५

२. 'अत्र ह्येकस्यैवार्थस्य यः पर्यायमात्रभेदेन भेदमुपकल्प्योपमानोपमेयभावो निबद्धः सोऽवाच्यवचनं दोषः तस्य भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। तदयमत्र पाठो युक्तः 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत' इति। अस्मिंश्च पाठे भिन्नलिङ्गत्वमुपमादोषोऽपि परिहृतो भवति।—वही पृ० ४३६

३. वही, पृ० ४३७

प्रयोग प्रवाह के विशेषणरूप में किया गया है वह वस्तुतः अवाच्य है इसलिए कि प्रवाह का जल के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है।[1]

'रहयिष्यति तं लक्ष्मीर्नयविमुखो नापदां पदं क इव।
स च तव रिपुरेवमतो भावी तस्यापि तद्विरहः।'

इस उदाहरण में प्रतिज्ञावाक्य और निगमन (अतः उसे उसका विरह भोगना होगा) पुनरुक्त है। बात यह है कि जिस हेतु की व्याप्ति प्रसिद्ध होती है, उसका पक्ष में उपसंहार बतला देने से ही दोनों कार्यों (प्रतिज्ञा, निगमन) की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि कहा गया है कि प्रतिज्ञा का ही निगमन में पुनः कथन पुनरुक्ति है क्योंकि उसका अर्थ स्वयं ही गम्यमान है।[2]

उत्तरमहिम आचार्यों का दोष-विवेचन एवं उनपर महिमभट्ट का प्रभाव

परवर्ती आचार्यों में दोषों का विशद विवेचन करने वाले आचार्य हैं—मम्मट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ। इन तीनों ही आचार्यों का दोष-विवेचन महिमभट्ट के दोष-विवेचन से बहुत अधिक प्रभावित है। आचार्य मम्मट पर महिमभट्ट के प्रभाव का उल्लेख पीछे यथास्थान किया जा चुका है। साधारणतया यह समझा जाता है कि हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने दोष-विवेचन के प्रसङ्ग में मम्मट का ही अनुकरण किया है[3] पर वस्तुस्थिति यह है कि जिन दोषों का विवेचन महिमभट्ट ने किया है उन दोषों को इन आचार्यों ने उनके मौलिक स्रोत व्यक्तिविवेक से ही ग्रहण किया है। जैसा कि यथास्थान निर्देश किया जा चुका है कि 'व्यक्तिविवेक' से ग्रहण तो मम्मट ने भी बहुत कुछ किया है, किन्तु अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने केवल महिमभट्ट के विवेचन के सार-भाग को अपनाया है। किन्तु ये आचार्य महिमभट्ट की न केवल मान्यताओं को ग्रहण करते हैं अपितु उन मान्यताओं की पुष्टि में प्रस्तुत किए गए महिमभट्ट के तर्कों को भी अपनाते हैं। विधेयाविमर्श दोष के प्रसङ्ग में 'नञ्' समास की अनुपयुक्तता का उल्लेख तो मम्मट करते हैं किन्तु इसी प्रसङ्ग में महिमभट्ट द्वारा उपस्थापित 'प्रसज्यप्रतिषेध' तथा 'पर्युदास' विषयक विवेचन का उल्लेख नहीं करते जबकि विश्वनाथ ने इनसे सम्बद्ध सम्पूर्ण विवेचन को सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

---

१. 'अत्र हि पयसामिति यत्प्रवाहस्य सम्बन्धितया विशेषणं तदवाच्यमेव तस्य हि तत्सम्बन्धिताऽव्यभिचारात्।' —वही, पृ० ४४२

२. 'अत्र प्रतिज्ञानिगमनयोः पौनरुक्त्यम्। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिण्युपसंहारवचनेनैव तदुभयार्थसिद्धेरिति। यदुक्तं 'प्रतिज्ञाया एव तावद्गम्यमानार्थाया वचनं पुनर्वचनं, किं पुनरस्याः पुनर्वचनमित्यपार्थकं निगमनम्।' वही, पृ० ४४३

३. (a) 'Hemchandra's treatment of दोषs in chaptar III of his काव्यानुशासन is almost a reproduction of मम्मट's chapter on 'दोषs.'
(b) विश्वनाथ reproduced in the 7th. chapter of his 'साहित्यदर्पण' the 7th chapter of 'मम्मट's work' Bhoja's शृङ्गारप्रकाश, p. 246.

उनका यह विवेचन व्यक्तिविवेक से प्रायेण अक्षरशः मिलता है।[१] इसी प्रकार महिमभट्ट का 'यत्तद् के उपक्रमोपसहार' से सम्बद्ध विवेचन बहुत विस्तृत है तथा उसमें पूर्वपक्षी की सभी सम्भाव्य शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस स्थल पर भी मम्मट महिमभट्ट की मान्यताओं को ही अपनाते हैं, शङ्का समाधान वाले विस्तार से उन्हें कोई मतलब नहीं। किन्तु हेमचन्द्र इस प्रसङ्ग में उस सारे ही विवेचन को प्रायेण अक्षरशः प्रस्तुत करते हैं।[२] इसके अतिरिक्त पुनरुक्ति दोष तथा वाच्यावचन दोष से सम्बद्ध महिमकृत विवेचन को मम्मट ने बिलकुल ही नहीं लिया है। पर ये आचार्य पुनरुक्ति एवं वाच्यावचन दोषों का विवेचन करते हैं और उनका यह विवेचन भी महिमभट्ट के विवेचन से प्रायः अक्षरशः साम्य रखता है।[३] इसके अतिरिक्त क्रमभेद और प्रक्रम-भेद दोषों से सम्बद्ध भी इन आचार्यों का विवेचन महिमभट्ट के विवेचन से से साम्य रखता है।[४] मम्मट की भाँति ही ये दोनों आचार्य भी महिमभट्ट के वृत्तानौचित्य विषयक विचारों का स्वागत करते हैं और इस दोष का उल्लेख 'हतवृत्त' नाम से करते हैं।[५] इस प्रकार ये दोनों आचार्य भी मम्मट की भाँति ही व्यक्तिविवेककार के साक्षात् ऋणी हैं, परम्परया नहीं।

इस प्रकार महिमभट्ट के दोषविषयक समीक्षा ने परवर्ती काव्यशास्त्र को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उनका यह विवेचन इतना वैदुष्यपूर्ण रहा है कि सम्प्रदाय की दृष्टि से उनके विरोधी तथा उनके अनुमितिवाद की कटु आलोचना करने वाले भी आचार्यों ने उनकी दोष-विषयक मान्यताओं को अपने आकर ग्रन्थों में सादर स्थान दिया। वृत्तानौचित्यविषयक उनकी मान्यता का ही चरम परिपाक आचार्य क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक में परिलक्षित होता है।

———

१. साहित्यदर्पण पृ० ५६५-५७०

२. काव्यानुशासन पृ० २४५-२५६

३. (क) काव्यानुशासन, पृ० २६५, २०५, २०६, २२३, २३५
   (ख) साहित्यदर्पण पृ०, ६०४

४. (क) काव्यानुशासन, पृ० २१०, २१६-२२२
   (ख) साहित्यदर्पण, पृ० ५६०, ५८३-५६५

५. (क) काव्यानुशासन, पृ० २१४
   (ख) साहित्यदर्पण, पृ० ५८३

षष्ठ अध्याय

महिमभट्ट की कुछ मौलिक उद्भावनायें

पिछले पाँच अध्यायों में महिमभट्ट के विषय में विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। 'व्यक्तिविवेक' में मुख्य विषय के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में महिमभट्ट ने अनेक ऐसे अवान्तर विषयों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है, जिन्हें उनकी मौलिक उद्भावना कह सकते हैं। प्रकृत प्रबन्ध में यथास्थान उनकी इन मौलिक उद्भावनाओं की ओर सङ्केत भी किया गया है। किन्तु महिमभट्ट के देयांश के मूल्याङ्कन के लिए केवल उतना सङ्केत अपर्याप्त है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण, उनकी इन मौलिक उद्भावनाओं पर अलग से विस्तार से विचार किया जाय।

काव्य का रसपरक लक्षण

संस्कृत आलङ्कारिकों द्वारा निरूपित काव्य-लक्षणों के पर्यवेक्षण से एक धारणा यह बनती है कि इन सभी द्वारा निरूपित काव्य-लक्षणों में पर्याप्त भिन्नता है। कुछ आलङ्कारिक शब्द एवं अर्थ दोनों को ही काव्य मानते हैं तो कुछ केवल शब्द को। आलङ्कारिकों का एक तीसरा वर्ग है जो रस को ही काव्य का व्यवच्छेदक धर्म मानता है। इस प्रकार इस तथ्य के आधार पर काव्यलक्षण की दृष्टि से आलङ्कारिकों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं :—

(१) प्रथम वर्ग है, शब्दार्थ के साहित्य को काव्य कहने वालों का। इस वर्ग के अन्तर्गत भामह, वामन, रुद्रट, कुन्तक एवं मम्मट की गणना की जा सकती है।

(२) द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत दण्डी एवं पण्डितराज जगन्नाथ आते हैं।

(३) काव्य का रसपरक लक्षण करने वाले आचार्य हैं महिमभट्ट तथा कविराज विश्वनाथ।

काव्यलक्षण की दृष्टि से आलङ्कारिकों का यह वर्गीकरण उनके लक्षण के प्रधान वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर किया गया है। वस्तुतः तो कोई भी काव्यलक्षण ऐसा नहीं है, जिसमें एक तत्त्व के सद्भाव में दूसरे तत्त्व का ऐकान्तिक अभाव हो। शब्दप्रधान भी काव्यलक्षण में अर्थ की सत्ता है, किन्तु उन आचार्यों की दृष्टि में वह शब्द की अपेक्षा गौण है। इसी प्रकार शब्दार्थ उभयप्रधान आरम्भिक आचार्यों के काव्यलक्षण में भले ही रस की सत्ता न हो पर मम्मट के काव्यलक्षण में तो रस की सत्ता व्यङ्ग्य है। अतः यह विभागव्यवस्था केवल प्राधान्य की दृष्टि से है।

भामह ने शब्द एवं अर्थ के साहित्य को काव्य कहकर[1] काव्य के अन्तर्गत शब्द एवं अर्थ दोनों के समान महत्त्व पर बल दिया है। उनके इस मत के विपरीत दण्डी

---

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' १।१६ काव्यालङ्कार—भामह

शब्द को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उन्होंने इष्ट अर्थ से विभूषित पदसमूह को काव्य कहा है।[1] वामन भी भामह की ही सरणि पर शब्द एवं अर्थ को ही काव्य मानते हैं। इतना अवश्य है कि उनकी दृष्टि में उस शब्द और अर्थ का गुण एवं अलङ्कार के द्वारा संस्कृत होना आवश्यक है।[2] रुद्रट भी शब्द एवं अर्थ को ही काव्य मानते हैं।[3] कुन्तक के काव्यलक्षण को तो भामह के ही काव्यलक्षण का विशदीकरण कहा जा सकता है।[4] राजशेखर भी शब्द तथा अर्थ के यथावत् सहभाव से युक्त विद्या को साहित्य विद्या कहते हैं।[5]

साहित्यसमीक्षाशास्त्र के रङ्गमञ्च पर आनन्दवर्धन के आविर्भाव के साथ ही काव्य में रस को उसका उपयुक्त स्थान प्राप्त होता है। फलस्वरूप परवर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण में रस को भी स्थान मिलता है। यही कारण है कि शब्दार्थप्रधान भी काव्य-लक्षण करने वाले मम्मट के काव्यलक्षण में भी रस की स्थिति व्यङ्ग्य है।[6] महिमभट्ट के ज्येष्ठ समसामयिक राजा भोज ने रस को काव्य के आवश्यक उपादानों में से एक प्रतिपादित किया[7] किन्तु महिमभट्ट तो कट्टर रसवादी आचार्य हैं। वे रस को काव्य का न केवल आवश्यक उपादान बताते हैं, अपितु वे इसे काव्य की आत्मा घोषित करते हैं[8] और रस के अभाव में वे किसी काव्यखण्ड को काव्य ही मानने से इनकार कर देते हैं।[9] इस प्रकार महिमभट्ट के काव्यलक्षण का रसपरक होना स्वाभाविक था। उनके अनुसार विभावादि की समीचीन योजना से युक्त कवि का वह व्यापार ही काव्य है, जो नियमतः रस का अभिव्यञ्जक हो।[10] इस लक्षण में प्रयुक्त कविव्यापार शब्द से जहाँ एक ओर

---

१. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' १।१०—काव्यादर्श-दण्डी

२. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते' १।१।१ की वृत्ति—काव्या० सूत्रवृत्ति।

३. 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' २।१ काव्यालङ्कार—रुद्रट

४. 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि' ।।१।७
वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक

५. 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय

६. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास

७. अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।—सरस्वतीकण्ठाभरण १।२

८. 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः'—हि० व्य० वि०, पृ० १११

९. 'तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् किमुत विशिष्टत्वम्।' वही, पृ १०३।

१०. 'कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते'। वही, पृ० १०१

काव्य की शब्दार्थात्मकता गतार्थ हो जाती है, वहीं 'विभावादिसंयोजनात्मा' विशेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का कार्य विभावादि का संयोजनमात्र है, तथा रस उन विभावादिक के संयोजन से गम्य होगा, वह कभी वाच्य नहीं होगा। साथ ही उक्त लक्षण से यह भी स्पष्ट है कि कवि की वही रचना काव्य होगी, जिससे अव्यभिचरित रूप से रस की अभिव्यक्ति हो रही हो। केवल छन्दोबद्ध होने से ही कोई रचना काव्य नहीं कही जा सकती। साथ ही इस लक्षण से काव्य का दोषरहित होना भी गतार्थ हो जाता है। इसलिए कि रस की सफल अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जबकि वह रचना दोषरहित हो। दोष के सद्भाव में रसाभिव्यक्ति सम्भव नहीं इसलिए कि दोष ही सबसे बड़ा रस-भङ्ग हेतु कहा गया है।[1] लक्षण में आये 'रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी' पद के उपादान से यह स्पष्ट है कि उन रसों से सम्बद्ध गुण भी वहाँ पर रहेंगे। इस प्रकार महिमभट्ट के इस काव्यलक्षण का निर्गलितार्थ यह हुआ कि दोषरहित एवं गुणयुक्त कविप्रयुक्त उस शब्दार्थ की काव्य संज्ञा हुई जो नियमतः रसाभिव्यक्तिक्षम हो। व्यक्तिवादी आचार्यों ने भी काव्य का यही लक्षण किया है।[2] इस प्रकार से महिमभट्ट का यह काव्यलक्षण रसपरक होने के साथ ही साथ एक निर्दुष्ट काव्यलक्षण है।

महिमा की सरणि पर काव्य का रस परक लक्षण करने वाले एकमात्र परवर्ती आचार्य हैं--विश्वनाथ कविराज। राजा भोज को महिमा से परवर्ती मानते हुए उनके ऊपर महिमा का प्रभाव दिखना भ्रामक है[3] इसलिए कि ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर राजा भोज किसी भी दशा में महिमभट्ट से परवर्ती नहीं सिद्ध होते। यद्यपि आचार्य विश्वनाथ का काव्यलक्षण 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' सदोष कहा जाता है, तथापि यह दोष उनका अपना है, महिमभट्ट का नहीं। महिमभट्ट ने तो रस की गम्यमानता का प्रतिपादन सुस्पष्ट शब्दों में किया है और अपने 'काव्यलक्षण' में भी वे अभिव्यक्तिवाद के विरोधी आचार्य होते हुए भी रस की गम्यमानता को ही दृष्टि में रखते हुए कविव्यापार का विशेषण 'रसाभिव्यक्तिव्यभिचारी' देते हैं, रसात्मक नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि उनके इस काव्यलक्षण से काव्य का क्षेत्र बहुत अधिक सङ्कीर्ण हो जाता है। यही कारण है कि बहुत से वस्तुध्वनि के उदाहरण जो कि व्यक्तिवादियों की दृष्टि में उत्तम काव्य के निदर्शन हैं, महिमभट्ट को प्रहेलिकाप्राय दिखलायी देते हैं।[4] साथ ही रसात्मकता को ही काव्य का निर्णायक तत्त्व मान लेने से रसाभाव के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार से युक्त स्थल तथा प्रकृति के रमणीय तथा भयावह दृश्यों के चित्रण जो कि चिरकाल से काव्य के अङ्ग रहे हैं, काव्य की सीमा से बाहर हो जांयगे।

---

१. 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्' ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत

२. काव्यप्रकाश, पृ० १०

३. 'संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन' नामक शोधप्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद का तृतीय विमर्श—ले० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

४. हि० व्य० वि०, पृ० ८०, ८१

काव्य का परम प्रयोजन—कृत्याकृत्यविवेक

संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध माने गए हैं जो अनुबन्ध-चतुष्टय कहलाते हैं। ये हैं—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। ग्रन्थ के आरम्भ में इन सब का लेखक द्वारा निर्देश संस्कृत साहित्य की प्रचलित परम्परा रही है। काव्य-शास्त्र भी इस परम्परा का अपवाद नहीं है, इसलिए कि भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया है।

काव्यशास्त्रियों द्वारा दत्त काव्य के विविध प्रयोजनों के पर्यालोचन से पूर्व स्वभावतः एक प्रश्न यह उठता है कि इनके द्वारा गिनाए गए सारे ही प्रयोजन वस्तुतः काव्य के हैं, काव्यशास्त्र के नहीं, तो फिर उन्हें काव्यशास्त्र का प्रयोजन कैसे माना जाय। इस शङ्का का सुन्दर समाधान विश्वनाथ कविराज ने उपस्थित किया है। उनका कहना है कि चूँकि काव्यसमीक्षाशास्त्र भी काव्य का अङ्ग है, अतः इसके भी वे ही प्रयोजन होते हैं, जो काव्य के प्रयोजन हैं।[१]

काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट ये काव्य प्रयोजन विविध हैं। भरतमुनि के अनुसार काव्य के प्रयोजन—विनोद,[२] धर्म, काम, दुष्टों का निग्रह, विनीतों का दमन कायरों में धृष्टता, अपने को शूर मानने वालों में उत्साहोत्पादन, अज्ञानियों में ज्ञान तथा विद्वानों में और अधिक वैदुष्य, दुखितों में धैर्योत्पादन, अर्थोपजीवी के लिए अर्थ, दुःखार्त, श्रमार्त एवं शोकार्त जनों के लिए विश्रान्ति, हित एवं बुद्धि का वर्धन तथा लोक को उपदेश आदि अनेक हैं।[३] भामह ने भी किञ्चित् परिवर्धन के साथ भिन्न शब्दों में इन्हीं प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है[४]। भामह द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों में केवल मोक्ष एवं कीर्ति भामह का योगदान है। वामन के अनुसार काव्य के प्रयोजन केवल दो हैं—प्रीति एवं कीर्ति।[५] परवर्ती आचार्य रुद्रट[६] एवं कुन्तक[७] ने भी भामह के द्वारा प्रतिपादित चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही काव्य का प्रयोजन बताया। अभिनवगुप्त भामह द्वारा प्रति-पादित समस्त प्रयोजनों को अपनी मान्यता प्रदान करते हुए भी प्रीति अथवा आनन्द को

---

१. 'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वम्'—सा०दा०, पृ० २

२. 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्'—ना० शा०, १।११

३. नाट्यशास्त्र १।१०९-११५

४. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्
—काव्यालङ्कार १।२

५. 'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्' – का० सू० वृ० १।१।५

६. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्र्यस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥—काव्या० १२।१

७. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ व० जी० १।३

ो सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।[1] किन्तु महिमभट्ट की दृष्टि में काव्य का
योजन न तो चतुर्वर्ग की प्राप्ति है और न ही प्रीति अथवा कीर्ति। उनकी दृष्टि में
ाव्य का परम प्रयोजन है कृत्याकृत्यविवेक। उनकी यह धारणा है कि शास्त्र की भाँति
ो काव्य एवं नाट्य का भी प्रयोजन है—विधिनिषेधविषयक व्युत्पत्ति। सुकुमार मति-
ाले तथा नित्य सुख का अभिलाष रखने वाले राजकुमार नीरसता के कारण शास्त्रों से
विमुख रहते हैं। दूसरी ओर बहुत से ऐसे मन्दबुद्धिजन हैं, जिन्हें शास्त्रों के द्वारा व्युत्पन्न
किया ही नहीं जा सकता तथा जो स्त्री, नृत्य तथा आतोद्य आदि में आसक्त होते हैं।
इन दोनों ही प्रकार के लोगों को काव्य एवं नाट्य की सरसता से आकृष्ट करके
काव्यनाट्य के माध्यम से कृत्याकृत्य का विवेक सरलता से कराया जा सकता है, ठीक
उसी प्रकार जैसे कि गुड़ की मिठास के साथ रोगी कड़वी भी दवा को ग्रहण कर लेता
है।[2] इस प्रकार महिमभट्ट की दृष्टि में काव्य एवं नाट्य का एक ही प्रयोजन है और
वह है—कृत्याकृत्यविवेक।

पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यप्रयोजन से सम्बद्ध उपर्युक्त विवेचन के अनुशीलन से
यह सुस्पष्ट है कि यद्यपि भरत अन्य प्रयोजनों की भाँति ही कृत्याकृत्यविवेकरूप प्रयोजन
का भी उल्लेख 'उपदेश' नाम से कर चुके थे, पर परवर्ती आचार्यों में से किसी ने भी
इस प्रयोजन को नहीं अपनाया। हो सकता है कि भामहादि इसका अन्तर्भाव 'धर्म' के
अन्तर्गत मानते रहे हों अतः इसका अलग से उल्लेख न किया हो पर अवधेय तो यह
है कि भरत ने स्वयं 'उपदेश' को 'धर्म' से पृथक् माना है। ऐसी दशा में यही मानना
युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों ने इस प्रयोजन की उपेक्षा की और
भामह द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों में से एक, दो अथवा सभी को अपनी मान्यता दी।
किन्तु महिमभट्ट ने काव्य एवं नाट्य के प्रयोजन के रूप में केवल इस एक प्रयोजन का
न केवल उल्लेख किया अपितु उसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया। अतः जिस प्रकार
परवर्ती आचार्यों ने चतुर्वर्गरूप प्रयोजन की उद्भावना का श्रेय भामह को दिया है,
उसी प्रकार कृत्याकृत्यविवेकरूप प्रयोजन की उद्भावना का श्रेय महिमभट्ट को दिया
जा सकता है, इसलिए कि उपदेश की भाँति ही धर्म, अर्थ एवं काम को काव्यप्रयोजन
बताने वाले प्रथम आचार्य भरत ही हैं।

---

१. 'तत्र कवेस्तावत्कीर्तिरपि प्रीतिरेव सम्पाद्या।... श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः यथोक्तम्--धर्मार्थकाममोक्षेषु ...निषेवणम् तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्।'
—लोचन, पृ० ६६।

२. 'सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्।......
एवञ्च ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः ये चात्यन्ततोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्यातोद्यादिप्रसक्ताः उभयेऽपि तेऽभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादसुखं मुखे दत्त्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः।—हि० व्य० वि०, पृ० १०१-१०२।

महिमभट्ट की इस मान्यता को परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है।[1] आचार्य मम्मट ने भी उपदेश को काव्य के प्रयोजनों के अन्तर्गत स्वीकार किया है और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कारिकांश के द्वारा इसका उल्लेख किया है पर अपनी इस मान्यता के लिए वे अभिनवगुप्तपादाचार्य के ऋणी हैं[2] अतः उनके ऊपर महिमभट्ट का प्रभाव दिखाना[3] भ्रामक है।

यहाँ पर विचारणीय यह है कि महिमा द्वारा निर्दिष्ट कृत्याकृत्यविवेक रूप प्रयोजन काव्य का प्रधान प्रयोजन हो सकता है या नहीं ? मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में इसकी गणना की अवश्य है और यह भी सत्य है कि 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' पद उनकी कारिका में सभी प्रयोजनों के अन्त में प्रयुक्त हुआ है किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि मम्मट ने आनन्दरूप प्रयोजन की अपेक्षा इसे प्रधान बताने के उद्देश्य से ऐसा किया है। क्योंकि मम्मट ने स्पष्ट ही 'सद्यः परनिर्वृति' को 'सकलप्रयोजन-मौलिभूत' कहा है। अतः प्रधानता तो वे 'आनन्द' को ही देते हैं। अतः यह कहना कि 'मम्मट ने भी कृत्याकृत्यविवेकस्वरूप उपदेश को कान्तासम्मित उपदेश कहा और 'सद्यः परनिर्वृतये' के अनन्तर 'उपदेशयुजे' को रखकर उसकी प्रधानता का भी निर्देश कर दिया है[4] सर्वथा भ्रामक है। मम्मट के द्वारा आनन्द के प्राधान्य का जो स्पष्ट निर्देश किया गया हैं, उसके आधार पर यह निष्कर्ष सर्वथा युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि उन्होंने 'उपदेशयुजे' पद को छन्द की योजना की दृष्टि से कारिका के अन्त में रखा है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, अभिनव ने भी काव्य के समस्त प्रयोजनों के अन्तर्गत आनन्द को मूर्धन्य स्थान प्रदान किया है। मम्मट तथा हेमचन्द्र ने भी आनन्द को ही काव्यप्रयोजनों के अन्तर्गत सर्वोच्च घोषित किया है।[5] यह ठीक है कि उपदेश काव्य के प्रयोजनों के अन्तर्गत अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तो भी उसे आनन्दरूप प्रयोजन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बताना असत्य कथन होगा[6] इसलिए कि जिस प्रधान उद्देश्य को लेकर हम काव्य एवं नाट्य का अनुशीलन करते हैं, प्रधानता भी उसी की मानी जानी चाहिए। सभी जानते हैं कि काव्य-पठन एवं नाट्य-दर्शन में आनन्दलाभ की लालसा से ही हम प्रवृत्त होते हैं। यह बात और है कि आनन्द-लाभ के साथ-साथ आ जाने में ही हमें उपदेश की भी प्राप्ति हो जाती है। अतः समस्त

---

१. साहित्य दर्पण १/२ की वृत्ति।

२. अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो···कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष···। ध्व० १ पृ० ६६।

३. सं० सा० शा० को महिमभट्ट की देन—व्र० मो० चतुर्वेदी द्वितीय परिच्छेद प्रथम विमर्श।

४. संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन (शोधप्रबन्ध), ले०—ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वितीय परिच्छेद, प्रथम विमर्श।

५, (क) काव्य प्रकाश, १।२ की वृत्ति।
(ख) काव्यानुशासन १।३ की वृत्ति।

६. 'संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन' (शोधप्रबन्ध), ले०—ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वितीय परिच्छेद, प्रथम विमर्श।

प्रयोजनों के बीच प्राधान्य तो आनन्द को ही मिलना चाहिए। इस पर यह कहना कि 'जो काव्य अधिक से अधिक लोगों को आनन्द प्रदान करेंगे वही उत्तम काव्य होंगे और इस प्रकार जनरुचि के अनुसार सिनेमा के वे गीत जो अश्लीलता भरे रहते हैं तथा प्रत्येक जनसामान्य की जिह्वा पर नाचते रहते हैं, उत्तम काव्य के ज्वलन्त उदाहरण कहे जायेंगे[1]।' अविचारिताभिधान ही है इसलिए कि काव्यानन्द के लिए सहृदयता आवश्यक है। अभिनव के अनुसार सहृदय वे ही हैं, जिनका मनरूपी दर्पण काव्यानुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है तथा जिनमें वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की योग्यता आ गयी हो[2]। उक्त गुणसम्पन्न सहृदयों को जिससे आनन्दानुभूति हो, वही काव्य है। आनन्द के ऊपर सहृदयत्व का यह अङ्कुश न रखने पर तो किसी को यदि हत्या से आनन्द मिलता है तो क्या उस हत्या को भी काव्य मान लिया जायगा? क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हिलोकः' सिद्धान्त के अनुसार आनन्द के साधन की तो कोई सीमा नहीं। अतः यह कहना कि 'आनन्द को काव्य का परम या मुख्य प्रयोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता'[3] ठीक नहीं। आनन्द तो स्वयं जीवन का, दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। फिर उसे काव्य का भी प्रधान उद्देश्य भला क्यों नहीं स्वीकार किया जा सकता?

महिमभट्ट के काव्यहेतुविषयक विचार

काव्यलक्षण एवं काव्यप्रयोजन की भाँति ही काव्यहेतुविषयक विचार भी प्रायः समस्त काव्यशास्त्रियों के विवेचन का विषय रहा है। ये काव्यहेतु भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में भिन्न-भिन्न हैं। भामह के अनुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों ही काव्य के हेतु हैं, किन्तु उनकी 'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः' पङ्क्ति से सुस्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में प्रतिभा तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[4] अनन्तर दण्डी ने भी निसर्गजात प्रतिभा, निर्भ्रान्त लोक-शास्त्र-ज्ञान और अमन्द अभियोग को काव्य हेतु बताया[5] जो कि स्पष्ट ही भामह द्वारा निर्दिष्ट प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास

१. वही,—द्वितीय परिच्छेद, प्रथम विमर्श ले०—व्रजमोहन चतुर्वेदी।

२. 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'—लोचन, पृ० ६२

३. संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन (शोध प्रबन्ध), द्वितीय परिच्छेद, प्रथम विमर्श, ले०—व्रजमोहन चतुर्वेदी।

४. 'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥ १।५
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी ॥ १।९
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥' १।१० काव्यालङ्कार

५. 'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥१।१०३॥ (काव्यादर्श)

नामक तत्त्वों से अभिन्न हैं। इस प्रकार इन तीनों के समुदाय को काव्यहेतु कहने के ठीक उपरान्त ही वे यह कहते हैं कि प्रतिभा न रहने पर भी 'श्रुत' तथा 'यत्न' से काव्य निर्माण में अवश्य सफलता मिलती है।[1] जिससे यह स्पष्ट है कि 'प्रतिभा' तत्त्व को वह उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि भामह ने दिया है। वामन ने काव्य हेतुओं का उल्लेख 'काव्याङ्ग' नाम से किया है और लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण नाम से, इसके तीन भेद प्रतिपादित किए हैं।[2] विद्या पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति में अन्तर्भूत हो जाती है। लोक से तात्पर्य है, लोकव्यवहार से तथा प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्य-ज्ञान, अभियोग, वृद्ध-सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान आते हैं। इस प्रकार वामन की दृष्टि में प्रतिभा तत्त्व प्रकीर्ण का एक अङ्ग बनता हुआ सर्वथा गौण हो जाता है। रुद्रट भी शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को ही काव्यहेतु प्रतिपादित करते हैं।[3] शक्ति के सहजा तथा उत्पाद्या ये दो भेद रुद्रट मानते हैं।[4] रुद्रट के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने प्रतिभा को उत्पाद्या नहीं कहा है। आनन्दवर्धन पुनः प्रतिभा तत्त्व को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।[5] राजशेखर के काव्यहेतुविषयक विचार इन समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न हैं। इनका मत है कि केवल शक्ति ही काव्य का हेतु है।[6] वह शक्ति प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति इन दोनों से ही भिन्न है। वे प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों को ही शक्ति से उत्पन्न मानते हैं।[7] वाग्भट भी प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और व्युत्पत्ति को उसका विभूषण मात्र।[8] मम्मट, भामह द्वारा निर्दिष्ट तीनों ही तत्त्वों के समुदाय को काव्य हेतु मानते हैं, अलग-अलग किसी एक को नहीं।[9] पण्डितराज जगन्नाथ भी वाग्भट की भाँति प्रतिभा को ही काव्यहेतु मानते हैं और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को प्रतिभा का पोषक मानते हैं।[10]

---

१. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥'१।१०४ (वही)

२. 'लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि'—१।३।१ का० सू० वृ०

३. 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः'—१।१४ काव्यालङ्कार

४. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।' काव्यालङ्कार १।१६

५. 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥ ध्वन्यालोक ७३८ पृ०

६. 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः – हिन्दी काव्यमीमांसा, पृ० २९

७. 'विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी' वही, पृ० ३०

८. 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।१।३॥ वाग्भटालङ्कार

९. 'त्रयः समुदिता न तु व्यस्ताः···हेतुः न तु हेतवः' —काव्यप्रकाश, पृ० ८

१०. 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा······तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव।'—रसगङ्गाधर, पृ० ५२

इन विविध आचार्यों के काव्यहेतुविषयक विचारों के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि प्रतिभा (शक्ति) और निपुणता (व्युत्पत्ति) नामक तत्त्वों के सापेक्ष महत्त्व पर इनमें प्रर्याप्त वैमत्य रहा है । आनन्दवर्धन, भामह, हेमचन्द्र, वाग्भट, जगन्नाथ आदि प्रतिभा को सर्वोपरि रखते हैं तो रुद्रट मम्मट आदि आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समुदाय को काव्यहेतु मानते हैं । दूसरी ओर दण्डी जैसे आचार्य व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की तुलना में प्रतिभा के महत्त्व को सर्वथा कम करते दिखायी देते हैं । महिमभट्ट ने काव्यहेतुओं का विवेचन तो नहीं किया है किन्तु लक्षणा और लक्ष्यार्थ के खण्डन के प्रसङ्ग में लक्ष्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करते हुए इस विवादग्रस्त प्रश्न के विषय में अपना मत प्रसङ्गतः दे देते हैं । उनका कहना है कि व्युत्पत्ति और शक्ति द्वारा हुआ स्खलद्गति शब्द का प्रयोग भी अनुमान का विषय माना जाना चाहिए ।[1] उनके इस कथन से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्युत्पत्ति तथा शक्ति को समान महत्त्व देते हैं । उनकी दृष्टि में अभ्यास नगण्य प्रतीत होता है । इस प्रकार महिमभट्ट की मौलिकता उनकी इस मान्यता में है कि न तो वे आनन्दवर्धन आदि की सरणि पर प्रतिभातत्त्व को ही काव्य का एकमात्र हेतु मानते हैं और न ही भामह द्वारा प्रतिपादित सरणि पर तीन तत्त्वों के समुदाय को ही काव्यहेतु मानते हैं । इसके विपरीत वे व्युत्पत्ति और शक्ति के समुदायको काव्यहेतु मानते हैं और दोनों को ही काव्यनिर्माण के लिए समानरूप से आवश्यक मानते हैं । दोनों तत्त्वों के समान महत्त्व का प्रमाण है उपरि-निर्दिष्ट उद्धरण में 'व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां' पद में इतरेतर द्वन्द्व समास का प्रयोग । परवर्ती आचार्य मम्मट ने तो भामह की सरणि पर तीनों तत्त्वों के समुदाय को हेतु माना है । अतः उनके ऊपर महिमभट्ट का प्रभाव दिखाना[2] उचित नहीं ।

अन्यत्र काव्यहेतु से सम्बद्ध उक्त संक्षिप्त सङ्केत के अतिरिक्त महिमभट्ट इसके विषय में और कुछ नहीं कहते । सम्भव है कि काव्यहेतुविषयक अपने विचारों का उल्लेख उन्होंने अपने 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक दूसरे ग्रन्थ में किया हो, क्योंकि द्वितीय विमर्श में अवाच्यवचन नामक शब्दानौचित्य के विवेचन के प्रसङ्ग में वे प्रतिभा-तत्त्व का स्वरूप बताते हुए यह कहते हैं कि 'प्रतिभा तत्त्व का विशद विवेचन मैंने 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक ग्रन्थ में किया है । अतः यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है ।[3] इस स्थल पर महिमभट्ट ने जिस प्रतिभातत्त्व के स्वरूप का निर्वचन किया है, वह सम्भवतः पूर्वनिर्दिष्ट शक्ति तत्त्व से अभिन्न है, क्योंकि रुद्रट ने यह स्पष्ट कहा है कि शक्ति को ही अन्य आचार्यों ने प्रतिभा माना है ।[4] इस प्रकार प्रतिभा और शक्ति को अभिन्न मानने की परम्परा महिमभट्ट की अपेक्षा पूर्ववर्तिनी है ।

---

१. 'तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ।।१।९६ हि० व्य० वि०

२. संस्कृत साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन—द्वितीय परिच्छेद का द्वितीय विमर्श
ले० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

३. हिन्दी व्यक्तिविवेक २।११७-११९

४. काव्यालङ्कार १।१५-१६

स्वभावोक्तिविषयक मौलिकता

जैसा कि पंचम अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, महिमभट्ट ने शब्दानौचित्यों के प्रसङ्ग में अवाच्यवचन नामक शब्दानौचित्य का विवेचन किया था। उनके अनुसार वे विशेषण जो वस्तु के स्वरूपमात्र का ज्ञान कराते हों तथा वे शब्द जो सौन्दर्य की वृद्धि नहीं करते तथा प्रतिभाशून्यता से उत्पन्न वह अर्थ जो वस्तु की साक्षात् प्रतीति नहीं कराता है, अथवा उसे रोचक नहीं बनाता है—उन सबका प्रयोग अवाच्यवचन के अन्तर्गत आता है। ऐसे प्रयोग महिमा के अनुसार 'अवकर' हैं। अतः कवि को ऐसे प्रयोगों से बचने के लिए सावधान रहना चाहिए।[1] इस पर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि स्वाभावोक्ति में भी स्वरूप के अनुवाद का प्रसङ्ग आता है अतः वह भी 'अवकर-प्राय' अतश्च अवाच्य हुआ। इस पूर्वपक्ष को उठाते हुए महिमभट्ट स्वभावोक्ति के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए उसे अवाच्यवचन दोष की सीमा से परे बताते हैं। साथ ही उनके स्वभावोक्तिविषयक इस मन्तव्य से कुन्तक की स्वाभावोक्तिविषयक उस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है, जिसकी स्थापना उन्होंने पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों के मत का खण्डन करते हुए की थी।

यद्यपि संस्कृत के आद्याचार्य भरतमुनि हैं पर उनके नाट्यशास्त्र में न तो अलङ्कारों के अन्तर्गत और न ही लक्षणों के अन्तर्गत स्वभावोक्ति का वर्णन मिलता है। वस्तुतः स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम यथावत् विवेचन भामह के काव्यालङ्कार में ही उपलब्ध होता है। पर भामह से पूर्व भी स्वभावोक्ति का विवेचन उपलब्ध न होने पर भी बाणभट्ट के ग्रन्थों में इसका नामान्तर से उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट ने 'जाति' नामक एक काव्यतत्त्व का उल्लेख हर्षचरित में किया है[2] जो कि दण्डी के अनुसार 'स्वभावोक्ति' से अभिन्न है।[3] डा० राघवन् के अनुसार जाति के दो अर्थ सम्भव हैं। चूँकि शब्द की निष्पत्ति जन् धातु से होती है अतः जाति का एक अर्थ हो सकता है किसी पदार्थ के सहजात रूप का वर्णन। 'जाति' का 'वर्ग' अर्थ लेते हुए 'जाति' का दूसरा अर्थ हो

---

१. यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम्॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद् वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते॥ ११२॥ हि०व्य०वि०, पृ०४५१

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥१।८। हर्षचरित

३. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥ काव्यादर्श २।८

सकता है—किसी पदार्थ की जातिगत विशेषताओं का वर्णन ।[1] बाणभट्ट के अनुसार जाति का अग्राम्य होना आवश्यक है ।

अनन्तर भामह अपने 'काव्यालङ्कार' में सलक्षण इसका अलङ्कार के रूप में विवेचन करते हैं । उनके अनुसार वस्तु का अपनी अवस्था में रहना स्वभाव है और उस स्वभाव की उक्ति 'स्वभावोक्ति' नामक अलङ्कार है,[2] जैसे कि अधोलिखित उदाहरण—

आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलैरुदन् ।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः ॥२।९४ काव्या०

किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि 'गतोऽस्तमर्कः', 'भातीन्दुः' तथा 'यान्ति वासाय पक्षिणः' जैसे सामान्य कथन भी काव्य कहे जांय । इस प्रकार के कथन वैचित्र्य-हीन होने के कारण 'वार्ता' हैं और वार्ता काव्य नहीं ।[3] अन्यत्र वक्रोक्तिविवेचन के प्रसङ्ग में वे कहते हैं—कोऽलङ्कारोऽनया विना' जिससे स्पष्ट है कि वस्तु का कवि-कल्पनाप्रसूत, चमत्कारी, नैसर्गिक वर्णन ही भामह की दृष्टि में स्वभावोक्ति है, सभी नहीं ।

भामह के उपरान्त दण्डी ने स्वभावोक्ति का विस्तार में विवेचन किया तथा जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य के आधार पर इसके चार भेद प्रतिपादित किए ।[4] उनके अनुसार विभिन्न अवस्थाओं में स्थित विशिष्टस्वरूप को साक्षात् प्रदर्शित करती हुई उक्ति स्वभावोक्ति है ।[5] भामह तो वक्रोक्ति से रहित कोई अलङ्कार स्वीकार ही नहीं करते, किन्तु दण्डी स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् मानते हैं ।[6]

उद्भट के अनुसार केवल मृग-शावक आदि की ही लीलाओं का वर्णन स्वभावोक्ति है —

क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचित् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥३।५

यहाँ पर यद्यपि 'मृगशावक आदि की लीला' का प्रयोग प्राकृतिक व्यापार के अर्थ में किया गया है तथापि मानव-व्यापार उससे सर्वथा बहिष्कृत हो जाता है अतः

---

१. 'History of स्वभावोक्ति in Sanskrit Poetics 'Some Concepts of अलङ्कार-शास्त्र' by V. Raghavan

२. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥२।९३॥ काव्यालङ्कार

३. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥२।८७॥ वही

४. 'जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्' ।२।१३ काव्यादर्श

५. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥२।८॥
तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥२।९। वही

६. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥२।३६३॥ वही

स्वभावोक्ति का क्षेत्र सङ्कुचित हो जाता है। रुद्रट ने पुनः स्वभावोक्ति के क्षेत्र का विस्तार किया उन्होंने अर्थालङ्कारों को चार वर्गं में विभाजित किया—वास्तव, औपम्य अतिशय तथा श्लेष।[१] वास्तव के अन्तर्गत सहोक्ति, समुच्चय, भाव, पर्याय आदि अनेक अलङ्कारों का विधान किया गया है पर जाति अलङ्कार मुख्य है। रुद्रट के इस वास्तव में न उपमा होती है, न किसी प्रकार का अतिशय होता है और न ही शब्दों के अनेक अर्थ ही होते हैं। इसके विपरीत इसमें वस्तु के स्वरूपमात्र का वर्णन होता है। इतने पर भी इसमें अर्थ अपुष्ट नहीं होता।[2] जाति का लक्षण करते हुए रुद्रट ने यह बताया कि किसी भी पदार्थ का संस्थान, अवस्था एवं क्रिया जिस प्रकार की है, उसका उसी रूप में कथन जाति अलङ्कार होता है।[३] यहाँ पर जाति एवं वास्तव के भेद को स्पष्ट करते हुये नमिसाधु ने यह बताया है कि वास्तव और जाति में वही अन्तर है जो वृक्ष और 'धव' में है। वस्तु के स्वरूप का कथन तो 'वास्तव' होता है और वह 'वास्तव' के सहोक्ति इत्यादि समस्त भेदों में पाया जाता है। किन्तु जाति अलङ्कार तो अनुभव उत्पन्न कर देता है। जहाँ पर वर्ण्यमान स्वरूप अनुभूति का विषय बनता हुआ सा प्रतीत होता है वहाँ जाति अलङ्कार होता है।[४] इस प्रकार रुद्रट के अनुसार स्वभावोक्ति का स्वरूप सुस्पष्ट है। पाठक या श्रोता को वस्तु के स्वरूप की साक्षात्कारात्मक प्रतीति कराने वाला स्वरूप-कथन ही स्वभावोक्ति हुई।

रुद्रट के अनन्तर राजा भोज भी इस अलङ्कार का उल्लेख जाति नाम से ही करते हैं। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वस्तु के जो रूप अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन जाति है। इस जाति का अर्थव्यक्ति नामक गुण से भेद दिखाते हुए वे कहते हैं कि जाति में केवल जायमान अर्थात् उत्पन्न होने वाले अथवा आगन्तुक रूपों का वर्णन होता है, जबकि अर्थव्यक्ति में सार्वकालिक रूपों का वर्णन रहता है[५]। उनके इस क्षेत्र-विभाजन से जाति का क्षेत्र काफी सङ्कुचित हो जाता हैं।

---

१. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यातिशयः श्लेषः
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषा ॥७।९॥ काव्यालङ्कार

२. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ॥७।१०॥ वही

३. संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥७।३०। वही

४. 'अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः, यो वृक्षस्य धवस्यच। वास्तवं हि वस्तुस्वरूप-कथनम्, तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम्। जातिस्त्वनुभवं जनयति। यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम्' ।७।३० की वृत्ति— वही

५. 'नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानि जातिं प्रचक्षते ॥
अर्थव्यक्तेरियं भेदमियत्ता परिपद्यते।
जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥' ३।४, ५
— सरस्वतीकण्ठाभरण

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि भामह से लेकर राजा भोज तक प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने स्वभोवाक्ति को अलङ्कार माना किन्तु कुन्तक काव्यशास्त्र के प्रथम और अन्तिम आचार्य हैं जो पूर्वाचार्यों की इस प्रचलित मान्यता का खण्डन करते हुए स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का निषेध करते हैं। कुन्तक का कहना है कि जिन (दण्डी, उद्भट आदि) आलङ्कारिकों के लिए स्वभावोक्ति अलङ्कार है, उनकी दृष्टि में अलङ्कार्य क्या रह जाता है[1] क्योंकि स्वभाव के बिना तो कोई वस्तु कही ही नहीं जा सकती। इसलिए कि स्वभाव से रहित वस्तु अभिधान के योग्य ही नहीं रह जाती[2]। स्वभाव शब्द की व्युत्पति इस प्रकार है—जिससे अर्थ का अभिधान और प्रत्यय (ज्ञान) होता है वह भाव हुआ। स्व का अर्थात् अपना भाव स्वभाव हुआ। तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा अपने (स्वरूप) का कथन और ज्ञान होता है वह स्वभाव होता है। अतः वह स्वभाव अथवा स्वरूप ही सब पदार्थों के कथन और ज्ञानरूप व्यवहार का कारण होता है। अतः स्वभाव से विहीन वस्तु खरगोश के सींगों की भाँति शब्द एवं ज्ञान का विषय बन नहीं सकती। स्वभाव से युक्त वस्तु के विषय में ही कुछ कह सकना सम्भव है और ऐसी दशा में यदि स्वभावोक्ति को अलङ्कार माना जाता है तो गाड़ी हाँकने वाले के वाक्य भी अलङ्कृत कह जायँगे क्योंकि स्वभाव का कथन तो उनमें भी रहता ही है[3]। अतः स्वभावोक्ति वस्तुतः अलङ्कार न होकर अलङ्कार्य है और अलङ्कार्य स्वयं अपना अलङ्करण कैसे बन सकता है? किसी व्यक्ति का अपने ही कन्धे पर चढ़ना भला कैसे सम्भव है[4]? इतने पर भी यदि तुष्यद्दुर्जनन्यायेन स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लिया जाय तो एक दूसरी असङ्गति यह उत्पन्न होती है कि उस दशा में स्वभावोक्ति की सत्ता तो सर्वत्र होगी। अतः अन्य अलङ्कारों की रचना होने पर उन अलङ्कारों का स्वभावोक्ति के साथ भेद-ज्ञान या तो स्पष्ट रहेगा या अस्पष्ट रहेगा। उनके भेद-ज्ञान के स्पष्ट रहने पर सर्वत्र संसृष्टि अलङ्कार होगा और दोनों का भेद अस्पष्ट रहने पर सङ्कर अलङ्कार होगा। इस प्रकार सर्वत्र संसृष्टि एवं सङ्कर इन दो ही अलङ्कारों की स्थिति रह जायगी अतः शुद्ध अलङ्कारों के तो क्षेत्र का ही उच्छेद हो जायगा[5]।

---

१. 'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥१।११' वक्रोक्तिजीवित

२. 'स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१।१२॥ -वही

३. 'यस्मात् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः—भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः। तेन वर्जितमसत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते। स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिकवाक्यानामपि सालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन' वही, १।१२ की वृत्ति।

४. 'शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ वही, १।१३

५. भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा।
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥, वही, १।१४, १५

स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व के कुन्तककृत इस प्रत्याख्यान का महिमभट्ट ने उचित उत्तर दिया। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने कुन्तक के मन्तव्य के विरुद्ध स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का ही समर्थन किया। कुन्तक ने स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का विरोध करते हुए यह कहा था कि 'स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने वाले आचार्यों की दृष्टि में अलङ्कार्य क्या रह जाता है? उनकी इस आपत्ति के उत्तर में महिमभट्ट का कहना है कि वस्तु के दो रूप होते हैं—सामान्य और विशेष। उनमें से सामान्य रूप विकल्पों का विषय होता है। अतः वह सामान्य रूप ही सभी शब्दों का विषय बताया गया है। अतः वे (सभी प्रकार के शब्द) सामान्य अर्थ का बोध कराने में समर्थ[1] हैं, किन्तु वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, वह प्रत्यक्ष का विषय होता है। प्रत्यक्ष के विषयभूत अतः सूक्ष्मताओं से अन्वित उस अर्थ की शब्द द्वारा प्रतीति कराना सब के सामर्थ्य की बात नहीं है, वह विशिष्ट अर्थ श्रेष्ठ कवियों की प्रतिभाजन्य वाणी का ही विषय है[2]। उस अर्थ के स्वभाव का जो कथन है वह अलङ्कार है, इसलिए कि कविप्रतिभा से उट्टङ्कित वह अर्थ पाठक को साक्षात् सा प्रतीत होता है[3]। इस प्रकार अर्थ का विशिष्ट स्वभाव तो स्वभावोक्ति का विषय हुआ तथा सामान्य स्वभाव अन्य अलङ्कारों का विषय हुआ[4]।

महिमकृत स्वभावोक्ति के उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में वस्तु का सामान्य रूप उपमादिक अलङ्कारों का विषय है; जबकि कविप्रतिभागोचर वस्तु का विशिष्ट रूप स्वभावोक्ति का विषय है। इस प्रकार स्वभावोक्ति अलङ्कार के प्रसङ्ग में वस्तु के विशिष्टरूप का स्वभाव तो हुआ अलङ्कार्य और कवि की प्रतिभाजन्य वाणी द्वारा उस स्वभाव की उक्ति स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार हुई और स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने का एकमात्र कारण महिमा की दृष्टि में यह है कि कवि प्रतिभार्पित होने के कारण उस स्वभावोक्ति में अर्थ की साक्षात् सी प्रतीति कराने की क्षमता होती है। अतः वस्तु के विशिष्ट रूप को ही अलङ्कार बताना भ्रामक है।[5] किन्तु इस भ्रान्त

---

१. '......वस्तुनस्तावद्द्वैरूप्यमिह विद्यते। तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः।
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः। अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम्॥
हि० व्य० वि० २।११४, ११५।

२. विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्। वही, २।११६

३. अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः॥ वही, २।१२०

४. 'सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः'—वही, २।१२१

५. 'इसका निष्कर्ष यह है कि महिमभट्ट वस्तुस्वभाव को दो प्रकार का मानते हैं—सामान्यरूप, जो पामर साधारण जन के द्वारा दृष्टिगोचर होता है और विशिष्टरूप जो कवि-प्रतिभा के बल पर उन्मीलित होता है। इनमें पहला होता है—अलङ्कार्य··· और दूसरा होता है अलङ्कार—काव्यशरीर का मण्डनरूप स्वभावोक्ति भारतीय सा० शा० बलदेव उपाध्याय, पृ० ३५२

धारणा के स्रोत आचार्य हेमचन्द्र प्रतीत होते हैं, जिन्होंने जाति अलङ्कार के निरूपण के प्रसङ्ग में कुन्तक के मत का निराकरण करते हुए ये पङ्क्तियाँ लिखी हैं—

'वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलङ्कार्य.। कविप्रतिभासंरम्भविशेषविषयस्तु लोकोत्तरोऽर्थालङ्करणमिति।' और इस प्रकार अलङ्कार्य और अलङ्करण के भेदनिर्देश के अनन्तर अपने मत के समर्थन में वे व्यक्तिविवेककार की पङ्क्तियों को उद्धृत करते हैं। किन्तु व्यक्तिविवेककार की 'सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः' पङ्क्ति से यह सुस्पष्ट है कि वस्तु का विशिष्ट स्वभाव अलङ्कार नहीं, अलङ्कार्य है—अलङ्कार है उस स्वभाव की उक्ति। हेमचन्द्र स्वयं भी कारिकामें स्वभाव के वर्णन को ही जाति कहते हैं।[1]

अवधेय है कि कुन्तक वस्तु के सामान्य रूप को काव्य का विषय मानते ही नहीं, जबकि महिमभट्ट उसे स्वभावोक्ति से भिन्न उपमादिक अलङ्कारों का विषय मानते हैं। कुन्तक का यह कहना है कि वस्तु का एकमात्र विशिष्ट स्वभाव ही काव्य का विषय है अतश्च वही अलङ्कार्य है। उक्त विवेचन के अनुसार महिमभट्ट भी वस्तु के विशिष्ट स्वभाव की अलङ्कार्यता स्वीकार करते ही हैं। उनके अनुसार उस स्वभाव की कवि प्रतिभानजन्य उक्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार है न कि स्वभाव स्वयं। इसलिए कुन्तक का यह आक्षेप कि जो लोग स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते हैं, उनकी दृष्टि में अलङ्कार्य क्या रह जाता है' वस्तुतः भ्रान्तिजन्य है। उन्होंने स्वभाव को स्वभावोक्ति से अभिन्न मान लिया और इसीलिए स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का खण्डन भी किया। कुन्तक के इस आक्षेप के भ्रान्तिजन्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि मम्मट,[2] रुय्यक[3], हेमचन्द्र[4], विद्यानाथ[5] तथा विश्वनाथ[6] आदि प्रायः समस्त परवर्ती आचार्यों ने एकमत होकर महिमभट्ट की स्वभावोक्तिविषयक मान्यता का स्वागत किया। अवधेय है कि ये समस्त आचार्य सिद्धान्त की दृष्टि से महिमभट्ट के कट्टर विरोधी हैं और जैसा कि प्रकृत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दिखाया जा चुका है इन सभी आचार्यों ने महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन किया है। अतः महिमभट्ट के इस योगदान का मूल्य और भी बढ़ जाता है।

महिमभट्ट की दोषविषयक मौलिकता

संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत दोषविवेचन के अनुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि जितना सूक्ष्म, सुष्ठु एवं प्राञ्जल महिमभट्ट का दोष-विवेचन है उतना पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी आचार्य का नहीं है। उनके दोष संख्या में सीमित

---

१. 'स्वभावाख्यानं जातिः' ६।१५ काव्यानुशासन

२. काव्यप्रकाश १०।१११

३. अलङ्कारसर्वस्व जयरथकृत टीका से युक्त, पृ० २२२

४. काव्यानुशासन ६।१५

५. प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४१२

६. साहित्यदर्पण १०।९२

हैं किन्तु उन सीमित दोषों के विवेचन में जो प्रौढ़ि पारिलक्षित होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्राङ्महिम-आचार्यों तथा उत्तरमहिम-आचार्यों के दोषविवेचन में जो अन्तर परिलक्षित होता है, उसका सम्पूर्ण श्रेय महिमभट्ट को देना अनुचित न होगा। काव्यगत दोष विवेचन की धारा को जो मोड़ महिमभट्ट ने दिया उसकी छाप परवर्ती दोषविवेचन पर सुस्पष्ट है। अपने समस्त भेद-प्रभेदों के साथ विधेयाविमर्श तथा प्रक्रम-भेद दोष तो सर्वथा महिमभट्ट की ही देन है। क्रम-भेद, पौनरुक्त्य तथा अवाच्यवचन दोष किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन में विद्यमान अवश्य थे किन्तु महिमभट्ट के इन दोषों से सम्बद्ध विवेचन को देखने के पश्चात् यही स्वीकार करना पड़ता है कि इन दोषों का विवेचन नाममात्र के लिए हुआ था। इस प्रकार सर्वथा नए तथा पूर्वाचार्यों द्वारा नाममात्र को उल्लिखित दोनों ही प्रकार के दोषों से सम्बद्ध महिमकृत विवेचन ने परवर्ती काव्यशास्त्र को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उनकी दोषविषयक मौलिकता तथा परवर्ती आचार्यों पर उनके प्रभाव का विशद विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में किया गया है। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

वृत्तानौचित्यविषयक विचार

यों तो भरत मुनि ने विषम नामक दोष का उल्लेख किया था और उसके अन्तर्गत वृत्तभेद को दोष बताया था। भामह ने भिन्नवृत्त के साथ साथ यतिभ्रष्ट को भी दोष बताया किन्तु महिमभट्ट का वृत्तानौचित्यविषयक विचार इन आचार्यों के विचारों की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म है। जहाँ ये आचार्य पद्यविशेष में वृत्तविशेष का लक्षण पूर्णतया घटित न होने पर ही उस पद्य को सदोष मानते हैं, महिमभट्ट की मान्यता यह है कि वृत्त का लक्षण पूर्णतया घटित होने के बावजूद भी उस वृत्तविशेष की रसानुगुणता के अभाव में वह रचना सदोष कही जायगी तथा वृत्त का लक्षण पूर्णतया घटित न होने पर भी रसानुगुणता के सद्भाव में वह रचना निर्दोष मानी जायगी। मम्मटादिक परवर्ती आचार्यों ने उनके वृत्तानौचित्य विषयक मान्यताओं को स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र की तो 'सुवृत्ततिलक' नामक रचना वृत्तानौचित्य पर ही आधारित है। इस विषय का भी विस्तृत विवेचन प्रकृत प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में ही दोषों के प्रसङ्ग में किया गया है। अतः यह भी वहीं द्रष्टव्य है।

अलङ्कारों की अभिधात्मकता का प्रतिपादन

ध्वनिलक्षणकारिका के खण्डन के प्रसङ्ग में प्रथम विमर्श में ही महिमभट्ट ने यह प्रतिपादित किया था कि अलङ्कार अभिधा के धर्म हैं। ध्वनिलक्षणकारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा······' में न्यूनपददोष की उद्भावना करते हुए उन्होंने यह कहा था कि जिस प्रकार से ध्वनिलक्षणकारिका में अर्थ तथा उसके विशेषण का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार से अभिधा का भी उपादान होना चाहिए। अन्यथा जहाँ दीपक आदि से उपमा आदि अलङ्कारों की प्रतीति होती है वे ध्वनि के विषय नहीं रह

जायँगे, इसलिए कि लक्षण की व्याप्ति इन स्थलों में नहीं हो सकेगी[1]। महिमभट्ट के इस कथन का आशय यह है कि अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होने वाले स्थलों में लक्षण की व्याप्ति दिखाने के लिए उसमें अर्थ एवं अर्थ के विशेषण का उपादान किया गया है, किन्तु ऐसे भी स्थल आते हैं जहाँ पर दीपक आदि अलङ्कार से उपमा आदि अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है। ऐसे स्थलों पर लक्षण की व्याप्ति दिखाने के लिए अलङ्कारसामान्य के वाचक 'अभिधा' का भी ग्रहण लक्षण में होना चाहिए, अन्यथा ऐसे स्थल ध्वनि के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। अलङ्कारों की अभिधात्मकता की पुष्टि में उनका यह कहना है कि अलङ्कार अन्यों के द्वारा अभिधारूप ही स्वीकार किये गये हैं इसलिये कि वे 'भङ्गीभणिति' के प्रकार हैं।

वस्तुतः अलङ्कारों की अभिधात्मकता से सम्बद्ध महिमभट्ट की यह मान्यता क्षोदक्षम नहीं है। अलङ्कारों की अभिधात्मकता पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्त्ती किसी भी आचार्य को मान्य नहीं। भामह ने अलङ्कार को काव्यशोभा का आधायक तत्त्व बताया है।[2] काव्य क्या है? भामह के अनुसार शब्द और अर्थ ही काव्य है। इस प्रकार रूपक आदि शब्द और अर्थ के अलङ्कार हुए। स्पष्ट है कि भामह के अनुसार ये शब्द और अर्थ का अलङ्करण करते हैं, अभिधा का नहीं।

दण्डी के अनुसार काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं।[3] काव्य को वे भी शब्दार्थ रूप ही मानते हैं अतः उनके मत में भी अलंकार शब्द एवं अर्थ के ही धर्म हुए, अभिधा के नहीं। वामन के अनुसार भी अलङ्कार काव्यशोभा के अतिशय के हेतु हैं।[4] उनकी भी दृष्टि में गुण एवं अलङ्कार से संस्कृत शब्द एवं अर्थ ही काव्य है।[5] स्पष्ट है कि अलङ्कार शब्द एवं अर्थ के अतिशय के हेतु हुए। इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने तो अलङ्कारों के शब्द एवं अर्थ के धर्म होने का स्पष्ट निर्देश किया ही है, मम्मट आदि परवर्ती आलङ्कारिक भी अलङ्कारों को शब्द एवं अर्थ का ही धर्म मानते हैं यद्यपि उनकी दृष्टि में ये अलङ्कार अङ्गीभूत रस के उपस्कारक हैं पर रस का उपकार ये शब्द एवं अर्थ को अलङ्कृत करते हुए करते हैं।[6] अतः ये शब्द एवं अर्थ के ही धर्म हुए। विद्याधर ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि अलङ्कार शब्द और अर्थ के आश्रय से रहते हैं (शब्दार्थाश्रयास्त्वलङ्काराः)।

---

१. 'किञ्च यथाभिधेयोऽर्थस्तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येव। अन्यथा यत्र दीपकादेरलङ्कारादलङ्कारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्, तल्लक्षणेना व्याप्तेः'—हि० व्य० वि०, पृ० २२

२. 'रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः'—काव्यालङ्कार (भामह) १।१३

३. 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' २।१ काव्यादर्श

४. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ३।१।१,२ का० सू० वृ०

५. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते १।१।१ की वृत्ति का० सू० वृ०

६. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास

विश्वनाथ भी स्पष्ट कहते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ।। सा० द० १०।१

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारों को काव्य के आत्मभूत व्यङ्ग्य की रमणीयता का सम्पादक कहा है।[1] व्यङ्ग्य होते हैं अर्थ तथा रसादिक। इस प्रकार उनकी भी दृष्टि में अलङ्कार अभिधा के धर्म नहीं हैं।

अलङ्कार अभिधा के धर्म हो भी कैसे सकते हैं क्योंकि अभिधा तो एक शब्द-शक्ति है जिसका अर्थज्ञान के द्वारा अनुमान किया जाता है। वस्तुतः अभिधा वह शक्ति है जिसके सहारे हमें शब्द के साक्षात् सङ्केतित अर्थ का बोध होता है,[2] जबकि वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्व ही प्रकाशित होकर अलङ्कार कहलाता है। यह चारुत्व कभी भी शब्द के उच्चारण अथवा उससे अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्दन व्यापार में नहीं देखा जाता है। वह तो उच्चार्यमाण (शब्द) और प्रतिपाद्यमार (अर्थ) में ही देखा जाता है। इसलिए अलङ्कारों को शब्द एवं अर्थ का ही धर्म मानन उचित है, अभिधा का धर्म नहीं। भट्टोद्भट आदि का तो यह सिद्धान्त है कि शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य के कारण ही काव्य शास्त्र एवं इतिहास से विलक्षण है, अभिधा के वैशिष्ट्य के कारण नहीं।[3]

शब्दार्थचतुष्टयवाद का खण्डन तथा क्रिया की प्रवृत्तिनिमित्तता का प्रतिपादन

'गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' के द्वारा महाभाष्यकार ने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से शब्दों के चार प्रवृत्तिनिमित्त प्रतिपादित किए थे। समस्त शाब्दव्यवहार की साध्यसाधनभावगर्भता के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में महिमभट्ट उस शाब्दार्थचतुष्टयवाद का उल्लेख करते हुए केवल क्रिया की प्रवृत्तिनिमित्तता का प्रतिपादन करते हैं। इस मत का उपन्यास तो वे 'केचित्' शब्द से करते हैं किन्तु इस मत का प्रतिपादन और समर्थन वे जिस प्रकार से करते हैं, उससे तो यही सिद्ध होता है कि यह मत उनका अपना है।

---

१. 'काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते'—रसगङ्गाधर, पृ० १६४

२. 'साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' २।७ काव्यप्रकाश

३. 'यतोऽर्थप्रतिपत्त्युन्नेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारणव्यापारो वाभिधा । न च तत्-प्रकारत्वमलङ्काराणां युक्तिमत् । चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्यायप्रकाशमानमलङ्कारः । न च शब्दोच्चारणस्यार्थप्रकाशनस्य वा चारुत्वं प्रकाशते, उच्चार्यमाणस्य च प्रति-पाद्यमानस्य च चारुत्वप्रतीतेः । तेन चारुत्वस्य सद्भावाच्छब्दार्थधर्मा एवालङ्कारा न्याय्याः नाभिधाधर्माः । शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्ट्यादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनां सिद्धान्तः' —हि०व्य०वि०, (व्या०) पृ० २३

शब्द को पद और वाक्य भेद से द्विविध मानते हुए वे पद को नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय भेदों वाला मानते हैं। इनमें से नाम का लक्षण करते हुए उन्होंने इसे अनेक भेदों वाला माना है, इसलिए कि इसके प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य भेद से अनेक हैं। इस प्रकार संक्षेप में महाभाष्यकार के शब्दार्थ-चतुष्टयवाद का उल्लेख करने के अनन्तर वे अपने मत का उपस्थापन करते हैं। महिमभट्ट की धारणा है कि सभी प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त केवल क्रिया ही है। उनका कहना है कि 'घट' आदि शब्द अपने अर्थ में प्रवृत्त होते हैं तो वे प्रवृत्ति के निमित्तरूप में 'घटन' क्रिया को ही अपनाते हैं, घटत्व आदि 'सामान्य' को नहीं। 'घटन' इत्यादिक क्रिया 'घटत्व सामान्य' के साथ रहें या पृथक्, इससे उसके प्रवृत्तिनिमित्तत्व का व्याघात नहीं होता, इसलिए कि घटत्व सामान्य के उपस्थित रहने पर भी घटन क्रिया से रहित अतश्च घटात्मता को बिना प्राप्त किए हुए घट, घट शब्द से व्यवहारयोग्य नहीं होता और यदि ऐसा न मानें अर्थात् घटन क्रिया के अभाव में घटत्व जातिमात्र की सत्ता के कारण घट घटव्यपदेशभाजन मान लिया जाय तब तो पट को भी घट कहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा क्योंकि जिस प्रकार से घट में घटन क्रिया के कर्तृत्व का अभाव है, उसी प्रकार से पट में भी घटन क्रिया के कर्तृत्व का अभाव है ही। शुक्लत्व को बिना प्राप्त हुए कोई पदार्थ शुक्ल नहीं कहा जा सकता और न ही पचन क्रिया के अभाव में कोई पाचक कहा जा सकता है। इसी प्रकार घटन क्रिया के अभाव में वस्तुविशेष को घट भी नहीं कहा जा सकता। अतः घटनक्रियाकर्तृत्व रूप घटत्व ही 'घट' शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त समझा जाना चाहिए, केवल घटत्व सामान्य नहीं।

महिमभट्ट के उक्त कथन का आशय यह है कि जो लोग जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं वे उसे नित्य भी मानते हैं। ऐसी दशा में प्रलय की स्थिति में भी ये घटत्व, पटत्व आदि जातियाँ बनी रहती हैं, किन्तु इनके रहने के बावजूद भी पदार्थविशेष के लिए 'घट' या 'पट' शब्द का प्रयोग नहीं होता। 'घट' शब्द का प्रयोग तभी होता है, जब वह पदार्थ घटन क्रिया के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त सत्तासादनरूप क्रिया है, जाति नहीं। इसके अतिरिक्त अव्यक्तावस्था में घट और पट स्वरूप के अभाव में पारस्परिक भेद को खो बैठते हैं किन्तु अपनी नित्य जाति के कारण विद्यमान वे उस समय भी हैं। अतः केवल जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर तो घट को पट और पट को घट कहा जा सकेगा, इसलिए कि उस समय उन दोनों का कोई स्वरूप तो होता नहीं। अतः न्याय्य तो यही है कि सत्तासादनरूप क्रिया को ही प्रवृत्तिनिमित्त माना जाय।

कुछ आचार्य सभी शब्दों की निष्पत्ति धातु से मानते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भी घटनादि क्रिया को ही घटादि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त प्रतिपादित किया है, इसलिए कि चेष्टा आदि के वाचक घट् आदि क्रिया से 'अच्' आदि प्रत्यय के फलस्वरूप ही घट आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा

घट क्रिया ही घट शब्द की प्रवृत्तिनिमित्त हुई। अतः महिमा द्वारा पक्षान्तर का यह उपन्यास व्यर्थ है। अपने मत का उक्त मत से भेद प्रदर्शित करते हुए महिमा का यह कहना है कि ये आचार्य क्रिया को शब्दों का व्युत्पत्तिनिमित्त मानते हैं जब कि वे (महिमा) क्रिया को शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं। व्युत्पत्तिनिमित्त प्रवृत्तिनिमित्त से सर्वथा भिन्न वस्तु है। इसीलिए तो उपाधिवादी आचार्य 'गमन' आदि क्रिया को 'गो' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त मानते हैं और उनके अनुसार गमन आदि क्रिया गो व्यक्तिरूप एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण गोत्व आदि को प्रवृत्तिनिमित्त बनाती है। उनकी इस मान्यता से स्पष्ट है कि प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त सर्वथा भिन्न हैं और इतने पर भी यदि क्रिया को ही प्रवृत्तिनिमित्त मान लिया जाय तो बैठी हुई गाय के लिए, जो गमन क्रिया नहीं कर रही है, 'गो' शब्द का प्रयोग ठीक न होगा। महिमा जिस क्रिया को घट का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं वह घटत्वापत्तिरूपा अथवा सत्तासादनलक्षणा है। इस प्रकार इन्होंने जिस क्रिया को प्रवृत्ति का निमित्त माना है, उसमें घटत्व जाति का भी योग रहता है। अर्थात् वह क्रिया शुद्ध क्रिया नहीं होती अपितु जातिसंश्लिष्ट होती है। अतः गो का भी प्रवृत्तिनिमित्त गोत्वापत्तिरूपा क्रिया-हुई। इस प्रकार महिमा के मत में उक्त दोष के लिए अवकाश नहीं है। उसी प्रवृत्ति निमित्तभूता 'घटत्वापत्ति' क्रिया को लेकर ही 'विपच्य घटो भवति' तथा 'अधिश्रित्य-पाचको भवति' इत्यादि स्थलों में विपाक आदि क्रियाओं में पूर्वकालिकता 'क्त्वा' प्रत्यय का विषय मानी जानी चाहिए।

क्रिया की प्रवृत्तिनिमित्तता से सम्बद्ध उक्त विवेचन अत्यन्त सुष्ठु और वैज्ञानिक है। क्रिया के विशेषणरूप में 'सत्तासादनलक्षणा' पद के उपादान से महिमभट्ट की क्रिया का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो जाता है और उस सत्तासादनलक्षणा क्रिया की व्याप्ति जाति गुण एवं क्रिया में तो हो ही जाती है। साथ ही द्रव्य में भी इसकी व्याप्ति यथाकथञ्चित् स्वीकार की जा सकती है। उनका यह मत तर्कसङ्गत भी प्रतीत होता है, इसलिए कि केवल जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानने पर जाति के नित्य होने से प्रलयकाल में भी (घटत्व पटत्व आदि की) सत्ता बनी रहने से घट, पट आदि का व्यवहार होना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं। उस दशा में घट, पट आदि के व्यवहार्य न होने का एकमात्र कारण है सत्तासादनरूपा क्रिया का अभाव। अतः अन्वयव्यतिरेक से 'सत्तासादनलक्षणा' क्रियारूपा अर्थ को ही शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। साथ ही उनकी इस मान्यता को स्वीकार कर लेने से महाकवियों के अनेक पद्य जो कि अन्यथा सदोष समझे जाते, निर्दोष सिद्ध होते हैं।[1] उनके इस योगदान को व्याख्यानकार ने भी स्वीकार किया है। वे स्पष्ट कहते हैं—

कर्तृभेदविषयां विरुद्धतां क्त्वो निवार्य घटितक्रियाभिधः।
प्रौढ़वादरचनाविचक्षणो लक्ष्यसिद्धिमुदितान् कवीन् व्यधात्॥

सम्भवतः विषय की दुरूहता के कारण किसी भी परवर्ती आलङ्कारिक आचार्य

१. हि० व्य० वि०, पृ० ३७

ने इस विषय पर कुछ नहीं कहा है। इस विषय का विवेचन करने वाले एकमात्र परवर्ती आचार्य मम्मट हैं किन्तु वैयाकरणों के अनन्य भक्त होने के कारण वे महाभाष्यकार का ही अनुगमन करते हैं।

महिमभट्ट के शब्दशक्तिविषयक विचार

प्रकृत प्रबन्ध में स्थान स्थान पर प्रसङ्गतः इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि महिमभट्ट शब्द की केवल एक शक्ति—अभिधा को स्वीकार करते हैं। शब्द की लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्तियाँ उन्हें मान्य नहीं हैं। लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ को वे अनुमानगम्य मानते हैं। शब्द में लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक शक्तियों के निषेधार्थ वे जिस युक्ति का आश्रय लेते हैं वह युक्ति यह है कि लोक में अग्नि रूप एक आश्रय में रहने वाली उसकी दाहकत्व, पाचकत्व एवं प्रकाशकत्व नामक शक्तियाँ दहन पचन एवं प्रकाशन रूप अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते समय एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं, वे सब एक ही समय में स्वतन्त्र रूप से अपना अपना कार्य करती देखी जाती हैं, इसके अतिरिक्त उनके प्रवर्तन में पौर्वापर्य भी नहीं देखा जाता। इसके विपरीत शब्दरूप एक आश्रय में रहने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शक्तियाँ परस्पर सापेक्षभाव से कार्य करती हैं। ये तीनों ही शक्तियाँ एक ही समय में अपना अपना कार्य करती हुई नहीं देखी गयी हैं। अभिधा के विरत हो जाने पर लक्षणा कार्य करती है और दोनों के ही विरत हो जाने पर व्यञ्जना। अतः इन शक्तियों का एक आश्रय में रहना युक्तियों से सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह कि अभिधा का आश्रय तो शब्द है और अर्थान्तर की प्रतीति कराने वाले व्यापार का आश्रय अर्थ है और अर्थ के उस व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव स्वीकार किया ही जाना चाहिए। इस पूर्वपीठिका के साथ वे 'गौर्वाहीकः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि उदाहरणों में लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की अनुमानगम्यता का प्रतिपादन करते हैं।

यहाँ पर दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो यह कि शब्द में शक्त्यन्तर का निषेध कर देने से काव्य एवं नाट्य के अन्तर्गत अर्थान्तर तक क्या अनुमान की पहुँच है? दूसरे यह कि महिमभट्ट का शब्दशक्तियों के निषेध से सम्बद्ध उपर्युक्त तर्क कहाँ तक ग्राह्य हो सकता है। प्रथम प्रश्न के उत्तर में तो यह कहा जा सकता है कि काव्य एवं नाट्य में सभी स्थलों पर अनुमान के द्वारा अर्थान्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती और ऐसा इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में सिद्ध भी किया जा चुका है। अतः अर्थान्तर की प्रतीति के लिए शक्त्यन्तर की कल्पना अपरिहार्य हो जाती है। महिमा का यह कहना कि अभिधा इत्यादि तीन शक्तियों का आश्रय एक नहीं हो सकता, क्योंकि उनके बीच पौर्वापर्य का नियम है तथा वे परस्पर निरपेक्ष होकर कार्य नहीं करती तथा लोक में इनका दृष्टान्त ढूढ़ना समीचीन नहीं प्रतीत होता इसलिए कि जिस प्रकार काव्यगत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों को अलौकिक कहा जाता है, उसी प्रकार क्या काव्यगत शब्द को लौकिक पदार्थों की अपेक्षा अलौकिक नहीं माना जा सकता। काव्य के शब्द न केवल लोक के शब्दों से अपितु शास्त्र एवं इतिहास के शब्दों से भी विलक्षण

माने ही जाते हैं। काव्य और शास्त्र के शब्दों में भेद ही यही है कि शास्त्र में जो कुछ कहा जाता है वही समझा जाता है जबकि काव्य में हम कहते कुछ और हैं, समझा कुछ और जाता है। रही इन शक्तियों के परस्पर निरपेक्ष होकर कार्य करने की बात तो लक्षणा के विषय में तो ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि लक्षणा 'अभिधापुच्छ-भूता' कही गयी है, अभिधा के विरत होने पर ही वह कार्य करती है, किन्तु व्यञ्जना के विषय में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यञ्जना तो अभिधामूला भी होती है, लक्षणामूला भी होती हैं, अतः कहीं वह अभिधा के विरत होने पर कार्य करती है तो कहीं लक्षणा के। इतना ही नहीं, बहुत से स्थलों में तो अभिधा एवं लक्षणा के कार्यारम्भ करने के पूर्व ही व्यञ्जना अपना कार्य आरम्भ कर देती है। क्योंकि अर्थाभिधान में अनुपयोगी, ललित एवं परुष अनुप्रास भी रस के व्यञ्जक होते हैं।[1] दूसरी ओर प्रत्यय, निपातों एवं उपसर्गों तक की व्यञ्जकता का आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।[2] ऐसी दशा में व्यञ्जना को अभिधासापेक्ष कार्यकारिणी कैसे स्वीकार किया जा सकता है। व्यञ्जना का शब्दाश्रितत्व महिमभट्ट के उक्त तर्क से खण्डित नहीं हो पाता और अनुमान की असमर्थता के कारण काव्य, नाट्य में व्यञ्जना की मान्यता अपरिहार्य हो जाती है, अतश्च उनके शब्दशक्तिविषयक विचार परवर्ती साहित्यशास्त्र में गृहीत नहीं हुए। इसके विपरीत उनके विचारों की कटु आलोचना की गई।

---

१. 'येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्' लोचन पृ० ३२४

२. काव्यप्रकाश, पृ० १३०

सप्तम अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबन्ध के विगत छः अध्यायों में महिमभट्ट के काव्यशास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध सभी विचारों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। काव्य के विविध तत्त्वों से सम्बद्ध उनके बहुत से विचार सर्वथा मौलिक और उपादेय रहे हैं, पर साथ ही उनके बहुत से विचार काव्य के लिए अव्यावहारिक अतश्च अग्राह्य रहे हैं। प्रकृत प्रबन्ध में यथास्थान उनके विचारों के उपस्थापन के साथ साथ काव्य एवं काव्यशास्त्र के लिए उनकी अग्राह्यता तथा उपादेयता दोनों का ही सङ्केत किया गया है।

महिमभट्टकृत काव्य का रसपरक लक्षण मौलिक अवश्य है और विश्वनाथ कविराज का काव्य-लक्षण उनके काव्य-लक्षण से बहुत अधिक प्रभावित भी है, किन्तु जैसा कि षष्ठ अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, उनके इस काव्य-लक्षण को स्वीकार करने से काव्य का क्षेत्र अत्यन्त सङ्कीर्ण हो जाता है। अतः मौलिक होते हुए भी वह सर्वथा निर्दुष्ट काव्यलक्षण नहीं कहा जा सकता।

महिमभट्ट का काव्यप्रयोजनविषयक मत भी उनकी मौलिक उद्भावना है। परवर्ती आचार्यों ने उसे काव्य के प्रयोजनों में परिगणित भी किया है। अन्तर केवल इतना है कि वे इसे महिमभट्ट की भाँति काव्य का एकमात्र प्रयोजन नहीं स्वीकार करते।

महिमभट्ट के काव्यहेतुओं के सापेक्षिक महत्त्व से सम्बद्ध विचार भी सर्वथा नये हैं और केवल प्रतिभा तत्त्व को सर्वातिशायी मानने वाले आचार्यों के विचारों की अपेक्षा अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। स्वभावोक्ति अलङ्कार का तो उन्हें संरक्षक ही मानना चाहिए इसलिए कि स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का जो खण्डन कुन्तक ने किया था, महिमभट्ट यदि उसका उचित प्रत्युत्तर न दिए होते तो अलङ्कारशास्त्र में स्वभावोक्ति अलङ्कार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने महिमभट्ट की ही सरणि पर स्वभावोक्ति का लक्षण किया है।

उनका सबसे बड़ा योगदान तो काव्यगतदोषनिरूपण के प्रसङ्ग में दिखायी देता है। यों तो काव्यगतदोषविवेचन के इतिहास का आरम्भ भरत के नाट्यशास्त्र से ही हो जाता है और भामह आदि प्रायः सभी आचार्य उस परम्परा का निर्वाह करते रहे किन्तु दोषदर्शन में जैसी अन्तर्दृष्टि महिमभट्ट की रही है, वैसी किसी भी आचार्य की नहीं रही है। फलस्वरूप उनके दोषविवेचन में जो वैशद्य एवं सौक्ष्म्य परिलक्षित होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सत्य तो यह है कि उनके दोषविवेचन के अनुशीलन के पश्चात् पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती सभी आचार्यों के दोषविवेचन फीके लगते हैं। किसी भी काव्य-खण्ड में दोष की उद्भावना उतना कठिन कार्य नहीं है जितना कि

दोष-परिहार सम्बन्धी सुझाव उपस्थित करना। दोषपरिहार सम्बन्धी महिमभट्ट के सुझाव सर्वथा सराहनीय हैं और इस बात के परिचायक हैं कि वे न केवल उच्चकोटि के समीक्षक थे अपितु मूर्धन्यकोटि के कवि भी थे। दोषपरिहार सम्बन्धी इनके सुझावों को मम्मट जैसे समालोचक ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेते हैं और जहाँ इनसे भूल हुई वहाँ मम्मट भी अपनी ओर से सुझाव देने के बाद भी उस भूल को नहीं सुधार सके। वृत्तानौचित्य विषयक जिन विचारों का प्रतिपादन महिमभट्ट ने किया, उसकी छाप परवर्ती साहित्य पर स्पष्ट दिखायी देती है। उनकी क्रिया की प्रवृत्तिनिमित्तता से सम्बद्ध धारणा सर्वथा मौलिक एवं तर्कसङ्गत है, यद्यपि परवर्ती साहित्य में इसका विवेचन नहीं मिलता। अलङ्कारों की अभिधात्मकता से सम्बद्ध महिमभट्ट के विचार तथा उनके शब्दशक्तिविषयक विचार मौलिक होते हुए भी क्षोदक्षम नहीं हैं। इन सबका विशद विवेचन प्रकृत प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में किया गया है।

महिमभट्ट की काव्यानुमिति के साङ्गोपाङ्ग विवेचन से सम्बद्ध प्रयास सराहनीय अवश्य है, किन्तु जैसा कि प्रकृत प्रबन्ध के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में प्रतिपादित किया जा चुका है, काव्य के लिए उनका यह अनुमितिवाद पर्याप्त नहीं है। रस को तो अनुमितिग्राह्य बताना भ्रान्ति ही है। साथ ही वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनि के भी सभी स्थलों में अर्थान्तर की प्रतीति अनुमान से सिद्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त ध्वनिलक्षणकारिका से सम्बद्ध उनके तर्क कितने निर्बल हैं, इसका भी निर्देश यथा-स्थान किया जा चुका हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महिमभट्ट की प्रतिभा विलक्षण थी। ध्वनिसिद्धान्त जैसे गहन प्रस्थान के खण्डन में प्रसङ्गप्राप्त जिन अवान्तर विषयों पर महिमभट्ट ने प्रकाश डाला, उनमें से अधिकांश परवर्ती साहित्यशास्त्र के लिए अनुपम देयांश सिद्ध हुए। मम्मट, हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ जैसे धुरन्धर आचार्यों ने इनकी मान्यताओं को स्वीकार किया है, यद्यपि काव्यानुमितिवाद के ये आचार्य कट्टर विरोधी हैं। इनके देयांशों का देखते हुए यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यदि वे अपनी इस बहुमुखी प्रतिभा का उपयोग खण्डन में न करके रचनात्मक प्रयास में करते तो उनकी देनों से संस्कृत साहित्यशास्त्र आज कहीं अधिक समृद्ध हुआ होता।

विषय, ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

— —

ग्रन्थ-सूची (ग्रन्थसङ्केत सहित)

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग

अभिधावृत्तिमातृका (मुकुलभट्ट प्रणीता) तथा शब्द-व्यापार-विचार (श्री मद्राजानकमम्मटाचार्य) सम्पादक — मङ्गेश रामकृष्ण तेलङ्ग तुकाराम जावजी, १९१६

अमरकोष

अलंकारसर्वस्व - (अलं० स०) जयरथकृत टीका से युक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९३९

अलंकारसर्वस्व — समुद्रबन्ध की टीका से युक्त त्रावणकोर गवर्नमेण्ट प्रेस १९१५।

अवलोक (दशरूपक की टीका) — धनिक।

आचार्य क्षेमेन्द्र -- डा० मनोहरलाल गौड़, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।

ईश्वर-प्रत्याभिज्ञा-विमर्शिनी - अभिनवगुप्त

उद्योत (काव्यप्रकाश टीका) — नागेश भट्ट १९२९ वासुदेव शास्त्री

उज्जवल नीलमणि—(श्री रूपगोस्वामी) पं० केदारनाथ तुकाराम जावाजी, बम्बई १९१३

एकावली — विद्याधर — कमलाशंकर द्वारा संशोधित १९०३

औचित्यविचारचर्चा — क्षेमेन्द्र — हरिहर प्रकाशन, वाराणसी सं० २०१७

काव्यतत्वसमीक्षा — डा० एन० एन० चोधरी, १९५९

काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र — रसिकलाल सी० पारिख महाबीर जैन विद्यालय, बम्बई १९३८।

काव्यालङ्कार (भामह) प्रो० देवेन्द्र शर्मा विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना १९६२

काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह (उद्भट) — नारायणदास बनहट्टी — पी० जी० पराञ्जप्ये, पूना १९२५

काव्यप्रकाश (का० प्र०) व्याख्याकार — विनायक गरोश आपटे वासुदेव शास्त्री १९२९

काव्यप्रकाश डा० सत्यव्रत सिंह

काव्यमीमांसा अनुवादक — केदारनाथ शर्मा विहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५४

किरातार्जुनीयम् घण्टापथटीकोपेतम् नि० सा० प्रेस तेरहवां संस्करण १९४२

खण्डनखण्डखाद्य (खण्डन०) विद्यासागरी चौखम्बा प्रकाशन

चतुर्भाणी डा० मोतीचन्द्र द्वारा सम्पादित

चित्रमीमांसा सम्पादक—कालिका प्रसाद शुक्ल वनविहार, वाराणसी, १९६५

तर्कभाषा

ध्वन्यालोक (ध्व०) पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, व्याख्याकार डा० रामसागर त्रिपाठी मोतीलाल बनार वाराणसी, १९६३

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त (शोध प्रबन्ध) डा० भोलाशंकर व्यास

ध्वनि सिद्धान्त और उसकी आलोचनायें शोधप्रबन्ध डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय

नाट्यदर्पण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र जी० के० श्री गाडेकर एल० बी० गांधी ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, बदौदा १९२९

नाट्यशास्त्रम् (प्रथम तथा द्वितीय भाग) (ना० शा०) संम्पादक—एम० रामकृष्ण कवि " " १९३४

पदवाक्यरत्नाकरः महामहोपाध्याय श्री गोकुलनाथ भट्टाचार्य, सम्पादक— पी० वी० अनन्ताचार्य सुदर्शन प्रेस कांजीवरं १९०४

परमलघुमञ्जूषा नागेश

प्रदीप (काव्य प्रकाश टीका-गोविन्द भट्ट वासुदेव शास्त्री १९२८

प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ) प्राणशङ्कर त्रिवेदी (कुमारस्वामिविरचित रत्नापण नामक टीका से युक्त)

प्रत्यभिज्ञा-हृदयम् जयदेव सिंह मोतीलाल बनारसीदास १९६३

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २ डा० नगेन्द्र ओरियण्टल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, १९५५

भारतीय साहित्य शास्त्र (भा० सा० शा०) डा० गणेश त्र्यम्बक देशपांडे पापुलर बुक डिपो बम्बई १९६०

भारतीय साहित्य-शास्त्र बलदेव उपाध्याय प्रसाद परिषद्, काशी सं० २०१२

भारतीय संस्कृति और साधना-प्रथम खण्ड महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९६३ (प्रकाशक)

भाव-प्रकाशन शारदातनय के० स० रामास्वामी शास्त्री द्वारा संपादित ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३०

महाभाष्यम् व्याख्याकार के० सी० चटर्जी ए० मुखर्जी कलकत्ता, १९५७

...श महाकाव्यम्	व्याख्याकार श्री हरिगोविन्द	चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९६१
...ङ्गाधर	व्याख्याकार मधुसूदनशास्त्री	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, संस्कृत अनुसन्धान वि० सं० २०२०
रस...ङ्गाधर	व्याख्याकार आचार्य बद्रीनाथ झा तथा मदनमोहन झा	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसो १९५५
रस-सिद्धान्त	डा० नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६४
लोचन (लो०)	अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक की टीका
व्य...विवेक (व्य० वि०)	मधुसूदनोविवृतिः से युक्त	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
व्य...विवेक	व्याख्याकार मधुसूदन मिश्र	१९३६
व्याख्यान (व्या०)	रुय्यक	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज
...ाग्भटालङ्कार)	मुरलोधर शर्मा	श्री व्यंकटेश्वर
...क्तिवाद (गदाधरभट्टा-...ार्य)	हरिनाथ	चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस १९२९ संवत्
...शुपालवध	माघ	
...रस्वतीकण्ठाभरण	जैन प्रभाकर प्रकाशन ११४३ सं०	
...फोटसिद्धिः	भरत मिश्र के० शम्बाशिव शास्त्रो	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज १९२७
स्फोटसिद्धिः	(आचार्य मण्डन मिश्र) शे०कु० रामनाथ शास्त्री	मद्रपुरीय विश्वविद्यालय १९३१
साहित्य-दर्पण (सा० द०)	व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५७
सुवृत्ततिलक	क्षेमेन्द्र	
संङ्गीतरत्नाकर	शाङ्गंदेव	
संस्कृतआलोचना	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९५७
संस्कृत साहित्य का इतिहास	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार	
संस्कृत साहित्य शास्त्र को महिमभट्ट की देन	ब्रजमोहन चतुर्वेदो	(शोध प्रबन्ध)
हलायुध कोष		
हिन्दी व्यक्तिविवेक (हि० व्य० वि०)	व्याख्याकार रेवाप्रसाद द्विवेदी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज १९६४
हिन्दी दशरूपक	भोलाशङ्कर व्यास	,, ,, १९६२
हिन्दी अभिनवभारती (हि०अ० भा०)	संपादक—डा० नगेन्द्र	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६०

25 फरवरी को किताब लिया

हिन्दकी व्यादर्श (दण्डी)	व्याख्याकार रणवीर सिंह	ओरियंटल बुक डिपो, दिल्ली १९५८
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	व्याख्याकार डा० राधेश्याम मिश्र	चौखम्बा प्रकाशन १९६७
हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (का० सू० वृ०)	व्याखयाकार आचार्य विश्वेश्वर	आत्माराम एंड संस, दिल्ली १९५४
हिन्दी काव्यमीमांसा	संपादक—डा० गङ्गासागर राय	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६४
त्रिवेणिका	आशाधर भट्ट द्वारा सम्पादित	जयकृष्णदास गुप्ता वाराणसी १९२५

Books--English

1. Bhoja's Sringara Prakasa (Bhoja's Sri. Pra.) V. Raghvan
2. Indian Aesthetics—K. C. Pande
3. History of Sanskrit Poetics by P. V. Kane
4. History of Sanskrit Poetics—S. K. De
5. Highways and Byways of Literary Criticism.
6. Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit or the theories of Rasa and Dhwani by A. Sankaran
7. Some Concepts of Alamkara Sastra—V. Raghvan.
8. Theory and practice of Hasya Rasa in Sanskrit Drama Thesis by L. R. Singh.

Journals

Annals or Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona

Poona Orientalist.

Journal of Royal Asiatic Society, London.

Journal of the Oriental Research, Madras.

Journal of G. N. Jha Research Institute.

Indian Antiquary.

Journal of Royal Asiatic Society of Bengal.

सुरभारती	संस्कृत विभाग	प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
